NAGRI Pracharini Patrika

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

G. K. V. Lib. HARDWAR

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

110724

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2006
5-1
1949

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५४ संवत् २००६ अंक १

विषय-सूची

गुप्त सम्राट् और विष्णु सहस्रनाम—श्री बहादुरचंद छाबड़ा, एम० ए०, पी-एच० डी० ... १

राम-वनवास का भूगोल—श्री राय कृष्णदास ८

मंडोर—श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ २६

मिश्रबंधुविनोद की भूलें—श्री अगरचंद नाहटा ३२

प्रागैतिहासिक लाट देश—श्री कृष्णटोपणलाल शर्मा जेतली ... ४३

चयन ५५

समीक्षा ६४

विविध ७७

सभा की प्रगति ८६

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक मूल्य १०) : प्रति-अंक २॥)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

निवेदन

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख स्वीकार्य होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है; और उनकी प्रकाशनसंबंधी सूचना एक मास के भीतर भेजी जाती है।

(४) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है; परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

संपादक : कृष्णानंद
सहायक संपादक : पुरुषोत्तम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

110724
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
110724

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[नवीन संस्करण]

वर्ष ५४] संवत् २००६ [अंक १

गुप्त सम्राट् और विष्णुसहस्रनाम

[श्री बहादुरचंद छाबड़ा, एम० ए०, पी-एच० डी०]

पाठकों को आश्चर्य होगा कि विष्णुसहस्रनाम तो एक स्तोत्र है, गुप्त सम्राटों से इसका क्या संबंध हो सकता है ! इसका उत्तर कदाचित् आगे की पंक्तियों से मिल सके। संभव है यह सब मेरी कोरी कल्पना ही हो, तो भी मुझे यह तथ्य इतना सार्थक और सारवत् जान पड़ता है कि मैं इसे एक बार विद्वानों के सामने लाना चाहता हूँ।

यह बात सुविदित है कि कई गुप्त अभिलेखों में जहाँ समुद्रगुप्त को *पृथिव्याम् अप्रतिरथ* कहा है वहाँ उसके पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय को *स्वयं चाप्रतिरथ* कहा गया है। आपाततः इसका यही अर्थ है कि समुद्रगुप्त संसार में अप्रतिरथ था और उसका पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय भी वैसा ही अप्रतिरथ था। दूसरे शब्दों में, *स्वयं* च का और कोई अर्थ नहीं, यह केवल *अपि* का पर्यायवाची है। फ्लीट आदि विद्वानों ने इसका यही अर्थ लिया है। फलतः *स्वयं चाप्रतिरथः* की व्याख्या इसी अर्थ के अनुरूप होती चली आती है। इधर गुप्तकालिक अभिलेखों का सूक्ष्म अध्ययन करते समय मुझे एक बार कुछ ऐसी शंका हुई कि प्रकृत में *स्वयं* का तात्पर्य कुछ और होना चाहिए। जितना ही मैं इसपर सोचता गया उतना ही मेरा संदेह बढ़ता गया। अंत में एक दिन विष्णुसहस्रनाम का पाठ करते हुए मैं सहसा इस श्लोकार्ध पर रुक गया—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिरुद्धोऽप्रतिरथःप्रद्युम्नोऽमितविक्रमः। (श्लोक ६८)

मेरे हृदय में प्रकाश-सा हुआ, और मेरा संशय एकदम छिन्न हो गया। *अप्रतिरथ* भगवान् विष्णु के हजार नामों में से एक है और *स्वयं चाप्रतिरथः* में यही अभिप्रेत है। स्पष्ट है कि *स्वयं* यहाँ *साक्षात्* का पर्यायवाची है, *अपि* या *तथा* का नहीं। *स्वयं* का *साक्षात्* अर्थ में प्रयोग साहित्य और अभिलेखों में प्रसिद्ध भी है, जैसे वेणीसंहार नाटक में—

क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्। (३।३२ ,)

और सिंत्रा प्रशस्ति में—

देवः स्वयं बालमृगाङ्कमौलिः। (एपिग्राफिया इंडिका, १।२८१, पद्य १४)

किंच, प्रकृत में *स्वयं* का अर्थ *साक्षात्* करने पर *अप्रतिरथ* विशेषण नहीं रहता, अपितु संज्ञापद बन जाता है। और हमें यह अभीष्ट भी है। फलितार्थ यह हुआ कि चंद्रगुप्त द्वितीय के वर्णन में जो *स्वयं चाप्रतिरथः* वाक्यांश है उसका तात्पर्य यह है कि चंद्रगुप्त द्वितीय भगवान् विष्णु का अवतार माना जाता था। वह *स्वयं अप्रतिरथ* था, *साक्षात् विष्णु* था।

गुप्त वंश से संबंध रखनेवाले जो अभिलेख आज तक मिले हैं उनसे पता चलता है कि *अप्रतिरथ* का प्रयोग केवल दो नरेशों के संबंध में हुआ है—एक तो समुद्रगुप्त और दूसरे उसके पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय के संबंध में। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय को तो हमने *स्वयं* शब्द के बल पर *अप्रतिरथ* अर्थात् *विष्णु* का अवतार मान लिया है, समुद्रगुप्त को भी वैसा क्यों न मान लें? माना कि उसके पक्ष में *स्वयं* शब्द का अथवा तत्पर्यायवाची किसी *साक्षात्* आदि का प्रयोग नहीं हुआ, केवल *पृथिव्याम्* का ही हुआ है, किंतु *अप्रतिरथ* तो उसे भी कहा ही गया है। ठीक है। मेरा तो अब यही विश्वास है कि समुद्रगुप्त को पहिले *अप्रतिरथ* का अवतार माना गया था, और उसके पुत्र को उसके बाद। *स्वयं चाप्रतिरथः* की यहाँ दी हुई व्याख्या को देखते हुए *पृथिव्यामप्रतिरथः* की व्याख्या भी तदनुरूप ही होनी चाहिए—'भूमिपर विचरने वाला स्वयं अप्रतिरथ', न कि 'संसार भर में निःसपत्न'। समुद्रगुप्त को भी, चंद्रगुप्त द्वितीय के समान, *अप्रतिरथ* रूप में विष्णु का अवतार मानने के संबंध में मैंने आगे चलकर और भी युक्तियाँ उपस्थित की हैं। यहाँ मैं हरिषेण कृत समुद्रगुप्त की प्रशस्ति के उस वाक्य का भी उल्लेख कर देता हूँ जिसमें कवि ने समुद्रगुप्त को देव मानकर ही उसका वर्णन किया है—*लोकसमयक्रियानु-*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधानमात्रमानुषस्य लोकधाम्नो देवस्य[1]। इसमें का *लोकधाम्नो देवस्य*, *पृथिव्यामप्रतिरथस्य* की छाया-सा जान पड़ता है। ये दोनों प्रयोग भूदेव की कोटि के हैं। भूदेव या *भूमिदेव* का शब्दार्थ तो है 'भूमि पर का देव'; पर हैं ऐसे शब्द '*ब्राह्मण*' के पर्यायवाची। वास्तविक देव तो रहते हैं ऊपर स्वर्ग में, और ब्राह्मण भी हैं देव ही, अंतर यही है कि वे स्वर्ग में नहीं, अपितु यहीं भूमि पर विचरते हैं। समुद्रगुप्त के विषय में जो *लोकधाम्नो देवस्य* और *पृथिव्यामप्रतिरथस्य* दो भिन्न प्रयोग हुए हैं वे पर्यायांतर से समानार्थक ही कहे जा सकते हैं। आगे चल कर हम बताएँगे कि देव शब्द भी स्वतंत्र रूप से विष्णु के हजार नामों में से एक है। चंद्रगुप्त द्वितीय का दूसरा नाम जो देवगुप्त या देवश्री है उसमें भी उसी विष्णुवाची देव शब्द की झलक है। हरिषेण-कृत प्रशस्ति में और भी कई ऐसे अंश हैं जो समुद्रगुप्त को विष्णु का अवतार मानने के मत का समर्थन करते हैं। उनका उल्लेख भी हम आगे चलकर करेंगे।

ध्यान रहे कि प्रशस्तिकार जब समुद्रगुप्त को अथवा चंद्रगुप्त द्वितीय को *अप्रतिरथ* कहकर विष्णु का अवतार घोषित करता है तो उसका लक्ष्य विष्णु का वही विशिष्ट रूप होता है जो उक्त संज्ञापद से ध्वनित होता है। अथवा यों कहिए कि *अप्रतिरथ* शब्द के प्रकृत में दो अर्थ हैं, एक तो 'विष्णु का नाम' और दूसरा उसका यौगिक अर्थ—'वह जिसके आगे कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं ठहर सकता'। प्रशस्तिकार को अपने प्रतिपाद्य विषय के लिये दोनों अर्थ अभीष्ट हैं।

गुप्त वंश के इतिहास से परिचित विद्वानों को समुद्रगुप्त एवं चंद्रगुप्त द्वितीय को कवि-कल्पित विष्णु का अवतार मानने में कोई आपत्ति न होगी। गुप्तवंशी सम्राट् विष्णु के परम भक्त थे, यह विख्यात ही है। किंच, चंद्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त प्रथम का जो वर्णन उसके सिंहमर्दन प्रकार वाले सिक्कों पर मिलता है उससे उसका विष्णु का अवतार होना सिद्ध ही है—

१—फ्लीट द्वारा संपादित गुप्त-अभिलेख-संग्रह, पृ० ८, पंक्ति २८। उक्त वाक्य की ओर ध्यान डा० अनंत सदाशिव जी अल्तेकर ने न्यूमिज्मैटिक सोसायटी ऑव इंडिया की पत्रिका (जिल्द ६, पृ० १३७–४५) में प्रकाशित मेरे प्रस्तुत विषय के अंग्रेजी के लेख में टिप्पणी के रूप में आकर्षित किया है। इसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साक्षादिव नरसिंहो सिंहमहेन्द्रो जयत्यनिशम्[३] ।

इस मुद्राभिलेख में कुमारगुप्त प्रथम को स्पष्ट ही *साक्षात् नरसिंह* कहा गया है[१]। यहाँ कवि का लक्ष्य प्रधानतया विष्णु की *नारसिंह वपुष्*[४] मूर्ति पर है, और यह मुद्रा पर अंकित दृश्य में नर और सिंह के होने से समंजस प्रतीत होता है। कुमारगुप्त प्रथम का उपनाम *महेंन्द्र* है, मुद्रा पर के सिंह के साहचर्य से इसे भी अभिलेख में *सिंह महेन्द्र* का रूप दिया गया है। कवि की प्रतिभा सर्वत्र नाम और रूप पर क्रीडा-सी करती दिखाई देती है।

यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि उक्त सभी उदाहरणों में उपासक का जो उपास्य देव से तादात्म्य दिखाया गया है वह केवल कवि-कल्पित अथवा आलंकारिक है, तात्त्विक अथवा ऐतिहासिक नहीं। इसका प्रयोजन भक्त की उसके इष्टदेव के प्रति उत्कट भक्ति दिखाना ही है।

हमने चर्चा चलाई थी चंद्रगुप्त द्वितीय की। इतिहास में यह *परमभागवत* प्रसिद्ध है। अर्थात् यह विष्णु का परम भक्त था। हाल ही में भरतपुर राज्य में बयाना से जो सुवर्ण मुद्राओं की उपनिधि मिली है उसमें चंद्रगुप्त द्वितीय की एक अपूर्व मुद्रा प्राप्त हुई है। डा० अल्तेकर ने इस प्रकार की मुद्रा को चक्र*विक्रम* नाम दिया है[५]। इस नाम की मीमांसा हम आगे चलकर करेंगे। इस मुद्रा में सामने की ओर जो दृश्य अंकित है वह अत्यद्भुत है। डा० अल्तेकर के शब्दों में इसमें "चंद्रगुप्त द्वितीय विष्णु

२—एलन की पुस्तक गुप्त कॉयन्स पृ० ७२–८, फलक १४, चित्र १–५।

३—पद्य में *साक्षात्* के आगे जो *इव* रखा गया है उससे विवक्षित रूपकालंकार में शिथिलता नहीं आती, प्रत्युत उसमें जो उत्प्रेक्षा का अंश है उसकी स्पष्ट प्रतीति होती है। काव्य में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ *साक्षात्*, *इव* और *स्वयं* तीनों का वाक्य में प्रयोग हुआ है और वे तीनों एक ही भाव की पुष्टि करते हैं। इसका एक उत्तम उदाहरण आदि कवि वाल्मीकि-कृत रामायण में मिलता है जहाँ (अयोध्याकांड, अध्याय २, श्लोक ४३) राम के वर्णन में कहा है—

सुभ्रूरायतताम्राक्षः साक्षाद्विष्णुरिव स्वयम् ।

४—विष्णुसहस्रनाम, श्लोक ३—*नारसिंहवपुःश्रीमान् केशवः पुरुषोत्तमः* ।

५—एन्-एस्-आइ पत्रिका, जिल्द ८, पृ० १८२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से एक दिव्य उपहार प्राप्त कर रहा है"[६]। उक्त सभी प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय विष्णु का अत्यंत भक्त और अत्यंत प्रसादपात्र था। इसलिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उसके आश्रित कवि और कर्मचारी उसके अभिलेखों में उसे विष्णु की पदवी देते थे। इससे यह भी इंगित होता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय को जो सिद्धि और उन्नति, विजय और अभ्युदय आदि संपत्तियाँ प्राप्त थीं उन्हें वह विष्णु की कृपा ही समझता था। उदात्त कार्यों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा उसे अपने इष्टदेव विष्णु से ही मिलती थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि चंद्रगुप्त द्वितीय का दिव्य अथवा वैष्णव प्रभाव सर्वत्र विख्यात हो गया था। इसकी प्रतिध्वनि हमें ग्वालियर राज्य में मंदसोर से प्राप्त एक बौद्ध शिलालेख में भी मिलती है। इस लेख का काल मालव संवत् ५२४ है, जब चंद्रगुप्त द्वितीय का देहांत हुए करीब ५० साल हो चुके थे। अभिलेख में चंद्रगुप्त द्वितीय यों उपवर्णित है—*गोविन्दवत् ख्यातगुणप्रभावः*[७]।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, चंद्रगुप्त द्वितीय का एक दूसरा नाम देवश्री था। यह नाम उसकी कई सुवर्ण मुद्राओं पर पाया जाता है—*देवश्रीमहाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तः*[८]। नाम कुछ विचित्र है सही, परंतु ऊपर की चर्चा से इसका रहस्य समझना भी सुगम हो गया है। इसका अर्थ अब हम 'विष्णु के ऐश्वर्यवाला' करें तो अनुचित न होगा। हम कह चुके हैं कि देव भी विष्णु का एक स्वतंत्र नाम है जो विष्णुसहस्रनाम में इस प्रकार आता है—

उद्भवः क्षोभणो देवः श्रीगर्भः परमेश्वरः। (श्लोक ४१)

श्लोकगत *श्री* का स्थान भी ध्यान देने योग्य है। उसका देव के समनंतर ही आना मानो *देवश्री* नामकरण का हेतु है। *देवगुप्त* और *देवराज* नाम भी जो चंद्र-

---

६—उक्त सुवर्ण मुद्रा का पूरा-पूरा विवरण तो तभी मिलेगा जब कि बयाना उपनिधि का विस्तृत सूचीपत्र छपेगा। इलस्ट्रेटेड वीकली ऑव इंडिया पत्रिका के फर्वरी २२, १९४८ अंक में भी डा० अल्तेकर ने बयाना उपनिधि के कुछ मुख्य-मुख्य सिक्कों का वर्णन किया है। वहाँ उन्होंने चक्रविक्रम प्रकार की मुद्रा का एक परिवर्द्धित चित्र भी दिया है। चित्र में विष्णु और चंद्रगुप्त द्वितीय आमने-सामने खड़े हैं। भगवान् कुछ दे रहा है और भक्त ले रहा है।

७—अभिलेख एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २७, भाग १ में संपादित हो चुका है।

८—गुप्त कॉयन्स, पृ० २४–३४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुप्त द्वितीय के ही नामांतर हैं, इसी व्याख्या से स्पष्ट हो जाते हैं। इनमें के देव का अर्थ *विष्णु* ही लें तो अधिक संगत होगा।

चंद्रगुप्त द्वितीय की महिमा का जब हम ऐसा गुणगान सुनते हैं तो हमें विश्वास होता है कि वह अवश्य एक उदात्त चरित्र का पुरुष था। ऐसी अवस्था में उसपर जो ऐसे दोष लगाए जाते हैं कि उसने अपने भाई का वध किया, उसकी स्त्री से विवाह कर लिया और उसका राज्य दबा लिया, इत्यादि[१], उनपर हमारी अश्रद्धा होना स्वाभाविक ही है। जिन प्रमाणों के आधार पर चंद्रगुप्त द्वितीय पर घोर कलंक लगाए जाते हैं उनकी फिर एक बार छानबीन होनी चाहिए। चंद्रगुप्त द्वितीय जैसे सच्चरित्र व्यक्ति द्वारा वैसे पापों का होना नितांत असंभाव्य है।

अस्तु, हम फिर विष्णुसहस्रनाम की ओर आते हैं। जब मेरा अप्रतिरथ-विषयक संशय निवृत्त हो गया तो मुझे यह सूझा कि इस स्तोत्र में गुप्त इतिहास संबंधी और भी सामग्री होनी चाहिए। आदि में हमने जो श्लोकार्ध उद्धृत किया है (*अनिरुद्धोऽप्रतिरथ : प्रद्युम्नोऽमितविक्रमः*) उसमें का *अमितविक्रम* पद कुछ परिचित सा जान पड़ा। इससे गुप्त सुवर्णमुद्राओं पर के अभिलेखों में आने वाले *अजितविक्रम* आदि पदों की स्मृति उद्बुद्ध हो उठी। इस दृष्टि से मैंने स्तोत्र को फिर कई बार पढ़ा और मुझे बहुत सी उपयोगी सामग्री मिली। विशेष कर कई गुप्त राजाओं के नामों और उपनामों के विषय में मुझे नाना शंका हुआ करती थी, उन सबका विष्णुसहस्रनाम से निराकरण हो गया। उनका कुछ ब्योरा दे देना यहाँ अनुपयुक्त न होगा।

गुप्त—सबसे पहिले गुप्तवंशीय आदिराज गुप्त को ही लें। इस नाम पर बहुत कुछ ऊहोपाह होता रहता है। कई इसे *गुप्त* ही कहते हैं तो कई इसे *श्रीगुप्त* सिद्ध करते हैं। *श्रीगुप्त* के पक्ष वालों की युक्ति यह है कि *गुप्त* पद पुरुषनाम का उत्तर पद ही हो सकता है, स्वतंत्र रूप से पुरुषनाम नहीं हो सकता। दूसरे पक्ष-वालों ने इधर उधर से एक दो उदाहरण ऐसे ढूँढ़ निकाले हैं जिनसे गुप्त पद स्वयं पूर्ण पुरुष-नाम माना जा सकता है। है यही मत सही, परंतु इसकी पुष्टि में जैसा प्रमाण विष्णुसहस्रनाम से मिलता है वैसा कदाचित् और कहीं से भी न मिल सकेगा—

१—यहाँ रामगुप्त की कहानी की ओर संकेत है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुह्यो गभीरो गहनो गुप्तश्चक्रगदाधरः । (श्लोक ५८)

गुप्त पूरा नाम है या अधूरा, इस तर्क के अतिरिक्त कई विद्वानों ने इससे और कई प्रकार के परिणाम निकाले हैं—गुप्तवंशी राजाओं की जाति क्या थी, समाज में उनका क्या स्थान था, उनका मूल क्या था, इत्यादि। दि कैंब्रिज शॉर्टर हिस्ट्री ऑव् इंडिया[१०] के रचयिताओं ने तो यहाँ तक कह डाला है कि चाहे जो भी हो, गुप्त नाम से किसी नीच जाति का बोध होता है। कैसा अंधेर है!

ऊपर उद्धृत श्लोकार्ध में हमने देखा है कि *गुप्त* स्वयं भगवान् विष्णु का एक नाम है। और इसका जो अर्थ होना चाहिए वह श्लोकगत *गुह्य*, *गभीर* और *गहन* नामों के साहचर्य से स्पष्ट ही है। इन चार नामों में ईश्वर की जिस गूढ़ रहस्यमयी प्रकृति की ओर संकेत है उसका वर्णन उपनिषदों में इन शब्दों में मिलता है—*आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्* ।

अब यह सिद्ध है कि गुप्त वंश के वंशकर्त्ता का नाम गुप्त था। इससे जाति आदि के विषय में अनुमान लगाना अन्याय्य है। ऐसे अनुमान तो तभी उपयुक्त कहे जा सकते हैं जब गुप्त पद पुरुषनाम का उत्तर पद हो। और यतः उत्तरवर्ती गुप्तवंशीय राजाओं ने अपने नामों के पीछे उत्तर पद के रूप में अपने वंशकर्ता *गुप्त* का नाम जोड़ा है, अतः इस गुप्त शब्द को उस *गुप्त* शब्द से भिन्न समझना चाहिए जो वैश्य जाति का द्योतक माना जाता है और जिसका पर्याय *पालित* भी कभी कभी प्रयुक्त होता है। स्मृतियों से यह सिद्ध ही है कि ब्राह्मण अपने नामों के पीछे *शर्मा*, क्षत्रिय *वर्मा* और वैश्य *गुप्त*, *पालित* आदि शब्दों का प्रयोग किया करते थे, और कई अंशों में अब भी करते हैं। इस प्रकार विष्णुवाचक गुप्त शब्द और जातिव्यंजक गुप्त शब्द पृथक् पृथक् हैं। मेरे विचार में यह भिन्नता बड़े महत्त्व की है और गुप्तवंशी राजाओं की जाति आदि के विषय में विमर्श करते समय इसका अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

हमने अभी कहा है कि उत्तरवर्ती गुप्तवंशीय राजाओं ने अपने नामों के पीछे उत्तर पद के रूप में अपने वंशकर्ता *गुप्त* का नाम जोड़ा है। यह प्रथा गुप्त के पौत्र चंद्रगुप्त प्रथम से चली हुई मानी जाती है। गुप्त के पुत्र घटोत्कच को सर्वत्र

१०—सन् १९३४, पृ० ८८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटोत्कच ही कहा गया है, उसे किसी अभिलेख में घटोत्कच गुप्त नहीं कहा गया[११]। किंच, घटोत्कच नाम भी दूसरे नामों की अपेक्षा कुछ विलक्षण-सा जान पड़ता है। यह बात अब सभी मानते हैं कि गुप्तवंशियों की जो वास्तविक समृद्धि हुई, वह चंद्र से आरंभ हुई थी जिसे हम चंद्रगुप्त प्रथम कहते हैं। जहाँ इसके पिता घटोत्कच और पितामह गुप्त को केवल महाराज की पदवी दी गई है वहाँ चंद्रगुप्त प्रथम को तथा उसके उत्तरवर्ती नरेशों को महाराजाधिराज का पद दिया गया है। दूसरे शब्दों में, पहिले जो साधारण सा राज्य था, चंद्रगुप्त प्रथम के समय से वह एक विशाल साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया। तब उस बढ़ती हुई प्रभुशक्ति के अनुरूप सारे राज्यतंत्र में एक परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव हुआ। कदाचित् इसी प्रक्रिया में यह भी उचित समझा गया कि सम्राट् का नाम भी प्रभावशाली एवं किसी विशेष नियम के अनुकूल हो। जान पड़ता है कि गुप्त घराने में शुरू से ही विष्णु की, कुल-देवता के रूप में, पूजा होती आई थी और गुप्त राज्य की जो दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति हुई उसका मूल कारण भगवान् विष्णु की कृपा ही समझी गई थी। इस विचार से गुप्त नाम को विशेष महत्ता दी गई और तब से सम्राटों के नाम गुप्तांत रखने का निश्चय किया गया। इससे दो कार्य सिद्ध हुए—एक तो इष्टदेव गुप्त अर्थात् विष्णु के प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन हुआ, जिसकी कृपा से उनका अभ्युदय हुआ था; दूसरे अपने वंशज गुप्त का नाम उज्ज्वल हुआ और उसके प्रति सत्कार का प्रदर्शन, जिसने उस साम्राज्य का मानो बीजारोपण किया था जो चंद्रगुप्त प्रथम के समय में फलने फूलने लगा था। यह है मेरी समझ में घटोत्कच के नाम का अगुप्तांत रह जाने का कारण। गुप्त ने राज्य की नींव डाली और उसके पोते ने उसे चार चाँद लगा दिए। घटोत्कच बेचारा न तीन में न तेरह में। रही उसके नाम की विलक्षणता, उसपर विष्णुसहस्रनाम से अवश्य कुछ प्रकाश पड़ता है। घटोत्कच में दो शब्द हैं—घट और

११—श्री राखालदास बनर्जी ने अपनी पुस्तक एज ऑव दि इंपीरियल गुप्ताज में पृष्ठ ३ पर इसे जो घटोत्कचगुप्त कहा है वह भ्रममूलक है। गुप्त के पुत्र घटोत्कच का नाम गुप्तांत नहीं था। हाँ, इसी वंश के पीछे के दो वंशजों का नाम घटोत्कचगुप्त अवश्य था परंतु वे सम्राट् या राजा नहीं थे। द्रष्ट० एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २६, पृष्ठ ११६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्कच। इनमें का पहिला *कुम्भ* का पर्यायवाची है, और *कुम्भ* विष्णु का नाम भी है जो स्तोत्र में आता है—

अर्चिष्मान् अर्चितः कुम्भो विशुद्धात्मा विशोधनः। (श्लोक ६८)

समुद्र—समुद्रगुप्त का नाम वास्तव में *समुद्र* मात्र है और पुरुषनाम के रूप में समुद्र शब्द भी अप्रसिद्ध सा है। समुद्रगुप्त के नाम की व्याख्या में कई प्रकार की कल्पनाएँ की गई हैं।[१२] परंतु विष्णुसहस्रनाम से यह गुत्थी भी आसानी से सुलझ जाती है। *अपान्निधि* और *अम्भोनिधि* जो *समुद्र* के पर्याय हैं, विष्णु के ही नाम हैं (श्लोक ३५ और ५५)। इसी प्रकार *चन्द्र*, *कुमार*, *स्कन्द* प्रभृति को भी, जो गुप्त नरेशों के नाम हैं और जो आपाततः *चंद्रमा कार्तिकेय* आदि के वाचक हैं, प्रकृत में विष्णु के ही नाम समझना चाहिए। विष्णु के हजार नामों में *सोम*, *गुह*, *स्कन्द* आदि नामों का समावेश है ही (श्लोक ५४, ४१ और ३६), पुरु अथवा पुरू नाम[१३] भी विष्णु के पुरुसत्तम[१४] नाम पर रखा हुआ जान पड़ता है (श्लोक ५४)। नामकरण की यह विष्णुपरक प्रवृत्ति गुप्त महादेवियों अर्थात् पटरानियों के नामों में भी इसी प्रकार मिल सकती है। *कुमारदेवी* और *चन्द्रदेवी* नाम तो अब स्पष्ट ही हैं। *ध्रुवदेवी*, *अनन्तदेवी*, और *मित्रदेवी* में भी विष्णु के *ध्रुव*, *अनन्त* और *सूर्य* नामों की छाया प्रतीत होती है (श्लोक

१२—श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने *समुद्रगुप्त* को नाम न मानकर उपाधि बताया है और इसकी व्याख्या की है 'सागर से परिरक्षित' (देखिए उनकी हाल ही में प्रकाशित पुस्तक 'द गुप्ता एंपायर', मुंबई १९४७, पृष्ठ १७)। इस व्याख्या के अनुसार *गुप्त* पद *समुद्रगुप्त* का अभेद्य अंश है।

१३—*पुरुगुप्त* अथवा *पुरूगुप्त*। कई विद्वान् इसे भ्रम से *पुरगुप्त* समझते रहे हैं।

१४—अंग्रेजी के लेख में भी मैंने *पुरुसत्तम* ही लिखा था, परंतु छपा है वहाँ *पुरुषोत्तम*। जान पड़ता है यह परिवर्तन संपादक ने किया है। हो सकता है कि संपादक के पास स्तोत्र का जो संस्करण है उसमें वैसा ही पाठ हो। परंतु यथार्थ पाठ *पुरुसत्तम* ही है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

सोमपोऽमृतपः सोमः पुरुजित्पुरुसत्तमः।
विनयो जयः सत्यसन्धो दाशार्हः सात्वतां पतिः॥

पाठ *पुरुसत्तम* ही प्रामाणिक है, यह श्री शंकराचार्य कृत व्याख्या तथा महाभारत के अन्यान्य संस्करणों से सिद्ध है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६, ७० और ६४)। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि विष्णु के नामों में कई ऐसे हैं जो अधिकतर सूर्यवाची हैं—जैसे *आदित्य*, *अर्क*, *भानु*, *रवि*, *सविता*, *सूर्य*, इत्यादि। इनमें का *आदित्य*, गुप्त उपनामों में अति प्रसिद्ध है।

क्रम—उपनामों में चंद्रगुप्त द्वितीय का उपनाम *विक्रमादित्य* तो सब जानते ही हैं, परंतु स्कंदगुप्त और कुमारगुप्त द्वितीय का जो *क्रमादित्य* उपनाम है वह इतना प्रसिद्ध नहीं। किंच *विक्रम*, *पराक्रम* आदि शब्द तो सुप्रचलित हैं, परंतु केवल *क्रम* शब्द का प्रयोग कम ही देखने में आता है। यहाँ भी विष्णुसहस्रनाम हमें यह बताता है कि *क्रम* शब्द भी *विक्रम* आदि की ही कोटि का है, और जैसे *विक्रम* विष्णु का नाम है वैसे ही *क्रम* भी उसी का नाम है—

ईश्वरो विक्रमी धन्वी मेधावी विक्रमः क्रमः। (*श्लोक* ६)

कुमारगुप्त प्रथम की मुद्राओं पर उसके कई उपनाम मिलते हैं, जैसे—*महेन्द्र*, *अजितमहेन्द्र*, *महेन्द्रसिंह*, *सिंहमहेन्द्र*, *महेन्द्रकुमार* इत्यादि। क्या यह कौतुकास्पद नहीं कि इनमें जितने भी शब्द आते हैं वे सभी विष्णु के ही नामांतर हैं?—*महेन्द्र*, *अजित*, *सिंह* और *कुमार*! पहिले तीन तो अविकल रूप में ही मिलते हैं (श्लोक २९, ५९, और २२), और अंतिम, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, स्कन्द, *गुह*, आदि के रूप में।

समुद्रगुप्त के उपनामों में जो *पराक्रम*, *पराक्रमाङ्क*, *कृतान्तपरशु* आदि उपाधियाँ मिलती हैं उनमें भी विष्णु की *सत्यपराक्रम*, *खण्डपरशु* आदि संज्ञाएँ प्रतिध्वनित जान पड़ती है (श्लोक २३, ३१, और ६१)।

चक्रविक्रम—यह उपसंज्ञा या उपाधि चंद्रगुप्त द्वितीय की है और जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, यह हाल ही में उपलब्ध सुवर्णमुद्राओं में से एक प्रकार की मुद्रा पर मिलती है। इसमें *विक्रम* पद होने से निश्चित ही यह चंद्रगुप्त द्वितीय की कही जा सकती है। परंतु इसका पूर्वपद *चक्र*, और इसके संयोग से *चक्रविक्रम* उपनाम का बनना आश्चर्यकर है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस मुद्रा पर *चक्रविक्रम* के अतिरिक्त और कोई अभिलेख नहीं है। मूर्तियाँ हैं, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं। *चक्रविक्रम* पदवी का स्पष्टीकरण भी विष्णुसहस्रनाम में मिलता है, और वह भी बहुत सुंदरता से —

अरौद्रः कुण्डली चक्री विक्रम्यूर्जितशासनः। (*श्लोक* ९७)

साथ साथ पड़े हुए *चक्री* और *विक्रमी* से किस प्रकार *चक्रविक्रम* पद का दोहन किया गया है! इस प्रकार का दोहन हम ऊपर देव*श्री* के संबंध में भी देख आए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुमारगुप्त प्रथम की *अजितमहेन्द्र* और *सिंहमहेन्द्र* उपाधियों के समान चंद्रगुप्त द्वितीय की भी दो उपाधियाँ थीं—*अजितविक्रम* और *सिंहविक्रम*। इसमें की पहिली हमें विष्णु के *अमितविक्रम* नाम की याद दिलाती है, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

स्कंदगुप्त की धनुर्धारी प्रकार की मुद्राओं पर उसे *सुधन्वा* (अभिलेखों में *सुधन्वि* अथवा *सुधन्वी* पढ़ा गया है) कहा गया है। यहाँ भी विष्णु के *धन्वी* और *सुधन्वा* नामों का अनुकरण किया जान पड़ता है।

अंत में हम फिर एक बार *अप्रतिरथ* पर दृष्टि डालते हैं जिससे हमने चर्चा आरंभ की थी। अभिलेखों में तो यह उपमा समुद्रगुप्त और उसके पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय दोनों को दी गई है, परंतु जहाँ तक मुद्राओं का संबंध है, यह अभी तक समुद्रगुप्त ही को मिली है। उसकी धनुर्धारी प्रकार की मुद्राओं की पिछली ओर केवल *अप्रतिरथ* लिखा है, और सामने की ओर एक तो है नाम *समुद्र* (अविभक्तिक) जो राजमूर्ति की भुजा के नीचे लिखा है और जिससे मुद्रा की पहिचान होती है कि यह समुद्रगुप्त की ही है, दूसरे वृत्तबद्ध यह अभिलेख--*अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैर्दिवं जयति*। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि *जयति* क्रियापद का कर्ता केवल *अप्रतिरथः* ही है। और इस अवस्था में वह संज्ञापद है, विशेषण नहीं। पास पड़ा *समुद्र* शब्द वृत्तगत वाक्य से संबद्ध नहीं। एक तो वह वृत्त के बहिर्भूत है, दूसरे अविभक्तिक है और तीसरे उसकी सार्थकता मुद्रापरिचायक चिह्न तक सीमित है। कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ समुद्रगुप्त में अप्रतिरथ रूप विष्णु का अध्यारोप किया गया है। इस सारूप्य को ध्यान में रखते हुए, समुद्रगुप्त के वर्णन में अभिलेखों में लिखे *पृथिव्यामप्रतिरथ* की व्याख्या यदि ऐसी की जाय कि 'जो भूमि पर विचरने वाला साक्षात् अप्रतिरथ है' तो कोई आपत्ति न होगी। यहाँ मैं इतना और कह दूँ कि चंद्रगुप्त द्वितीय की पुत्री, वाकाटक सम्राट् रुद्रसेन की अग्रमहिषी प्रभावती गुप्ता अपने ताम्रशासनों में केवल अपने पिता को ही *पृथिव्यामप्रतिरथ* कहती है।

समुद्रगुप्त की इलाहाबाद वाली प्रशस्ति में ध्यान से देखा जाय तो पता लगेगा कि कवि ने बड़ी चतुराई से अपने उपजीव्य सम्राट् का जहाँ तहाँ उसे विष्णु का अवतार मानकर वर्णन किया है। एक दो उदाहरण तो हम देख ही चुके हैं, कुछ और भी देख लीजिए—*पराक्रमाङ्कस्य* (पंक्ति १७); *अचिन्त्यस्य* (पंक्ति २५)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्यान रहे कि अचिन्त्य भी विष्णु का एक नाम है (श्लोक २५)। किंच, समुद्रगुप्त के वर्णन में जो *साध्वसाधूदयप्रलयहेतुपुरुषस्य* कहा गया है उसमें तो स्वयं भगवान् के इस वाक्य को ही पर्यायांतर से दुहराया गया है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ४, श्लोक ८)

अलमतिविस्तरेण ! सरसरी तौर पर मेरे ध्यान में जो आया सो मैंने लिख दिया है। मेरा विश्वास है कि इतिहास के मार्मिक विद्वान् विष्णुसहस्रनाम के सम्यक् परीक्षण से गुप्त इतिहास पर प्रकाश डालने वाली और भी बहुत सी उपयुक्त सामग्री ढूँढ़ निकालेंगे।

विष्णुसहस्रनाम की प्राचीनता को देखते हुए कोई इतिहास-प्रेमी इसके प्रति मंदादर नहीं होगा। इसकी प्राचीनता इसी से सिद्ध है कि यह महाभारत का एक अंग है। ऊपर की चर्चा से यह अवश्य ही स्पष्ट हो गया होगा कि गुप्त घराने में इस स्तोत्र का समुचित आदर था। कदाचित् गुप्त परिवार के सभी स्त्री-पुरुष इसका प्रतिदिन पाठ करते रहे होंगे। गुप्त-साम्राज्य की उन्नति के साथ साथ इसकी लोकप्रियता भी बढ़ती रही होगी। यह तो हम जानते ही हैं कि चंद्रगुप्त द्वितीय के समय से भागवत संप्रदाय का बड़ा प्रचार और विस्तार हुआ। चंद्रगुप्त द्वितीय को अभिलेखों में *परमभागवत* कहा है। किंतु यह न समझना चाहिए कि भागवत-धर्म गुप्तों में चंद्रगुप्त द्वितीय से ही चला है। वास्तव में इसकी सत्ता तो आरंभ से ही थी—ऊपर की चर्चा से हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं। चंद्रगुप्त द्वितीय के समय में आकर भागवत धर्म ने एक विराट् रूप धारण किया और इसका श्रेय बहुत कुछ चंद्रगुप्त द्वितीय को ही है।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

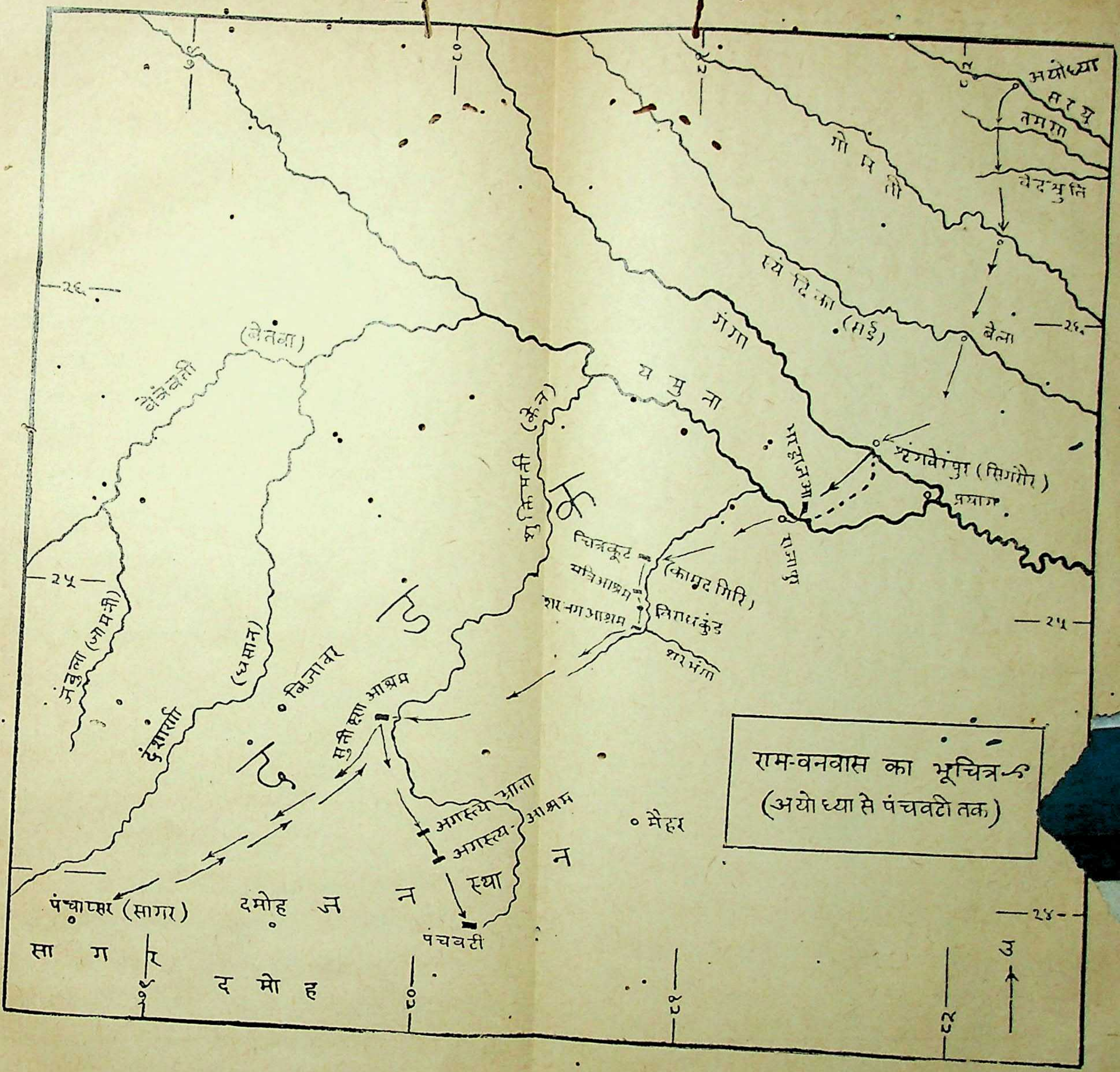

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम-वनवास का भूगोल[1]

(अयोध्या से पंचवटी तक)

श्री राय कृष्णदास

१—राम-वनवास के पहले दो पड़ावों की, जहाँ तक वे रथ पर आए, भौमिक स्थिति असंदिग्ध है। अयोध्या से चलकर वे तमसा (पूरबी टोंस) के तट पर आकर टिक गए, जो वहाँ से लगभग १२ मील है। अयोध्या से उनके निकलते निकलते दिन काफी बीत चुका था और पुरवासियों की एक भीड़ उनके साथ थी, अतः इसके आगे वे न जा सकते थे। यहाँ से वे रातोंरात गुपचुप आगे बढ़े कि अयोध्यावाली भीड़ जो उस समय सोई हुई थी, उनका साथ न पकड़ सके। उनका रथ निरंतर चलता गया। मार्ग में उन्होंने वेदश्रुति (=बिसुई; टोंस से लगभग १० मील), गोमती (वेदश्रुति से १५ मील) तथा स्यंदिका (=सई; गोमती से २० मील) नदियाँ पार कीं। यह स्यंदिका (वर्तमान बेला प्रांत, जिला परताबगढ़) कोसल जनपद की प्राकृतिक दक्षिणी सीमा थी। वहाँ गद्गद हृदय से राम ने

---

१ क—राम-वनवास का संपूर्ण भूगोल तीन लेखों में समाप्त हुआ है। अयोध्या से लंका तक के विस्तृत मार्ग को विषय-विमर्श की सुविधा के लिये तीन खंडों में विभक्त किया गया है—(१) अयोध्या से पंचवटी तक, (२) पंचवटी से ऋष्यमूक तक, (३) ऋष्यमूक से लंका तक। प्रथम खंड का भूगोल प्रस्तुत लेख का विषय है; द्वितीय के लिये द्रष्टव्य—ना० प्र० पत्रिका, भाग ५२ अंक ४। तृतीय खंड का भूगोल यथा समय पत्रिका में प्रकाशित होगा।

ख—वाल्मीकि रामायण की वाचनाओं की दो प्रमुख धाराएँ देश में प्रवाहित हैं—एक उत्तर भारत की, दूसरी दक्षिण भारत की। इन दोनों की अवांतर वाचनाएँ कई हैं। प्रस्तुत लेख में उत्तर भारतवाली की प्रतिनिधि बंगाल वाचना ली गई है और दक्षिण भारतवाली की महाराष्ट्र वाचना। बंगाल वाचना के लिये गोरेसियो नामक इताली विद्वान् द्वारा लगभग सौ वर्ष पूर्व प्रकाशित संस्करण का उपयोग किया गया है तथा महाराष्ट्र वाचना के लिये निर्णयसागर प्रेस द्वारा प्रकाशित संस्करण का।

संकेत—बं० रा० = बंगाल रामायण ; मुं० रा० = मुंबई रामायण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोसल से बिदा ली और बिना रुके ही अपराह्न में शृंगवेरपुर (=सिंगरौर, जिला इलाहाबाद) पहुँचे जो बेला से लगभग ३५ मील दक्खिन, प्रयाग के उस पार गंगा के उन्नत उत्तरी कगार पर स्थित था। आज का सिंगरौर इसी के पास बसा था जिसे गंगा एक प्रकार से बहा ले गई हैं। प्राचीन बस्तियों के अवशेष इसके आस-पास आज भी दिखाई देते हैं।

राम ने उस दिन रात्रिशेष से दिन के उत्तरार्ध तक लगभग ८० मील तय किए। यतः यहाँ तक रथमार्ग था, अतः घोड़ों की डाक का प्रबंध रहा होगा और स्थान स्थान पर (यथा वेदश्रुति, गोमती और स्यंदिका पर) घोड़े बदले गए रहे होंगे।

२—'शृंगवेरपुर' पहुँच कर राम उसमें प्रविष्ट नहीं हुए। इसी से वाल्मीकि ने उनका 'शृंगवेरपुरं प्रति'[२] जाना लिखा है। वनवास वाले बरसों में उन्होंने कभी नगर-प्रवेश नहीं किया; शृंगवेरपुर की भाँति किष्किंधापुरी और लंकापुरी के भी बाहर ही रहे। शृंगवेरपुर के स्वामी निषादराज गुह उनके सखा थे, जिनके स्नेह को ही उन्होंने आतिथ्य में ग्रहण किया। दूसरे दिन सुमंत्र को अयोध्या लौटाकर तथा अपने सखा गुह से बिदा होकर वे दिन के उत्तरार्ध में गंगा पार हुए। यहाँ से प्रयाग वन आरंभ होता था। कुछ दूर, प्रायः छः सात मील, जाकर दिन बीतता देख वे एक वृक्ष तले विश्रांत हुए[३] और प्रातःकाल भरद्वाज-आश्रम के लिये चल पड़े जो उसी वन में गंगा-यमुना संगम के निकट था। अपराह्न में वे भरद्वाज के आश्रम में पहुँचे।[४] यहीं से राम-वनवास के भूगोल का उलझा अंश आरंभ होता है।

३—आजकल भरद्वाज-आश्रम प्रयाग में आनंद-भवन—स्वराज्य-भवन, के सामने माना जाता है। अकबर के समय तक गंगा उसके नीचे बहती थीं, किंतु अकबर ने अपना किला बनाने के लिये बाँध बाँध कर गंगा की धार मीलों पूरब हटा दी है। यह भरद्वाज-आश्रम शृंगवेरपुर से कोई बाईस तेईस मील पर है।

पहले दिन कोई छः सात मील पर ठहर कर दूसरे दिन सोलह-सत्रह मील तय करके राम का तीसरे पहर भरद्वाज-आश्रम में पहुँच जाना उक्त आश्रम की

२—मुं० रा०, २।५०।२६

३—बं० रा०, मुं० रा०, २।५३।१

४—वही, २।५४।८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूरी के साथ ठीक ठीक मेल खाता है। फिर भी, उस स्थान को भरद्वाज-आश्रम मानने में एक बड़ी भारी अड़चन है। तत्रभवान् डॉ० काटजू ने १९४५ में समाचार-पत्रों द्वारा पहले-पहल इस ओर ध्यान आकृष्ट किया। उन्हीं के शब्दों में—

"...रामायण के अनुसार भरद्वाज के आश्रम और संगम से चित्रकूट बीस मील दूर था। यह बड़ी गंभीर बात है।......आजकल सड़क सड़क जाइए तो प्रयाग से चित्रकूट सत्तर मील से ऊपर है और हंस-पथ से जाइए तो भी साठ मील से कम न पड़ेगा। चित्रकूट एक पहाड़ है, फलतः एक अचल ठिकाना है। वहाँ रामचंद्र जी का स्थान कामदनाथ जी के नाम से प्रसिद्ध है और उसके निकट प्रयाग की ओर कोई दूसरा पर्वत नहीं है जो चित्रकूट माना जाय।"[५]

वाल्मीकि ने चित्रकूट का और प्रयाग से वहाँ के मार्ग का जैसा स्पष्ट, वास्तविक और ब्योरेवार वर्णन किया है[६] उसका भी उल्लेख तत्र भवान् ने किया है तथा उन्होंने यह भी लक्ष्य कराया है कि उक्त बीस मील की दूरी वाल्मीकि ने एक नहीं, दो दो बार दी है। एक बार जब भरद्वाज ने उसे राम को बताया[७], दूसरी बार जब भरत को।[८] विशेषता यह है कि भरत को बताई गई दूरी योजनों में है—अढाई योजन। अर्थात् इस संबंध में वाल्मीकि की जानकारी बिलकुल पक्की थी।

४—ऐसी दशा में इस समस्या का सीधा हल यह है कि उन दिनों गंगा शृंगवेरपुर के पास से धनुषाकार पश्चिम को घूम गई थीं और राजापुर के आसपास यमुना में मिली थीं क्योंकि वहीं से चित्रकूट की दूरी बाईस मील है। इधर शृंगवेरपुर भी वहाँ से वही बाईस तेईस मील पड़ता है, जितना आधुनिक प्रयाग से।

यह बात लक्ष्य करने की है कि वाल्मीकि ने गंगा को यमुना से मिलने के लिये पश्चिम घूमी हुई अथवा यमुना को गंगा के वेग से पश्चिम घूम गई लिखा है।[९]

५—"भारत", सितंबर २,'४५

६—मुं० रा०, २।५५।५-१०

७—वही, २।५४।२८

८—वही, २।९२।१०

९—गंगायमुनयोःसंधिमादाय मनुजर्षभ।

कालिन्दीमनुगच्छेतां नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम् ॥—वही, २।५५।४

इसके उक्त दोनों अर्थ होते हैं। किसी टीकाकार ने एक माना है किसी ने दूसरा। किंतु आगे के श्लोक से यमुना का कुछ दूर पश्चिम बह जाना ही व्यक्त होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणामतः दोनों स्थितियाँ एक हैं जो राजापुर में ही संभव हैं (द्रष्टव्य मानचित्र)। यह संभावना रामायण के इस स्पष्ट उल्लेख से सर्वथा प्रमाणित हो जाती है कि गंगा के मिलने से परिपूर्ण होकर यमुना समुद्र को जाती हैं।[१०] आज सागरंगमा पूर्व-वाहिनी यमुना पश्चिम-वाहिनी गंगा में नहीं मिलती, आज तो पूरब-दक्खिन जाती हुई गंगा में यमुना, जो इलाहाबाद पहुँचकर संगम-स्थल पर नितांत मंथर हो गई हैं, मिलती हैं और गंगा के आग्नेयाभिमुख प्रवाह में घुल जाती हैं।

यद्यपि आज भी संगम के निकट गंगा पश्चिम-वाहिनी कही जाती हैं किंतु वस्तुत: यह कथनमात्र है—उन दिनों का नाम-शेष।

५—नदियों का तथा उनके संगम का इस प्रकार स्थान बदलते रहना इतनी साधारण और आए-दिन-वाली घटना है कि उसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं। किस प्रकार गंगा-सोन का संगम अजातशत्रु के समय में (ई० पू० पाँचवीं शती) पाटलिपुत्र के नीचे था और आज वहाँ से बारह मील पच्छिम हट गया है, इसका उल्लेख तत्रभवान् ने अपने उक्त लेख में किया है। ई० पाँचवीं शती में रावी मुलतान के दक्खिन चिनाब में मिलती थी और व्यास सतलज से मिलने के बजाय रावी के नीचे जाकर चिनाब में; किंतु ई० पू० पाँचवीं छठी शती में व्यास आजकल की भाँति सतलज में ही मिलती थी।

६—इस प्रकार रामायण के अनुसार उस काल वाले प्रयागवन, भरद्वाज-आश्रम एवं गंगा-यमुना संगम राजापुर के आसपास स्थिर होते हैं। इस संबंध में उक्त लेख के अंतिम अंशवाली तत्रभवान् की यह उक्ति बड़ी मार्मिक है—"जहाँ गंगा-यमुना मिलेंगी, वही स्थान संगम कहलाएगा। इस प्रकार प्रयाग और संगम एक दूसरे से मिली हुई चीजें हैं। यह न समझिए कि हमारा प्रयाग और वाल्मीकि का प्रयाग एक होना चाहिए।"[११]

१०—अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते। यात्येव यमुना पूर्णं समुद्रमुदकार्णवम् ॥
—मुं० रा० २।१०५।१६

११—("भारत", सितंबर २,'४५)। इस लेख के खंडन में कई लेख निकले। एक में लीलावती सरीखी बहुत इधरवाली रचना के सहारे पाँच मील का कोस बना कर, वर्तमान सत्तर मील वाली दूरी प्रमाणित की गई है ("भारत", ३०-९-४५)। किंतु वाल्मीकि ने राम की जिन मंजिलों का ब्योरा दिया है उनमें से कोई भी अठारह-बीस मील से ऊपर की नहीं। वर्तमान प्रसंग में राम ने प्रयागवन से दिन में चल कर संध्या होते यमुना पार की और एक रात टिककर दूसरे दिन सुख से चलते हुए अपराह्न के उपरांत चित्रकूट पहुँच गए। यह समय २० मील

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७—भरद्वाज ने राम का सप्रेम आदर-सत्कार किया और उनसे अनुरोध किया कि यहाँ संगम पर बसो।[१२] किंतु उन्होंने उत्तर दिया कि यहाँ नित्य अयोध्या के लोग आया करेंगे, अतः यहाँ रहना ठीक नहीं। मुझे कोई ऐसा स्थान बताइए जहाँ एकांत हो और जानकी का भी मन रमे। महर्षि ने कहा कि यहाँ से दस कोस पर चित्रकूट नामक पहाड़ है जो बहुत नयनाभिराम एवं रमणीय है। महर्षि ने उसकी तुलना गंधमादन से की।

राम ने उनके आश्रम में रात बिताई। दूसरे दिन महर्षि ने उनका स्वस्त्ययन किया और बताया कि पश्चिम-वाहिनी गंगा से मिली हुई वा गंगा के वेग से पश्चिम को घूमी हुई यमुना के किनारे किनारे धारा के प्रतिकूल पश्चिमाभिमुख जाओ। आगे तुम्हें एक चलता घाट मिलेगा, वहाँ बेड़ा बनाकर यमुना पार करो, इत्यादि। कुछ दूर उनके संग जाकर वे मार्ग भी दिखा आए।

बेड़ा बना कर यमुना पार करके राम परले पार वाले किनारे किनारे कुछ

का ही प्रतिपादक है, अधिक दूरी का नहीं। अतः यह स्पष्ट है कि वाल्मीकि को दो मील वाला कोस—अर्थात् आठ मील वाला योजन—अभिप्रेत था।

इतना ही नहीं, इस प्रतिपादन के प्रतिकूल सबसे बड़ी बाधा यह है कि यदि हम उक्त १ कोस = ८ मील वाला मानदंड स्वीकार लें तो चित्रकूट मंडल में विराध कुंड से शरभंग आश्रम की दूरी, जो वाल्मीकि ने डेढ़ योजन दी है (बं० रा० ३।८।१७-१८ ; मुं० रा० ३।४।२०-२१) और भौमिक स्थिति के अनुसार जिसका तादृश अंतर नहीं है, अड़तालीस मील जा पड़ती है, जो एक असंभव आँकड़ा है। किंतु खंडन के उत्साह में एकपक्षीय होकर ऐसी भूल कर बैठना एक सनातन नियम है।

दूसरे प्रतिपक्षी ने भरद्वाज के दो आश्रम बतलाए हैं—एक वर्तमान, दूसरा चित्रकूट से बीस मील पर ("भारत" ७-१२-'४५)। इसके प्रमाण में वाल्मीकि का एक वचन उपस्थित किया गया है जिसके अनुसार चित्रकूट से रथ द्वारा लौटते हुए भरत ने भरद्वाज से मिलने के उपरांत यमुना पार की (मुं० रा० २।११३।६, २१)। इस संबंध में इतना ही कहना अलं है कि यह श्लोक रामायण की बंग-वाचना में, जो अपेक्षाकृत कहीं प्रामाणिक है, नहीं मिलता। भरत का रथ से चित्रकूट जाना-आना मूल रामायण का अंश नहीं। रथ-मार्ग शृंगवेरपुर में समाप्त हो जाता था। उसके बाद भरत सदलबल पैदल ही गए; रथवाला प्रसंग पीछे का पल्लवन है। अतः वह प्रमाण अग्राह्य है।

१२—बं० रा०, २।५४।२२-२३ ; मुं० रा०, २।५४।२२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूर पश्चिम गए। तब उन्हें वह वट मिला जिसकी चर्चा महर्षि ने उनसे की थी। उस नीलवट की प्रदक्षिणा एवं उससे मंगल-याचना करके सीता-राम-लक्ष्मण बिना रुके किनारे किनारे पश्चिम चलते गए। कोई कोस भर जाकर एक बालुकामयी सजल नदी की रेत में उन्होंने रात बिताई।[१३] प्रातः यमुना-स्नान करके ढाक, बेरी और जामुनों में होते हुए हरियाली, फूल-पत्ती, वन्य खग-मृग तथा मधु के छत्ते निरखते वे चित्रकूट जा पहुँचे।[१४]

८—चित्रकूट नाम से आज जिस स्थान को हम जानते हैं वह (क) अपनी रमणीयता, (ख) सांप्रत प्रयाग से भी अपनी सन्निकटता, (ग) अपने संबंध में निर्विवाद अनुश्रुति तथा (घ) अपने आसपास किसी इतने रमणीय स्थल के अभाववश निश्चय वही चित्रकूट है जिसे राम ने वनवास में अपना पहला आवास बनाया था। मंदाकिनी (वर्तमान पइसुनी) किनारे एक अभिराम स्थल खोजकर उन्होंने अपनी कुटी बनाई।[१५] किंतु वहाँ वे अधिक रहने न पाए। एक महीना बीतते न बीतते, उन्हें लौटा लाने के लिये भरत पहुँचे और यद्यपि वे अकृतकार्य फिरे, फिर भी वहाँ नित्य अयोध्या-वासियों के आते रहने की आशंका उत्पन्न हो गई थी एवं हाथी घोड़ों ने जंगल को गंदा भी कर दिया था; अतः भरत के जाने पर राम ने और गहन वन में प्रविष्ट होना निश्चत किया।[१६] इसका एक और हेतु था जिसपर आगे प्रकाश डाला जायगा (१०)।

९—चित्रकूट से वे अत्रि मुनि के आश्रम में चले गए।[१७] यहाँ से दंडकारण्य का दुर्गम भाग आरंभ होता था, किंतु इन वनों में भी ऋषियों का निवास था। चित्रकूट से लेकर दक्षिण में पंपा तक उनके आश्रम थे। पंपा संभवतः ऋषि-निवास की दक्षिणी परिसीमा थी।[१८] इन आश्रमों के कारण इन वनों में ऋषियों का यातायात रहता, अतएव उन लोगों का एक मार्ग भी था। वही मार्ग राम ने ग्रहण किया था।[१९]

१३—यह नदी यमुना के उन 'भरकों' में से रही होगी जिनकी उस ओर भरमार है।

१४—बं० रा०, २।५६।७-१३ ; मुं० रा०, २।५६।१२

१५—बं०रा० २।५६।१६ ; मुं० रा०, २।५६।२०

१६—बं० रा० ३।२।४ ; मुं रा० २।११७।४

१७—बं० रा० ३।२।५ ; मुं० रा० २।११७।५

१८—बं० रा०, ३।१०।१८ ; मुं० रा० ३।११।१७

१९—बं० रा० ३।१।१७, ३।५।२१ ; मुं० रा०,२।११९।२१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत्रि-आश्रम में वे बसे नहीं। वहाँ से आगे चलने पर दुर्गम बन की गहराई में उन्हें विराध राक्षस मिला, जिसे मारकर वे शरभंग ऋषि के आश्रम में पहुँचे।[२०] ये तीनों स्थान चित्रकूट प्रांत में मंदाकिनी किनारे आज भी बतलाए जाते हैं। चित्रकूट से लगभग १० मील दक्खिन अत्रि (=अनसूया) का आश्रम है और उससे ३ मील दक्खिन विराध-कुंड, जहाँ भगवान ने विराध को मारा था। वहाँ से ५ मील पर, दक्षिण दिशा में शरभंग का आश्रम है। संभवतः ये तीनों स्थान वास्तविक हैं, क्योंकि रामायण में इनमें से अंतिम—शरभंग आश्रम—की विराध कुंड से दूरी डेढ़ योजन दी है, जिसकी उक्त ५ मील से सन्निकटता है। साथ ही इस आश्रम में दक्षिण-पूर्व से आकर एक नदी मंदाकिनी में मिलती है जिसका नाम आज भी, मुनि के कारण, शरभंगा[२१] चला आ रहा है। यद्यपि रामायण में इसका उल्लेख नहीं है फिर भी शरभंग-आश्रम के स्थल का यह भी एक प्रमाण है। फलतः चित्रकूट और इस स्थान के मध्यवर्ती अनसूया[२२] तथा विराध-कुंड[२३] भी काल्पनिक नहीं हो सकते।

१०—शरभंग के आश्रम में भी राम न रहे। उनके इस प्रकार बढ़ते जाने के हेतु पर यहाँ विचार कर लेना आवश्यक है। रामायण के वर्तमान रूप में इस हेतु की चर्चा कुछ गौण हो गई है, फिर भी तनिक ध्यानपूर्वक देखने से वह स्पष्ट हो जाती है।

बुंदेलखंड का जो भाग युक्तप्रांत में पड़ता है उसके पूरबी अंश को तथा उसके नीचे दक्खिन में सागर-दमोह वाले भूभाग को (जो भौमिक दृष्टि से मालवे का बढ़ाव है) एवं मैहर को लपेटता हुआ एक लंबोतरा भूभाग है। इसकी प्राकृतिक परिसीमा कुछ कुछ इस प्रकार निर्दिष्ट की जा सकती है कि उत्तर-दक्खिन दंडायमान पन्ना की ऊँची गिरि-शृंखला और उसकी पूरबी गोंट केन नदी, इसकी पूरबी सीमा है। प्रायः उसकी समानांतर रेखा में चलनेवाली विंध्य की वह शाखा जो धसान नदी का पूरबी कगार बनती है, इस भूभाग की पश्चिमी सीमा है। विंध्यवाली इस भुजा की ऊँचाई प्रायः वही है जो पन्ना के पहाड़ों की—कोई पंद्रह सौ, दो हजार फुट। इन दोनों शृंखलाओं के ऊपरी अंश एक होकर एक उर्वर पठार बनाते हैं। यही पठार आसपास के सिवानों को लेकर किसी समय दंडक वन के

२०—बं० रा०, ३।७।५,१३, और ३।९।१ ; मुं० रा० ३।२।४, ३।५।१३

२१, २२, २३—द्रष्ट० बाँदा गजेटियर, पृ० १६–१७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम से प्रसिद्ध था—संभवतः अपने याम्योत्तर लंबेपन के कारण। रामायण में भी इसकी यही परिसीमा दी है; वहाँ पन्ना शृंखला का नाम शैवल है। यह बात लक्ष्य करने की है कि पन्ना (स्थानिक रूप—परना) शैवल, दोनों ही नाम जो इस पहाड़ ने समय समय पर पाए हैं, इसकी सघन स्निग्ध हरीतिमा के द्योतक हैं।

दंडक वन की उक्त प्राकृतिक परिसीमा के अतिरिक्त उसके निकटवर्ती चित्रकूट आदि के वन भी दंडक में परिगणित हैं। इसी कारण अपने प्राचीन साहित्य में दंडक शब्द का प्रयोग इस अर्थ में बहुवचन में भी हुआ है।

इस समूचे दंडक वन की भूमि जिन मिट्टियोंवाली है उनमें एक भाँति की काली मिट्टी होती है—काबर। यह नाम संस्कृत 'कर्बुर' शब्द से बना है। इन्हीं प्रदेशों में उन दिनों एक जाति बसती थी जो अपनी रंगत में इस मिट्टी की संतान थी और—संभवतः इसी रंग-साम्य के कारण—उस जाति का भी एक नाम कर्बुर था। हम इस जाति को इसके अधिक प्रचलित नाम—राक्षस—से भली भाँति जानते हैं।

दंडक वन का दक्खिनी छोर, दमोह-मैहर वाला अंश, इन राक्षसों का प्रधान जनपद था। इसका तत्कालीन नाम जनस्थान था। राक्षसों का एक नाम पुण्यजन भी है। संभवतः जनस्थान शब्द उसी से संबंधित है—पुण्यजन-स्थान का लघु रूप है। जनस्थान के आगे दक्षिण में क्रौंचालय तथा अंशतः किष्किंधा और मतंग वन पड़ता था जो पंपा तक जाकर समाप्त होता था। समूचा दंडकारण्य, कहीं कम कहीं अधिक, राक्षसों से गछा हुआ था जो उसमें बसे हुए ऋषियों को निरंतर मारते खाते रहते। कहीं-कहीं तो इस प्रकार प्राण गँवाने वाले अभागों की हड्डियों के ढेर लग गए थे। अतएव राम-वनवास को ऋषि-मुनियों ने अपना अहोभाग्य माना। आरंभ से ही वे राम से बिनती करने लगे कि उनको निष्कंटक कर दें। मुनियों और मुनि-शिष्यों का एक दल सुतीक्ष्ण-आश्रम से ही उनके साथ हो लिया कि उन्हें राक्षसों की नृशंसता दिखाता हुआ यह बाधा दूर करा ले। राम ऐसा करना चाहते थे,[२४] यद्यपि आरंभ से ही सीता इसकी विरोधिनी थीं।[२५] निदान, वे शरभंग के आश्रम में भी न बसे; उन्होंने सुतीक्ष्ण के आश्रम में जाना निश्चित किया।[२६]

२४—बं० रा०, ३।१०।२५; मुं० रा०, ३।६।२२-२५

२५—बं० रा०, ३।१३।२२; मुं० रा०, ३।९।२४-२५

२६—बं० रा०, ३।१०।२६; मुं० रा०, ३।६।२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०७२५

एतदर्थ शरभंग ने उन्हें मार्ग बता दिया।[२७] तदनुसार वे मंदाकिनी के प्रतिस्रोत अर्थात् उसके उद्गम की ओर गए और आगे जाने पर उन्होंने एक वेगवती नदी पार की। तब उन्हें एक उन्नत शैल पर विपुल वन दिखाई दिया। इसी वन में सुतीक्ष्ण का निवास था।[२८]

११—वर्तमान भूगोल के अनुसार उक्त वेगवती नदी केन (=शुक्तिमती) ठहरती है जो मंदाकिनी के उद्गम से कोई ३५-३६ मील की दूरी पर पड़ती है। मंदाकिनी के उद्गम से ही, कुछ कुछ उसके समानांतर बहती हुई, यह भी उसीकी भाँति यमुना में मिल जाती है। इस केन के पश्चिम ओर पन्ना के ऊँचे पहाड़ पड़ते हैं, जहाँ इधर का चित्रकूट वाला लगभग छः सौ फुट ऊँचा पहाड़ उधर एका-एक पंद्रह सौ फुट ऊँचा हो जाता है। इस भौमिक वास्तविकता से उक्त रामायणीय वर्णन सर्वथा सम्मत है।

१२—वर्तमान अजयगढ़ राज्य से कहीं पर, उदाहरण के लिये मंदाकिनी के उद्गम से कोई ५० मील दूर नोनापानी पर, केन पार करके राम जहाँ पन्ना के पहाड़ों में सुतीक्ष्ण आश्रम में पहुँचे होंगे वह स्थान आधुनिक विजावर राज्य में, न्यूनाधिक विजावर नगर की सीध में, कहीं रहा होगा। सुतीक्ष्ण के आश्रम में एक ही रात रह कर वे आगे बढ़े।[२९] कितने ही वन, पर्वत और नदियाँ पीछे छोड़ आने पर उन्हें एक योजन विस्तृत पंचाप्सर नामक सरोवर मिला जहाँ ऋषियों के अनेक आश्रम थे। ये आश्रम पंचाप्सर के इर्द गिर्द रहे होंगे। इनमें कहीं महीना भर, कहीं दो महीने, कहीं चार-छः महीने और कहीं बरस दो बरस रह कर राम ने अपने वनवास के दस बरस काट दिए। तदुपरांत वे पुनः सुतीक्ष्ण के आश्रम में लौट आए[३०]; क्योंकि यद्यपि इन दस वर्षों में उन्होंने पंचाप्सर प्रदेश की राक्षस-बाधा मिटा दी थी, फिर भी अभी यह उपद्रव निर्मूल न हुआ था।

१३—पंचाप्सर सर दंडकारण्य की दक्षिणी-पश्चिमी सीमा पर था। इसके पूरब, दमोह से जनस्थान चलता था जो मैहर राज्य तक लंबायमान था। उसमें अभी राक्षसों का उपद्रव शेष था जिसकी सफाई आवश्यक थी। रामायण में

२७—बं० रा०, ३।६।११-१२; मुं० रा०, ३।५।३५-३७

२८—बं० रा०, ३।११।१-२; मुं० रा, ३।७।१-२

२९—बं० रा०, ३।१२।१, १७; मुं० रा०, ३।८।१, २०

३०—बं० रा०—३।१५।२३-२८; मुं० रा०, ३।११।२३-२८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम द्वारा जनस्थान में चौदह हजार राक्षसों के मारे जाने की चर्चा बार बार हुई है।[३१] यद्यपि रामायण के वर्तमान रूप के अनुसार ये वध डेढ़ दंड में किए गए थे, फिर भी रामायण से ही यह स्पष्ट है कि जनस्थान के समूचे निवास-काल में (सीता-हरण के पूर्व) उन्होंने इतने राक्षस मारे।

१४—दंडक का उक्त नैर्ऋत्य छोर जिसमें पंचाप्सर सर था, वर्तमान सागर जिला है जिसकी पश्चिमी सीमा पर याम्योत्तर बहती हुई धसान इस पठार को मालवे से विभक्त करती है। यह जिला अपना नाम 'सागर' सागर नाम की उस विशाल प्राकृतिक झील से प्राप्त करता है जिसके तट पर सागर नगर बसा हुआ है। टालमी में भी इसका उल्लेख 'सागेडा'[३२] नाम से है। यही सागर रामायणीय पंचाप्सर सर है जिसके इर्द-गिर्द ऋषियों के बहुतेरे आश्रम थे। सुतीक्ष्ण-आश्रम की भौमिक स्थिति निर्धारित हो जाने पर, सागर के अतिरिक्त और कौन सी झील हो सकती है जहाँ राम कितने ही वन, पर्वत और नदियाँ पीछे छोड़ते हुए पहुँचे हों? केन के तट से सागर तक ऐसा और स्थान नहीं पड़ता जहाँ जल का इतना निचय हो।

१५—सुतीक्ष्ण-आश्रम में पुनः पहुँचकर वहाँ कुछ दिन टिकने पर राम ने मुनि से कहा कि इसी वन में कहीं अगस्त्य ऋषि रहते हैं, अब मैं कुछ दिन उनकी सेवा में रहना चाहता हूँ, मुझे उनके आश्रम का मार्ग बताइए।[३३] सुतीक्ष्ण ने बताया कि यहाँ से चार योजन दक्षिण पिप्पली के वन में अगस्त्य के भाई का आश्रम है और उससे एक योजन दक्षिण अगस्त्य-आश्रम है।[३४]

राम का अगस्त्य-आश्रम जाने का संकल्प विशेष महत्व रखता है। अगस्त्य (अर्थात् अगस्त्य ऋषि-वंश) दक्षिण बढ़ने वाले ऋषियों में प्रमुख थे और उन्होंने

३१—बं० रा०—३।३२।३४, ३।३३।४०, ३।३५।२६, ३।३६।१, ३।३७।१२, ३।३८।६; मुं० रा०, ३।२६।३५, ३।२६।२४

३२—"Sagar is supposed to be the Sageda of Ptolemy. The name is derived from Sagar, a lake, after the large lake round which it is built."

—इंपीरियल गजेटियर ऑव इंडिया, जिल्द २२, पृ० १४८.

३३—बं० रा०, ३।१५।३२-३४; मुं० रा०, ३।११।३२-३४

३४—बं० रा०, ३।१५।३६, ४०, ४२; मुं० रा०, ३।११। ३७-३८, ४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राक्षसों से टक्कर लेकर दक्षिण को शरण्यं (बसने योग्य) बनाया था।[३५] एतदर्थ वे अस्त्रों का उपयोग भी करते रहे होंगे। रामायण की इस कथा से कि उन्होंने अपनी कुटी में से लाकर राम को दिव्यास्त्र दिए[३६]—यही प्रकट होता है कि उनके यहाँ अस्त्रों का संचय रहता था। वस्तुतः राक्षसों के भारी भारी समूहों पर इक्के दुक्के आर्यों की विजय का गुर यही है कि राक्षस शस्त्रों का ही, जो हाथ में रख कर चलाए जाते थे, उपयोग जानते थे। अस्त्रों—अर्थात् ऐसे हथियारों का जो अपेक्षया अधिक यांत्रिक हैं, जैसे विभिन्न प्रकार वाले धनुष-बाण और चक्र आदि—का उपयोग उन्हें अज्ञात था।

१६—अगस्त्य-भ्राता के यहाँ होते हुए राम अगस्त्य-आश्रम में पहुँचे।[३७] अगस्त्य ने उन्हें वहीं रहने को कहा, किंतु राम ने कहा कि मुझे ऐसा स्थानं बताइए जो बहुकानन हो और जहाँ जल का सुपास हो। मुनिवर ने विचार कर कहा कि यहाँ से दो योजन पर पंचवटी नामक प्रदेश है। उसके पास ही गोदावरी बहती है। आप वहाँ बसें, वहाँ हर प्रकार की सुविधा है। सामने आपको महुए का बड़ा भारी वन दिखाई दे रहा है। इसके उत्तर से जाइए, आगे आपको वट-वृक्ष मिलेगा। उसके पास ही पर्वत के निकट उपारूढ़स्थली है, वही पंचवटी है।[३८]

१७—यह पंचवटी राक्षसों की ठेठ बस्ती जनस्थान का, जिसमें उनके प्रमुख खर, दूषण एवं त्रिशिरा भी रहते थे, आग्नेय भाग थी। यही कारण था कि अगस्त्य जैसे विक्रान्त महर्षियों को छोड़ कर अन्य महर्षियों को इस ओर बढ़ने का साहस न हुआ था। राम का पंचवटी-निवास संभवतः इस गढ़ का सफाया करने के लिये ही हुआ था, क्योंकि ऐसे उच्छेद बिना पंचाप्सर सर वाला क्षेत्र कितने दिन निष्कंटक एवं सुरक्षित रह सकता था?

१८—बिजावर के आसपास, जैसे नोनापानी में, सुतीक्ष्ण-आश्रम मान कर पंचवटी पहुँचने के लिये यदि हम उक्त ४+२+१=७ योजन, अर्थात् ५६ मील दक्षिण जायँ तो हम केन नदी के उद्गम (अक्षांश २३·८° उ०, रेखांश ८०° पू०, जबलपुर में कटनी से कोई दस मील की दूरी पर) के आसपास पहुँच जाते हैं।

३५—बं० रा०, ३।१६।१२, ३।१७।१६; मुं० रा० ३।११।५४, ८१

३६—बं० रा०, ३।१८।३७-४७; मुं० रा०, ३। १२।३२-३७

३७—बं० रा०, ३।१७।१७; मुं० रा०, ३।११।७९

३८—बं० रा०, ३।१६।१४, १६,२२-२३; मुं० रा०, ३।१३।१३, १८,२१-२२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे रामायण वाले पंचवटी-वर्णन का अद्भुत समाधान होता है, क्योंकि उसमें हम पंचवटी के सन्निकट एक प्रस्रवण गिरि पाते हैं और प्रस्रवण हमारे प्राचीन साहित्य में वही वस्तु है जिसे हम आज नदी का उद्गम-प्रपात कहते हैं। इस प्रकार हम पंचवटी का स्थल केन के निकास के आसपास पा जाते हैं। इन प्रदेशों के स्थल-निर्णय के लिये पीपल और महुए के वनों वाले उल्लेख भी बहुत महत्व के हैं, क्योंकि उल्लिखित प्रदेश ही ऐसे विभाग हैं जहाँ आज भी पीपल और महुए के जंगलों की बहुतायत है।

पंचवटी-निवास में राम को जटायु सरीखा अनुचर प्राप्त हुआ, यह एक बड़ी बात है। वह जनस्थान में ही बसनेवाली एक अल्पसंख्यक जाति का व्यक्ति जान पड़ता है। प्रायः आदिम जातियाँ अपना उद्भव किसी पशु, पक्षी आदि से मानती हैं जो उनका जाति-नाम बन जाता है। यही बात गृद्ध जाति के संबंध में भी है। जटायु के भाई-भतीजे एवं परिवार का वर्णन तो मिलता ही है[39], महाभारत में उसकी बाहों का (डैनों का नहीं) वर्णन भी मिलता है।[40] अतएव इस विषय में किसी ननु-नच की संधि नहीं रह जाती।

१६—केन के निकट पंचवटी मानने में सबसे बड़ा अड़ंगा यह प्रतीत होता है कि अगस्त्य ने उसे गोदावरी तीर पर बताया है (१६)। परंतु यह अड़ंगा निस्सार है। गोदा[41], गोदारि[42] आदि शब्द अनार्य, संभवतः द्रविड़, भाषा के हैं जो नदी वा जल की धाराओं के लिये जातिवाचक संज्ञा हैं। जान पड़ता है कि यहाँ यह शब्द (रामायण में प्रयुक्त लंका[43], मलय[44] आदि आदिम भाषा के अन्य

३९—वं० रा०, ३।२३।६

४०—स वध्यमानो गृध्रेण रामप्रिय हितैषिणा।
खड्गमादाय चिच्छेद भुजौ तस्य पतत्रिणः॥
—कुंभकोणम् संस्करण। रामोपाख्यानपर्व १८, अ० १८०, श्लोक ६।

४१—जहाँ नदी दो धाराओं में फट जाती है और बीच में टापू सा पड़ जाता है उसे बुंदेलखंडी में गोदा कहते हैं, जो संभवतः इसी अनार्य शब्द का एक रूप है और अपने वास्तविक अर्थ के बहुत निकट है।

४२—गोदारि = नदी। काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह में डा० हीरालाल का 'अवधी हिंदी प्रांत में राम-रावण युद्ध' शीर्षक लेख, पृ० २५-२६।

४३—लंका = टीला या टापू, वही पृ० २७

४४—मलै (द्राविड़) = मलय = गिर्येक देश (देशीनाममाला, ६।१४४)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जातिवाचक शब्दों की भाँति) इस कारण प्रयुक्त हुआ है कि संभवतः उस समय तक आर्यों ने केन का नामकरण नहीं किया था। पीछे से जब गोदावरी शब्द नदी-विशेष के अर्थ में रूढ़ हो गया तभी गड़बड़ी पैदा हुई और पंचवटी नासिक में गोदावरी-तट पर फेंक दी गई।

२०—इस प्रकार निर्णीत पंचवटी की यदि हम वहाँ से ऋष्यमूक की (जो पंचमढ़ी प्रमाणित हो चुकी है[४५]) दिशा एवं दूरी द्वारा जाँच करें तो यह उसमें भी खरी उतरती है, जो इसके लिये एक और प्रमाण हो जाता है। पंचवटी से निकल कर राम को ऋष्यमूक के लिये निरंतर पश्चिम-दक्षिण जाना पड़ता है[४६] जो केन के उद्गम से ठीक पंचमढ़ी की दिशा में है। साथ ही इन स्थानों के बीच की दूरी कोई १४५ मील है जो रामचंद्र के लिये ७ दिनों का मार्ग था; क्योंकि जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, उनकी एक दिन वाली मंजिल गोल आँकड़ों में बीस मील की होती हैं। इस मार्ग में उनका एक रात टिकाव रामायण में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। इस उल्लेख को जब हम उसी प्रसंग वाले इस ब्योरे के साथ पढ़ते हैं कि वे पर्वत पर पर्वत और वन पर वन पार करके ऋष्यमूक के पार्श्ववर्ती मतंग-आश्रम में पहुँचे[४७] तो हम असंदिग्ध हो जाते हैं कि यह मार्ग चार-पाँच पड़ाव का अवश्य रहा होगा, जो उक्त दूरी के साथ ठीक ठीक जुड़ जाता है।

———

पुनश्च—पृष्ठ १६ पंक्ति ३ में '...समुद्र को जाती है' के अनंतर पूर्णविराम न होकर इतना और पठनीय है—'और भागीरथी गंगा यमुना में मिलती हैं'।[४८]

४५—ना० प्र० पत्रिका ५२।४ में 'ऋष्यमूक किष्किंधा की भौगोलिक अवस्थिति' शीर्षक लेख।

४६—मुं० रा०, ३।६३।१, २, ४

४७—वही, ३।७३।२-११

४८—यत्र भागीरथी गङ्गा यमुनाभिप्रवर्तते।
जग्मुस्तं देशमुद्दिश्य विगाह्य सुमहद्वनम् ॥
—बं० रा० (वॉन की प्रति), २।४२।२

४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंडोर

[श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ]

मंडोर (अथवा मांडव्यपुर) मारवाड़ की प्राचीन राजधानी था। यह जोधपुर नगर से ५ मील उत्तर की ओर एक पहाड़ी सिलसिले पर बसा हुआ था जो भीमसेन (भोगिशैल) के नाम से प्रसिद्ध है।

यद्यपि मंडोर नगर इस समय बिल्कुल उजड़ चुका है तथापि उक्त पहाड़ी के तल में इस समय भी मंडोर नाम का एक गाँव बसा हुआ है। पुराना मंडोर दक्षिण में इस गाँव से लेकर उत्तर में जोधपुर की रानियों की छतरियों तक और पूर्व में नागकुंड से लेकर पश्चिम में एक मील की दूरी तक फैला हुआ था।

इस प्राचीन राजधानी के भग्नावशेषों में दो विशाल स्तंभ सबसे प्राचीन हैं। ये वास्तव में किसी द्वार के स्तंभ रहे होंगे। परंतु कर्नल टाड के वर्णन से प्रकट होता है कि उसने इन्हें तोरण के रूप में देखा था। इनकी लंबाई १२-१३ फुट, चौड़ाई २ फुट और मोटाई १० इंच के लगभग है। तोरण के स्तंभ प्रायः चौकोर या गोल देखने में आते हैं और उनपर चारों ओर खुदाई की हुई मिलती है, परंतु इन स्तंभों पर केवल एक ही ओर खुदाई का काम किया हुआ है।

ये स्तंभ चौथी शताब्दी के प्रतीत होते हैं। इनमें प्रत्येक पर छोटे बड़े ५—५ खंड बने हुए हैं। इन खंडों में से केवल एक को छोड़कर शेष सबमें श्रीमद्भागवत-वर्णित श्री कृष्णचंद्र की कुछ लीलाएँ खुदी हुई हैं। यद्यपि इन स्तंभों पर समय ने अपना अत्यधिक प्रभाव डाला है, तथापि इनका जो कुछ भी अंश बच रहा है वह तक्षणकार की कला का सुंदर नमूना है।

पहले स्तंभ (द्रष्टव्य—चित्र सं० १) के ऊपरी खंड में गोवर्धनधारी कृष्ण बने हैं जो अपनी हथेली पर गोवर्धन पर्वत उठाए हुए हैं। श्रीकृष्ण के वाम भाग में बलराम तथा एक ग्वाला और तीन ग्वालिनें हैं। गोवर्धन पर्वत की छोटी बड़ी सात चोटियाँ दिखाई गई हैं। पर्वत पर एक सिंह और सिंहिनी (?) तथा फन काढ़े हुए दो सर्प भी बने हैं। दूसरे खंड में गाएँ बनी हैं जिनको श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत की छाया में इंद्र के कोप से बचाया था। तीसरे खंड में आठ पंक्तियों का एक लेख था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंडोर

चित्र सं० १

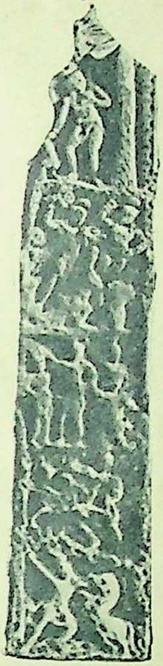

चित्र सं० २

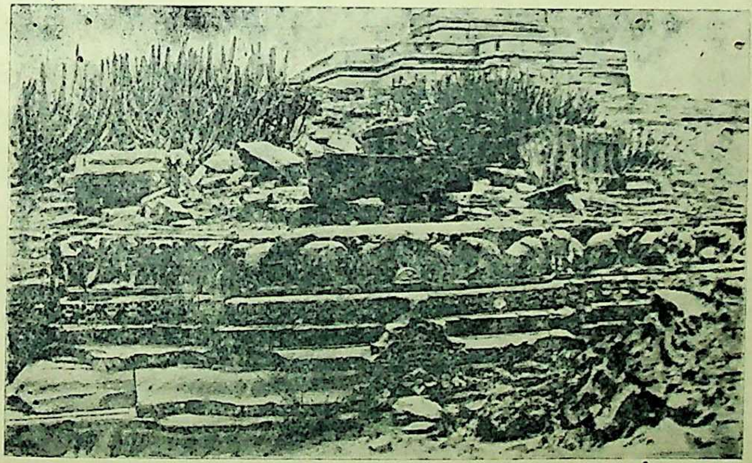

चित्र सं० ३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो अनुमान से चौथी शताब्दी के मध्य का रहा होगा। परंतु इस समय उसमें से केवल एक अक्षर 'नं' (?) को छोड़कर शेष समूचा लेख नष्ट हो चुका है।

इस स्तंभ का चौथा खंड दो बड़े भागों विभक्त है। दाहिने भाग में गाएँ हैं और बाएँ भाग में दधि-मंथन करती हुई यशोदा खड़ी हैं तथा पास ही बैठे हुए बाल कृष्ण मथानी में से मक्खन निकाल रहे हैं। पाँचवें खंड में यशोदा और श्रीकृष्ण पलंग पर लेटे हुए हैं। श्रीकृष्ण के दाहिने हाथ में एक खिलौना है जो पक्षी सा प्रतीत होता है। अपना बायाँ हाथ वे माता के स्तन पर रखे हुए हैं। यशोदा की दूसरी ओर एक गाड़ी उलटी हुई पड़ी है जो श्रीमद्भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण की शकट-भंग लीला की द्योतक है।

दूसरे स्तंभ (द्रष्टव्य–चित्र सं० २) के पहले खंड में बलराम गर्दभरूपी धेनुकासुर को उसका पिछला बायाँ पैर पकड़ कर लटकाए हुए, एक ताल वृक्ष के नीचे खड़े हैं। इसके दूसरे खंड में श्रीकृष्ण कालियनाग के ऊपर खड़े हुए हैं। उनका बायाँ पैर कालिय के मस्तक पर और दाहिना उसके शरीर पर रखा हुआ है। उनके बाएँ पैर में कालिय की पूँछ है और दाहिने में एक पुष्पगुच्छ, जिसमें इधर उधर दो कलियाँ तथा बीच में विकसित कमल है। यहाँ पर कालिय नाग का शरीर तो सर्प का, किंतु मस्तक मनुष्य का दिखाया गया है, और गर्दन के पीछे से फन उठा हुआ है। कालिय के पास ही उसकी स्त्री नागिन बनी हुई है जो रक्षा की प्रार्थना कर रही है। श्रीकृष्ण की बाँई ओर संभवतः बलराम हैं जो श्रीकृष्ण से, नाग-पाश से छूटकर बाहर आने को कह रहे हैं। श्रीकृष्ण की दाहिनी ओर नालसहित विकसित कमल है। इसके द्वारा श्रीकृष्ण का जलाशय में होना सूचित किया गया है।

इस स्तंभ के तीसरे खंड में ग्वाल-वेशधारी प्रलंबासुर के कंधे पर बैठे हुए बलराम उसके मस्तक पर मुष्टिक प्रहार कर रहे हैं। उनकी दाहिनी ओर श्रीकृष्ण के कंधे पर बैठा हुआ श्रीदामा, और भद्रसेन के कंधे पर चढ़ा हुआ वृषभ नाम का ग्वाला बना है। चौथे खंड में श्रीकृष्ण, बैल का रूप धरकर आए हुए केशी दैत्य के मुँह में अपना बायाँ हाथ घुसेड़ कर उसका दम घोंट रहे हैं।

मंडोर नामक आधुनिक ग्राम और भोगिशैल की पहाड़ी पर स्थित प्राचीन किले के बीच एक बगीचा है, जिसमें खुदाई करने से मिट्टी के कई बड़े बड़े घड़े निकले थे। इन घड़ों के किनारों पर गुप्तकाल की लिपि में 'विखहय' लिखा है। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभवतः कुम्हार का नाम होगा, जो गीली मिट्टी में तिनके से खोद दिया गया होगा। इसी के साथ एक पुरुष की टूटी हुई पाषाण-मूर्ति निकली है जिसका केवल कमर से ऊपर का ही भाग अवशिष्ट है। इसकी ऊँचाई एक फुट दस इंच और चौड़ाई एक फुट सात इंच है। इसके सिर पर न्यायाधीश की आधुनिक टोपी (विग) के समान शिरोवेष्टन है। गले में एक कंठा और हाथों में भुजबंध और कड़े हैं। बायाँ हाथ आगे से टूटा हुआ है और दाहिने में एक पुष्प है। ये दोनों वस्तुएँ भी गुप्तकालीन हैं।

इसी स्थान से आठवीं शताब्दी के आसपास के चाँदी के तीस छोटे छोटे गोल सिक्के भी निकले थे। इनका तोल सात से नौ ग्रेन के बीच, विस्तार ·४ इंच तथा मोटाई ·२८ इंच हैं। इनपर अरबी अक्षरों में निम्नलिखित नाम पढ़े गए हैं--

(१) अमीर अबदुल्ला, (२) वली अब्दुल्ला, (३) मुहम्मद, (४) बनु असराविया, (५) बनु अलविया, (६) बनु अब्दुर्रहमान और (७) मुहम्मद।

ये खलीफाओं की तरफ से सिंध के शासक थे।

यहाँ के पुराने किले की दीवारें लगभग २५ फुट चौड़ी थीं। महाराजा बखतसिंह के समय में वि० सं० १८०८ में जोधपुर की शहरपनाह को बढ़ाने के लिये यहाँ का बहुत-सा पत्थर काम में लिया गया था। फलतः जोधपुर नगर की चारदीवारी से प्रतिहार बाउक का वि० सं० ८९४ का एक लेख मिला है। यह मंडोर से ही अन्य पत्थरों के साथ यहाँ आ गया होगा। इसमें लिखा है कि बाउक के दस पीढ़ी पहले के रज्जिल नामक व्यक्ति ने अपने भाई की सहायता से मंडोर पर अधिकार कर वहाँ पर प्राकार बनवाया था। इस रज्जिल का समय छठी शताब्दी के अंत के आसपास आता है। हो सकता है उसका यह प्राकार पुराने किले की उपर्युक्त दीवार रहा हो।

इस किले के दक्षिण-पूर्व भाग में एक हिंदू मंदिर का भग्नावशेष (द्रष्टव्य–चित्र सं० ३) विद्यमान है। यह एक-पर-एक तीन चबूतरों के ऊपर बीचोबीच बना है। ये चबूतरे नीचे से ऊपर की ओर एक दूसरे से छोटे होते गए हैं और इनपर चढ़ने के लिये पश्चिम की ओर छोड़कर शेष तीन ओर से सीढ़ियाँ बनी हैं। ऊपर मंदिर के गर्भगृह का नीचेवाला कुछ भाग बचा हुआ है। यह सातवीं या आठवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। वहीं पर मिले खुदाई के कामवाले पाषाणों से यह भी ज्ञात होता है कि इसकी मरम्मत नवीं और बारहवीं शताब्दी में की गई थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस चौकोर गर्भगृह की भीतरी लंबाई-चौड़ाई ९ फुट ८ इंच और बाहरी १६ फुट है। इसकी बची हुई दीवारों की ऊँचाई लगभग ८ फुट तथा चौड़ाई ४ फुट ८ इंच है। इसमें जो बड़े बड़े पत्थर लगे हैं उनके जोड़ने में चूने या गारे का उपयोग नहीं किया गया है। वे लोहे की कीलों (पाउओं) से जोड़े गए हैं। दीवार का बाहरी भाग कई प्रकार के बेलबूटे, पक्षी, कीर्तिमुख, मनुष्यों के मस्तक आदि खोद कर सुंदर बनाया गया है।

इस दीवार में पत्थरों के पाँच स्तर हैं। इनमें ऊपर का स्तर जो अपेक्षाकृत बड़े पत्थरों का है और जिसपर त्रिभुज बने हैं, बारहवीं शताब्दी का प्रतीत होता है क्योंकि इसकी खुदाई साधारण है।

विक्रम की दसवीं शताब्दी में इस मंदिर में एक सभामंडप बनाया गया था जिसके भग्नावशेष के रूप में छः टूटे स्तंभ मंदिर के सामने पड़े हैं। इनपर खुदाई क बहुत अधिक काम किया हुआ है जिसमें गंधर्व (गायक), कीर्तिमुख और फूल-पत्तियाँ आदि बनी हैं।

इस मंदिर के तीनों चबूतरों की खुदाई के काम देखने से अनुमान होता है कि ये भी इस मंदिर के साथ बारहवीं शताब्दी में जोड़े गए होंगे। नीचे के चबूतरे को छोड़कर शेष दो की दीवारों पर चारों ओर खुदाई का काम किया हुआ है, परंतु वह प्राचीन मंदिर की दीवारों पर की खुदाई का मुकाबला नहीं कर सकता। बीचवाले चबूतरे की दीवार पर कीर्तिमुख और तिकोने बूटे बने हैं, परंतु ऊपर के चबूतरे की उत्तरी दीवार पर सेना का प्रयाण दिखलाया गया है। इसमें अश्वारूढ़ सेनानी के पीछे पैदल और रथारूढ़ सेना चल रही है। रथों को ऊँट खींच रहे हैं, जो मारवाड़ जैसे रेतीले प्रदेश के योग्य ही प्रदर्शन है। इसी के निकट कुएँ से पानी निकालने का रहट बना है। पास ही एक ऊँट खड़ा पानी पी रहा है और दूसरा उसके पीछे से पानी पीने आ रहा है। ऐसे रहट मारवाड़ में इस समय भी काम में लाए जाते हैं। इसी प्रकार युद्ध-प्रवृत्त योद्धाओं का भी एक दृश्य है और घोड़े-जुते रथ में बैठे योद्धा रण-भूमि की ओर जा रहे हैं।

यह मंदिर वास्तव में एक वैष्णव मंदिर के रूप में बनाया गया था, परंतु अंत में यह शैवों के हाथ में चला गया। वि० सं० १५१६ के लगभग राव जोधाजी द्वारा जोधपुर के बसाए जाने पर, मंडोर के मारवाड़ की राजधानी होने के गौरव के साथ ही साथ यहाँ का यह मंदिर भी नष्ट हो गया प्रतीत होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ के अन्य प्राचीन स्थानों में नाहडराव पडिहार (प्रतिहार नाहड स्वामी) का स्थान है। यह ७५ गज चौकोर स्थान है और इसकी ऊँचाई १८ फुट है। इसके बीच में एक सकरी गली सी बनी है जिससे इसके दो भाग हो गए हैं। इसमें का एक भाग बंद है और दूसरा अनेक खंभोंवाला एक अँधेरा कमरा सा है। यह उपर्युक्त पडिहार-नरेश का स्थान माना जाता है।

इसके उत्तर में एक दो-मंजिला जैन मंदिर है। इसके गर्भगृह के सामने एक सभामंडप भी बना है। मंदिर के प्रवेश-द्वार के ऊपरी पत्थर पर चार तीर्थंकरों की मूर्तियाँ, और अंदर की वेदी पर ८ तीर्थंकरों की मूर्तियाँ खुदी हैं। यह मंदिर अनुमान से बारहवीं शताब्दी का प्रतीत होता है। इसके पश्चिम में कुछ और भी छोटे छोटे स्थान बने हैं, परंतु वे विशेष महत्त्व के नहीं हैं।

इस समय जहाँ मंडोर नामक गाँव बसा है, वहाँ पर एक मसजिद भी है। उसमें सुलतान फीरोजशाह (द्वितीय) के समय का एक लेख लगा है। इससे इस मसजिद का वि० सं० १३५१ में, उक्त बादशाह के मंडोर पर चढ़ाई करने के समय बनाया जाना प्रतीत होता है।

मंडोर से लगभग आध मील पूर्व, रेलवे स्टेशन के पास पहाड़ पर खुदी हुई एक छोटी सी बावली है। इसे वि० सं० ७४२ में ब्राह्मण चणक के पुत्र माधु ने बनवाया था। इस लेख में किसी राजा का नाम नहीं है। इसी के पास पहाड़ में ८½ फुट लंबे और १½ फुट चौड़े स्थान में नौ मूर्तियाँ खुदी हैं। इनमें पहली गणेश की और अन्य आठ अष्ट-मातृकाओं की हैं। ये संभवतः उक्त बावली की प्रतिष्ठा के समय खुदवाई गई थीं। इसी के पास उक्त पहाड़ी में २½ फुट × २ फुट के घेरे में आसन मारे बैठी हुई सूर्य की मूर्ति बनी है। यह भी आठवीं शताब्दी की ही प्रतीत होती है।

कहते हैं कि मंडोर पर पहले नागवंशियों का राज्य था। इसी से यहाँ पर के एक कुंड को नागकुंड, एक बरसाती नाले को नागादरी (नदी) और यहाँ के पहाड़ी सिलसिले को नाग पर्वत या भोगिशैल कहते हैं। नागों के बाद यह परमार नरेशों की राजधानी बना। इनके पश्चात् यहाँ के शासक प्रतिहार (पड़िहार) हुए। इनका शासन वि० सं० १४५१ तक रहा। तदनंतर यहाँ पर राठोड़वंशी राव चूंडा का अधिकार हुआ। वि० सं० १५१६ तक यह उनकी और उनके वंशजों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी राजधानी रहा। इसके बाद इसी वर्ष राव चूंडा के पौत्र राव जोधा जी ने मारवाड़ की नई राजधानी जोधपुर की स्थापना की।

नागवंशियों और परमारों के समय के तो कोई लेख आदि यहाँ से नहीं मिले हैं, परंतु प्रतिहार (पडिहार) बाउक के लेख का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। जोधपुर से २२ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित घटियाला नामक गाँव से मिले दो लेखों में भी प्रतिहार कक्कुक का मड्डोदर (मंडोर) में एक स्तंभ बनाना लिखा है।

मंडोर से एक लेख-खंड और मिला है, इससे भी यहाँ पर प्रतिहारों का राज्य रहना पाया जाता है।

इसी प्रकार यहाँ से नाडोल के चौहान सहजपाल का भी एक टूटा हुआ लेख मिला है। इसमें एक गाँव के दान का उल्लेख है। सहजपाल का समय वि० सं० १२०३ के निकट आता है।

इनके अतिरिक्त, मंडोर के जिस बगीचे का उल्लेख पहले किया जा चुका है उसमें जोधपुर के राठोड़ नरेश राव मालदेव (वि० सं० १५८९—१६१९) से लेकर महाराजा अजितसिंह (वि० सं० १७६३—१७८१) तक के देवल (स्मारक) भी दर्शनीय हैं। इसी प्रकार यहाँ पर दो दालान भी बने हुए हैं। इनमें से एक में देवियों की और अश्वारूढ़ वीरों की तथा दूसरे में देवताओं की बड़ी बड़ी मूर्तियाँ पहाड़ काटकर बनाई गई हैं। परंतु इस समय इन मूर्तियों पर चूने का पलस्तर चढ़ा हुआ है और रंग का काम भी किया हुआ है। इनमें वीरों की मूर्तियोंवाला दालान वि०सं० १७७१ में महाराजा अजितसिंह ने और देवताओंवाला उनके पुत्र महाराजा अभयसिंह (वि० सं० १७८१—१८०६) ने बनवाया था।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिश्रबंधुविनोद की भूलें

[श्री अगरचंद नाहटा]

हिंदी साहित्य के इतिहास की सबसे अधिक सामग्री एक साथ संकलित करने का श्रेय मिश्रबंधुओं को है। काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज के विवरणों एवं अन्य प्राप्त साधनों का अध्ययन एवं आलोड़न करके उन्होंने 'मिश्रबंधुविनोद' नामक ग्रंथ चार भागों में प्रकाशित किया। हिंदी साहित्य के संबंध में सबसे अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये आज भी इसकी उपयोगिता एवं उपादेयता निर्विवाद है; क्योंकि हिंदी साहित्य के इतिहास के नाम से जितने ग्रंथ अद्यावधि प्रकाशित हुए हैं, सबका मुख्य आधार यही ग्रंथ है। हमारे अन्य इतिहास-ग्रंथों में केवल चुने हुए कवियों एवं ग्रंथों का ही निर्देश है किंतु इसमें, वे जितने भी प्राप्त हो सके, सब विस्तृत रूप में संगृहीत है; इसलिये इसका महत्त्व और भी अधिक है। यह कहना अनुचित न होगा कि मूल सामग्री के संबंध में हमारे पिछले इतिहासकारों ने स्वतंत्र शोध करने का श्रम बहुत कम उठाया और वे अन्य लेखकों पर ही अधिक निर्भर रहे। फलतः बहुत से ऐसे कवियों और ग्रंथों का उल्लेख उनमें आया ही नहीं जिनका होना परम आवश्यक था; और कितने ही ऐसे कवियों और ग्रंथों का उल्लेख कर दिया गया जिनका कोई महत्त्व नहीं। अर्थात् कई बड़े बड़े कवियों और महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का तो हमारे इतिहास-लेखकों को पता तक नहीं, और जिनके केवल दो-चार पद्य ही उपलब्ध हैं उनका निर्देश कर दिया गया है। यही नहीं, कई ऐतिहासिक अशुद्धियाँ और भद्दी भूलें जो 'शिवसिंहसरोज' और 'मिश्रबंधुविनोद' में पाई गईं, आजतक ज्यों की त्यों चली आ रही हैं; क्योंकि लेखकों ने ग्रंथों को न स्वयं देखा न उनके संबंध में कोई खोज-जाँच की। हिंदी साहित्य के लिये यह गौरवास्पद नहीं है।

हमारे साहित्य के इतिहास-ग्रंथों का प्रधान स्रोत मिश्रबंधुविनोद बहुत परिश्रम से संकलित किए जाने पर भी उसमें बहुत सी अशुद्धियाँ रह गई हैं। यद्यपि इस ग्रंथ का अच्छा आदर हुआ और इसके तीन-तीन संस्करण भी प्रकाशित हुए, किंतु बाद के संस्करणों में भी इनका संशोधन नहीं किया गया। अतः बिना जाँच के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे आधार मानते चलने से भूलों और भ्रांतियों की परंपरा बढ़ती चलेगी। इस कारण आज इस ग्रंथ का भलीभाँति संशोधन आवश्यक है। यह कार्य जितना उत्तरदायित्वपूर्ण है उतना ही श्रमसाध्य भी।

यहाँ इन अशुद्धियों के संबंध में यह कह देना आवश्यक है कि इनके लिये संपूर्ण रूप से मिश्रबंधुओं को ही उत्तरदायी समझना उचित नहीं, क्योंकि उन्होंने मुख्य रूप से काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित पुस्तकों के खोज-विवरणों एवं शिवसिंहसरोज का सहारा लिया है, और 'विनोद' में भूलें इन ग्रंथों से ही आई हैं। परंतु इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि इन ग्रंथों का आधार लेने के पूर्व इनकी जाँच-पड़ताल कर लेना आवश्यक था।

हिंदी साहित्य के वीरगाथा-काल पर विचार करते हुए मैंने अपने 'वीर-गाथा काल की रचनाओं पर विचार'[1] शीर्षक लेख में मिश्रबंधुविनोद में उल्लिखित उस काल के ग्रंथों के संबंध में चर्चा की थी और इस ग्रंथ को शताधिक भूलों के संबंध में स्वतंत्र लेख में विचार करने का संकेत किया था, किंतु समय और आव-श्यक साधन के अभाव में तद्विषयक लेख पूर्ण न हो सकने के कारण प्रस्तुत लेख में केवल साधारण रूप से दृष्टि में पड़नेवाली भूलों पर ही प्रकाश डाला जा रहा है। अभी यह कार्य अपूर्ण ही है और एक व्यक्ति से पूरा होने वाला भी नहीं, अतः भिन्न-भिन्न कवियों, ग्रंथों एवं धाराओं के संबंध में विवेचना उनके संबंध में विशेष ज्ञान रखनेवाले अधिकारी विद्वानों द्वारा ही होना सर्वथा उचित है।

'विनोद' की भूलों पर विचार करने के पूर्व यहाँ कुछ आवश्यक बातों का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है, जिनपर आगामी संस्करण में संशोधन और परिवर्तन के समय ध्यान रखा जाना उपयोगी होगा।

(१) जब प्राचीन हिंदी ग्रंथों की खोज का कार्य आरंभ हुआ था उस समय गुजराती और राजस्थानी को भी इसी भाषा के अंतर्गत मान कर, अथवा तथाविध परीक्षण के अभाव के कारण, इन भाषाओं के ग्रंथों एवं कवियों का भी विवरण संगृहीत कर लिया गया था। प्रारंभिक कार्य की दृष्टि से यह अनुचित नहीं था, किंतु आज इन दोनों भाषाओं के साहित्य की स्वतंत्र खोज हो रही है। गुजराती साहित्य के तो स्वतंत्र इतिहास-ग्रंथ प्रकाशित भी हो चुके हैं और राजस्थानी साहित्य का इतिहास भी तैयार हो रहा है। अतः अब आवश्यक है कि भाषा की दृष्टि

१—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ४७ अंक ३-४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से छाँटकर विनोद में केवल हिंदी भाषा के ही ग्रंथों का निर्देश किया जाय। यदि अन्य ग्रंथों को रखा भी जाय तो स्वतंत्र प्रकरण में।

(२) इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि कवियों की रचनाओं के उद्धरण, खोज में वे जिस काल की पाई जायँ उसी काल की भाषा के उद्धरणों के साथ दिए जायँ; केवल टिप्पणी में शुद्ध समय का संकेत कर देना पर्याप्त नहीं।[२]

(३) प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण लेना बहुत सहज काम नहीं है और साधारण लेखकों के लिये यह संभव नहीं कि वे सभी ग्रंथों का शुद्ध विवरण ले सकें। अतः उनपर निर्भर न रहकर यह आवश्यक है कि ग्रंथ-संग्रहालयों[३] में स्वयं जाकर ग्रंथों का निरीक्षण करके इतिहास-लेखक विद्वानों द्वारा पूर्व विवरण शुद्ध किए जायँ तथा नवीन प्राप्त ग्रंथों के विवरण भी जोड़े जायँ।

(४) 'विनोद' में कौन सी बात किस आधार पर लिखी गई, इसका उल्लेख नहीं किया गया है। इस बृहद् ग्रंथ को प्रामाणिक बनाने के लिये आधारभूत निर्देश पद पद पर दिए जाने चाहिएँ जिससे आवश्यकता पड़ने पर मूल आधार की जाँच की जा सके।

इस ग्रंथ के परिशिष्ट में केवल कवियों की अनुक्रमणिका दी गई है, परंतु उसके साथ ग्रंथों की अनुक्रमणिका का होना भी अत्यंत आवश्यक है।

(३) मिश्रबंधुविनोद के चतुर्थ भाग में आधुनिक लेखकों और कवियों का परिचय दिया गया है। कुछ अधिकारी विद्वानों के कथनानुसार इस भाग

२—यथा श्री राहुल सांकृत्यायन की "हिंदी काव्यधारा" में गोरखनाथ का समय ई० ८४५ मानकर उनके नाम से उपलब्ध रचनाओं का उद्धरण दिया गया है और टिप्पणी में लिखा है कि गोरखबानी की भाषा नवीं सदी नहीं, पंद्रहवीं-सोलहवीं की है। इसी प्रकार बारहवीं शताब्दी में पृथ्वीराजरासो के वर्तमान रूप के उद्धरण देकर टिप्पणी में उसे "सोलहवीं शताब्दी से पहले का नहीं" माना गया है।

३—देश में अब हस्तलिखित पुस्तकों के अनेक संग्रहालय हैं। काशी नागरीप्रचारिणी सभा में तो अच्छा संग्रह है ही, प्रयाग म्युनिसिपल म्युजियम में चौदह हजार पुस्तकें हैं। विद्याविभाग (काँकरोली), भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, रॉयल एशियाटिक सोसायटी, गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी तथा फॉर्बस् गुजराती सभा में भी बहुत से हस्तलिखित ग्रंथ हैं। इनमें कई के सूचीपत्र भी प्रकाशित हैं। इन सबका तथा अन्य प्राप्य साधनों का समुचित उपयोग होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भी बहुत सी त्रुटियाँ हैं, परंतु आधुनिक काल के संबंध में लेखक का विशेष अध्ययन न होने के कारण प्रस्तुत लेख में केवल तीन ही भागों की त्रुटियों पर विचार किया गया है।

(६) वीरगाथा-काल की रचनाओं पर यद्यपि लेखक द्वारा पहले भी विचार किया जा चुका है[४] तथापि 'विनोद' की आलोचना के प्रसंग में जो नवीन ज्ञातव्य प्राप्त हुए, उनपर भी संक्षेप में यहाँ प्रकाश डाला गया है।

(७) अलग अलग एक-आध रचनाओं के संबंध में 'विनोद' की भूलों पर विचार पहले भी कई विद्वान् कर चुके हैं, परंतु यह संभव है कि लेखक को उन सबकी सूचना न होने के कारण उनका समुचित उल्लेख इस लेख में न हो सका हो।

अब भूलों का निर्देश और विवेचन 'विनोद' की पृष्ठ-संख्या सहित नीचे किया जाता है। इसमें भूलों की क्रम-संख्या के बाद ही पृष्ठ-संख्या दी गई है। उसके बाद के कोष्ठक में दी हुई संख्या कवि की नाम-संख्या है।

'विनोद' भाग १ (तृतीय संस्करण)

(१) पृष्ठ ९९, २००—हिंदी भाषा की उत्पत्ति का समय संवत् ७०० के लगभग माना गया है और पुंड या पुष्य[५] को जिसका समय संवत् ७७० दिया है, हिंदी का पहला कवि लिखा गया है। ये दोनों ही बातें शुद्ध नहीं हैं। लेखक के नम्र मतानुसार उस काल में अपभ्रंश भाषा ही सर्वसाधारण की सामान्य भाषा थी जिसका प्रचार प्रायः समस्त उत्तरी भारत में था। उसी भाषा से आधुनिक प्रांतीय भाषाओं का विकास हुआ है, अतः उसे ऐसी प्रत्येक प्रांतीय भाषा का प्राचीन रूप या मूल कहा जा सकता है। इस कारण जब से हिंदी का रूप अन्य भाषाओं से कुछ भिन्न रूप में विकसित देखा जाय, वही समय हिंदी की उत्पत्ति का ठीक समय माना जाना चाहिए। अतः यह आवश्यक है कि अपभ्रंश से विकसित प्रांतीय भाषाओं के प्राचीन रूपों का तुलनात्मक अध्ययन कर हिंदी का

४—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ४४, अंक ४

५—श्री राहुल सांकृत्यायन के "हिंदी काव्यधारा" ग्रंथ में हिंदी का प्रथम कवि सरहपा को तथा उसका समय वि० सं० ८१७ माना गया है। पुंड या पुष्य पहला कवि न सही, पर हिंदी का उत्पत्ति-काल इनके अनुसार भी लगभग वही आ बैठता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषता, नवीनता तथा अन्य भाषाओं से उसकी विभिन्नता की परीक्षा करके उसकी उत्पत्ति के समय का निश्चय किया जाय।

पृष्ठ २०० पर लिखा है—"राजा मान सं० ७७० में अवंती में अच्छे संस्कृत काव्यवेत्ता थे। उनके यहाँ पुंड अथवा पुष्य बंदीजन ने दोहों में अलंकार ग्रंथ बनाया।"

पुंड या पुष्य नामक किसी हिंदी कवि की किसी भी रचना का पता आज तक नहीं चला है। ऐसी अवस्था में उसे हिंदी का पहला कवि तथा उसका समय सं० ७७० मानते चलना किसी प्रकार उचित नहीं। लेखक को जहाँ कहीं भी हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में पुष्य का नामोल्लेख मिला वहाँ वह अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदंत को ही संकेत करता प्रतीत हुआ, जिसका वास्तविक समय कवि के निर्देशानुसार ही शक सं० ८८७ (वि० १०२२) निश्चित है। श्री हीरालाल जैन ने भी अपने 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य'[६] शीर्षक लेख में यही अनुमान किया है।

(२) १०२, २००—"सं० ८६० के लगभग किसी ब्रह्मभाट कवि ने खुमानरासा नामक ग्रंथ महाराजा खुमान की प्रशंसा में रचा।" परंतु इस ग्रंथ को जैन कवि दौलत विजय (दलपत) ने सं० १७३० और १७६० के मध्य बनाया, इस संबंध में विस्तृत रूप से विचार किया जा चुका है।[७] कुछ विद्वानों का यह मत है कि दलपत ने मूल ग्रंथ को ही परिवर्द्धित रूप दिया, पर इस कथन का भी कोई आधार नहीं है।

(३) १०२, १६६, २००—"भाग्यवश सं० १९७६ की खोज में भुवाल कवि-कृत भगवद्गीता नामक सं० १००० का रचा हुआ एक ग्रंथ मिला है जिसमें समय साफ दिया है।"

इसमें संवत् अशुद्ध पढ़ने के साथ साथ इसकी भाषा की अर्वाचीनता पर भी बिलकुल ध्यान नहीं दिया गया, जो सतरहवीं शती की है। इसके विपरीत पृष्ठ २०० पर भुवाल की भगवद्गीता के संबंध में लिखा है--"इस ग्रंथ-रत्न से हिंदी भाषा के इतिहास की प्राचीनता निश्चयपूर्वक सिद्ध हुई है। कवि युक्तप्रांत का होने से

६—ना० प्र० प०, वर्ष ५०, अंक ३-४ पृ०, ११४

७—"खुमान रासो का रचनाकाल और रचयिता"—वही, वर्ष ४४, अंक ४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा में राजपूतानी आदि के शब्द नहीं हैं जिससे भाषा में कुछ नवीनता का संदेह उठना संभव था। किंतु ग्रंथ में समय साफ दिया है और ध्यानपूर्वक देखने से भाषा भी असंदिग्ध है।" परंतु स्वर्गीय इतिहासज्ञ डा० हीरालाल ने अपने 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज'[८] शीर्षक लेख में बहुत पहले यह भलीभाँति सिद्ध कर दिया है कि भुवाल की भगवद्गीता का समय सं० १००० नहीं, प्रत्युत सं० १७०० है।

(४) १०२, २०१—सं० ११३७ वाले कालिंजर के राजा नंद को भी कवि माना गया है और पृष्ठ २०१ पर उसका समय सं० १०७५ लिखा है।

यह भी उल्लेख है कि उसने सुलतान महमूद को हिंदी में छंद लिखकर भेजा था। इसी प्रकार पृष्ठ १०२-२०२ पर लिखा है कि ११६४ से ११९६ तक महाराष्ट्र में कल्याणी नगर में चालुक्यवंशी सोमेश्वर नामक राजा हुआ। यह सर्वज्ञ भूप कहलाता था। इसने हिंदी में भी कविता की। वहीं पर सं० ११६० के लगभग मसऊद और कुतुबअली दो मुसलमान कवियों का उल्लेख है, यद्यपि पृष्ठ २०२ पर मसऊद का समय ११८० के लगभग लिखा है।

उपर्युक्त तीनों उल्लेखों का कोई भी आधार आज तक ज्ञात नहीं है। नंद, सोमेश्वर, मसऊद और कुतुबअली में से किसी की रचना की एक भी पंक्ति उपलब्ध नहीं है। अतः बिना प्रमाण के ही इन्हें लेकर केवल संख्या बढ़ाते चलना उचित नहीं प्रतीत होता। हाँ, भविष्य में प्रमाण मिल जाने पर इनका उल्लेख करने में कोई बाधा नहीं।

(५) १०२, २०४—संवत् ११९१ में साईंदान चारण ने समतसार ग्रंथ बनाया।

इस ग्रंथ का नाम समंतसार नहीं, प्रत्युत संमत (संवत्) सार है और इसमें भड्डरी की भाँति वर्षा-संबंधी फलाफल का निर्देश है। इसकी रचना उन्नीसवीं शताब्दी की होने के विषय में मैंने अपना अनुमान पाँच वर्ष पूर्व प्रकट किया था[९], किंतु अब पूने के भंडारकर इंस्टीट्यूट से इसकी हस्तलिखित प्रति मँगवा कर इसके संबंध में अंतिम निर्णय भी कर लिया है। इसके द्वारा रचना-काल ११९१ नहीं, १८९१ निश्चित होता है। यहाँ उक्त प्रति से आवश्यक अंश उद्धृत किए जाते हैं,

---

८—ना० प्र० पत्रिका, भाग ७ अंक ३, पृ० २९७-९८

९—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ४४ अंक ४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिनसे स्पष्ट होगा कि 'विनोद' में भूल इसके संवत् 'अष्टादस अकाणवै' के 'एकादस अकाणवै' पढ़े जाने के कारण हुई है। जिस खोज-विवरण अथवा हस्तलिखित प्रति के आधार पर ११९१ लिखा गया उसमें लिखने की अशुद्धि रह जाना असंभव नहीं, परंतु ग्रंथ की भाषा पर भी तो विचार करना चाहिए था।

संमतसार

श्री गणेशाय नमः। अथ संमतसार लिख्यते ॥

छप्पय—कनक क्रीट मणि जटत हेमश्रुति कुण्डल सोभित।
बदन प्रभा सुभ सदन रदन रवि जनौ ऑपित।
भुज विसाल सीसभाल भाल गल मोतिन विराजत।
मनोहर चाल मुराल लालपद नूपुर बाजित।
रिद्धिसिद्धि रसाल मम दीजिए सकल मनोरथ सिद्धिबर।
गौरीनंद हरिमंद बुध्य कर उदय बोध आनंद उर ॥१॥*

× × ×

मेघमाल सासत्र को अरु जोतस की तंत।
जिन देखत आगम कथै संमतसार ये ग्रंथ ॥६॥

× × ×

इति श्री संमतसार ग्रंथे मेघमाला अनुसारेण भाषा कवि साईंदान विरचिते कार्तिकफल कथनो नाम प्रथमो उपदेस ॥१॥

× × ×

मेघमाल मथि कै रच्यौ द्वादस मास विधान।
संमतसार इस ग्रंथ को कह्यो कवि साईंदान ॥१२॥

---

* भाषा की तोड़-मरोड़ और छंदोभंग लिपिकार के कारण है। यथा इस छप्पय में, जिसका मूल रूप इस प्रकार रहा होगा—

कनक क्रीट मनिजटित हेम स्रुति कुंडल सोभित।
बदन प्रभा सुभ सदन रदन रवि जानौ ओपित ॥
भुज बिसाल ससि भाल माल गल मोतिन राजत।
मनहर चाल मराल लाल पद नूपुर बाजत ॥
रिधि सिधि रसाल मम दीजिए, सकल मनोरथ सिद्धिवर।
गौरी नंदन हरि मंद बुधि उदय बोध आनंद उर ॥

—सं०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उतन आदपुर वाटको बसिबो सरसि सुथान।
गोत्र सिलगा जानिए गिरधर पिता बखान ॥१३॥
कविजन पिंडतईया (?) खिमा करो सब संत।
जथा सकति मोमति लघु भाख्यो भाषा ग्रंथ ॥१४॥
संमत अष्टादस अकाणवै मधुसूदन है मास।
नरहरि चौदसि बार बुध कीनौ ग्रंथ प्रकास ॥१५॥
संमतसार इस ग्रंथ कौ पढ़ै गुनै नर कोय।
अगम कथै सो ही पुरुष जगत महाजस होय ॥१६॥
संमतसार इन ग्रंथ को कियो कवि उनमान।
श्लोक गुन सत पंच नव ग्रंथाग्रंथ प्रमान ॥१७॥
इति श्री संमतसार ग्रंथ संपूर्णम् ॥

(पत्र ४३ पं० ९ अ० १८। भां० रि० इं० सं० $\frac{४४४}{१८९५-९८}$)

(६) १०२, २०४—"अकरम फैज ने १९०५ से १९६८ पर्यंत वर्नमाल नामक ग्रंथ रचा तथा वृत्तरत्नाकर का भाषानुवाद किया। यह कवि जयपुर-नरेश के यहाँ था।"

अभी तक उक्त ग्रंथों के अनुवाद तो देखने में नहीं आए, न उनके उल्लेख के आधार का ही यहाँ निर्देश है, परंतु पृ० २०४ पर कवि के आश्रयदाता जयपुर-नरेश महाराजा माधवसिंह का उल्लेख है, अतः इसका समय अठारहवीं शताब्दी स्वतः सिद्ध हो जाता है।

(७) पृ० १०३, २०७—कवि चंद और उनकी कृति पृथ्वीराजरासो के संबंध में अनेक बार विद्वानों द्वारा मत प्रकट किए जा चुके हैं,[१०] अतः यहाँ चर्चा अनावश्यक है।

(८) १०४, २०६—"महोबे का जगनिक चंद का समकालीन था। कहते हैं

१०—इस संबंध में निम्नलिखित लेख भी द्रष्टव्य हैं—

१—पृथ्वीराज रासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ—'राजस्थानी', वर्ष ३ अंक २

२—पृथ्वीराज रासो की एक महत्वपूर्ण प्रति—'विशालभारत', जून १९४२

३—पृथ्वीराज रासो का रचना-काल—वही, दिसंबर १९४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि उसने सबसे पहले आल्हा की रचना की जो अब तक ठौर ठौर ग्रामों में गाया जाता है। पर इस समय के आल्हा में जगनिक का शायद एक शब्द भी नहीं मिलता, केवल ढंग उसका है।"

ग्राम ग्राम में गाए जाने के कारण यह सर्वथा संभव है कि उसकी भाषा आदि में अत्यधिक परिवर्तन हो गया हो, परंतु उसमें मूल का कुछ भी न रह जाय, यह एक तो असंभव प्रतीत होता है, दूसरे यदि ऐसा हुआ ही हो तो फिर उसे जगनिक की रचना या 'उसी का ढंग' कहने का आधार क्या ?

(९) १०४,२०९—केदार तथा बारदर वेणा, इन दोनों कवियों की किसी भी रचना का यहाँ निर्देश नहीं है, न उल्लेख का आधार ही बताया गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भट्ट केदार के जयचंद्रप्रकाश के रचे जाने का उल्लेख दयालदास की ख्यात में बतलाया है, परंतु वहाँ उल्लेख मात्र ही है, ग्रंथ का पता नहीं है। अतः इसके संबंध में कुछ निर्णय नहीं किया जा सकता।

बारदर वेणा का तो अभी तक कहीं उल्लेख भी नहीं मिला, नाम भी गलत मालूम होता है।*

(१०) १०४,१६७,२१५—सं० १२०० में "मोहनलाल द्विज ने पत्तरिन नामक ग्रंथ रचा।"

इस भ्रांति का निरसन भी डा० हीरालाल ने पूर्वोल्लिखित भुवाल की रचना के प्रसंग में ही कर दिया है।[११] वास्तव में इसका समय १८०० है, 'ठारह' को 'बारह' पढ़ने से यह भूल हुई है।

(११) १०४,२१६—"कुमारपालचरित्र की रचना १३०० के लगभग हुई थी", यह उल्लेख सोमप्रभसूरि रचित कुमारपालप्रतिबोध के लिये ही जान पड़ता है, परंतु वह हिंदी में न होकर प्राकृत में है। अपभ्रंश के कुछ संदर्भ उसमें अवश्य पाए जाते हैं, पर उसका संबंध हिंदी से कम, गुजराती से अधिक है। इस ग्रंथ का रचनाकाल सं० १२४१ है और यह गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज से प्रकाशित भी है।

(१२) १०५, १६७, २२३—"संवत् १३५४ में नरपति नाल्ह ने बीसलदेव रासा बनाया।" पृ० २२३ पर इस संवत् के विषय में लिखा है—"नरपति नाल्ह ने

---

* बारदर 'बारहट' तो नहीं है ?—सं०।

११—ना० प्र० पत्रिका, भाग ७, अंक ३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका समय १२२० लिखा है पर जो तिथि उन्होंने बुधवार को ग्रंथ-निर्माण की लिखी है वह १२२० शाके में पड़ती है।" परंतु नरपति नाल्ह ने १२२० कहाँ लिखा है यह अज्ञात है। कई प्रतियों में १२१२ या १२७२ अवश्य मिलता है जिनमें तिथि-गणना के हिसाब से श्री गौरीशंकर ओझा ने पिछले को ही ठीक माना है।[12]

इस रचना की सं० १६६९ से पहले की कोई प्रति प्राप्त नहीं है। भाषा की दृष्टि से यह सोलहवीं शताब्दी की जान पड़ती है।[13]

१३—१०५,२२४—"१३५५ के लगभग नल्लसिंह ने विजयपाल रासा रचा।" विजयपाल रासा की रचना सं० १३५५ में मानने का कोई आधार नहीं है, और न इसकी पूरी प्रति ही अभी तक उपलब्ध हुई है। मुंशी देवीप्रसाद की कवि-रत्न-माला (भाग १, पृ० २२) तथा "विशाल भारत" (अक्टूबर, १९४४) में "महाराज विजयपाल और उनका रायसा" शीर्षक लेख में प्रकाशित इसकी भाषा के उद्धरणों से इसका समय सत्तरहवीं शती के बाद का ही निश्चित होता है।

१४—१०५, २२५ (१८)—"संवत् १३५७ में शार्ङ्गधर कवि ने हमीरकाव्य, हमीररासा और शार्ङ्गधरपद्धति बनाई।"

जहाँ तक ज्ञात है शार्ङ्गधर ने हिंदी में कोई ग्रंथ नहीं रचा। श्रीरामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि इनके कुछ पद्य पिंगलसूत्र में मिले हैं, परंतु पिंगलसूत्र में के पद्य शार्ङ्गधर के नहीं, जज्जल के हैं जो श्री राहुल सांकृत्यायन की "हिंदी काव्यधारा" में प्रकाशित हुए हैं। ये पद्य हम्मीररासो के हैं, यह केवल अनुमान है। ये फुटकर प्रासंगिक पद्य के रूप में ही पाए जाते हैं।

१५—१०५, २२६ (१९)—"इसी समय अमीर खुसरो ने तत्कालीन प्रचलित हिंदी में कविता की और खड़ी बोली में भी। खड़ी बोली के प्रथम कवि खुसरो ही कहे जा सकते हैं।" खुसरो के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं की भाषा उस काल

१२—बीसलदेव रासो का निर्णय-काल, ना० प्र० प०, भाग ४५ अंक २

१३—द्रष्टव्य—(क) बीसलदेव रासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ

—"राजस्थानी" वर्ष ३, अंक ३

(ख) बीसलदेव रासो के संबंध में कुछ नवीन ज्ञातव्य

—"साहित्य संदेश", भाग ८, अंक ३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दृष्टि से नितांत संदिग्ध है; अतः जब तक कोई प्रामाणिक प्राचीन प्रति न प्राप्त हो, तब तक उक्त कथन मान्य नहीं हो सकता।

१६—१०५, २२७—"मुल्ला दाऊद ने १३८५ में नूरकचंदा की प्रेम कहानी लिखी।" मेरे मित्र श्री रावतमल सारस्वत को इसकी जो प्रति मिली है उसके अनुसार इसका नाम 'चंदायन' तथा इसका रचना-काल हि० ७८१ है। इसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"बरस सात सै होइ एक्यासी। तिहि याह कविसर सेउ भासी॥
साहि पीरोज ढिली सुलताना। जौना साहि जीत बखाना॥
दल्यौ नयरु बसे नवरंगा। उपरि कोट तले बहे गंगा॥

हि० ७८१ का वि० वर्ष १४३१ होता है; यही उसका रचना-काल होगा, १३८५ नहीं। फीरोजशाह का समय भी पंद्रहवीं शती है।

१७—१७७, २४६ (४५)—"१५३७ में चरणदास ने ज्ञानस्वरोदय ग्रंथ बनाया।" यह भूल शिवसिंहसरोज के अनुकरण के कारण हुई है। अन्यथा 'विनोद' के ही दूसरे भाग में पृ० ६०१ पर चरणदास का जन्म १७६० और मृत्यु १८३८ में लिखित है।[१४] ज्ञानस्वरोदय में इसका समय १८१७ बतलाया गया है।

१८—११६, ३६५—"लालचंद (१६४३) ने हिंदी में पहला इतिहास-ग्रंथ बनाया।" इसमें ग्रंथ और उसके रचयिता दोनों का नाम शुद्ध नहीं है। 'विनोद' के ही पृष्ठ ३६५ पर लालदास रचित इतिहाससार (१६४३) का उल्लेख है। यथार्थ में यह महाभारत का पद्यानुवाद है और कर्ता लालदास ही हैं।

१९—११८, १६१, ४०७—"जटमल खड़ी बोली गद्य का द्वितीय लेखक है। इसने गोरा-बादल की कथा नामक ग्रंथ में उसी का प्राधान्य रखा है।" जटमल की 'गोरा बादल की कथा' वस्तुतः गद्य में नहीं, पद्य में है और उसका रचना-काल सं० १६८० नहीं, १६८६ है।[१५]

१४—हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (नागरीप्रचारिणी सभा; पृ० ४३) में भी यही उल्लेख है।

१५—द्रष्टव्य—

(क) कविवर जटमल नाहर और उसके ग्रंथ ("हिंदुस्तानी", भाग ८, अंक २)

(ख) जटमल रचित गोराबादल कथा (ना० प्र० पत्रिका, भाग १४, अंक ४)

(ग) कुँए भाँग ("विशाल भारत", वर्ष १२, अंक ६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०—१३०—"भूधरदास एक प्रसिद्ध जैन कवि थे। इन्होंने साधारण ग्रंथों के अतिरिक्त पुष्पपुराण नामक एक जैन पुराण की भी रचना की।" इसमें 'पुष्पपुराण' नाम अशुद्ध है, 'पार्श्वपुराण' होना चाहिए जिसकी रचना सं० १७८६ में होने का उल्लेख 'विनोद' के द्वितीय भाग में पृ० ५६८ पर हुआ है।

२१—२१५ (१२/१) में अनन्यदास का कविता-काल १२७५ के पूर्व लिखा है परंतु पृ० २०७ पर इनके अक्षर अनन्य होने का उल्लेख है जिनका समय हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के विवरण के अनुसार सं० १७७० से १७५४ तक है। अतः यहाँ '१२७५ के पूर्व' कविता-काल लिखना निरर्थक है।

२२—२१६ (१३/१)—कवि का नाम उसकी कृति में धम्म (धर्म) ही है, धर्मसूरि नहीं।[१६]

२३—पृ० २३० (२१/४)—सिद्धसूरि रचित शिवदत्तरास १४२३ का बतलाया गया है किंतु इसकी रचना १६२३ में हुई। इसका अपर नाम 'प्रापतीयानो रास' भी है।[१७]

(२१/५)—कलिकाल रास का समय १४२६ नहीं १४८६ है।[१८]

२४—२६५ (५३/१)—अजबेश भट्ट को सं० १५७० में जोधपुर के राजा वीरभानु का आश्रित लिखा गया है, परंतु जोधपुर में इस नाम के कोई राजा हुए ही नहीं। अतः यह अशुद्ध है। पृ० ३४१ पर वीरभानुसिंह को रीवाँ-नरेश लिखा है और रचना-काल १६०० दिया है। ह० हिं० पु० विवरण के अनुसार एक ही अजबेश रीवाँ-नरेश जयसिंह तथा विश्वनाथसिंह के आश्रित, सं० १८६२ के लगभग हुए। 'विनोद' में इनके ग्रंथ का नाम नहीं दिया है, पर विवरण में 'बघेलवंश वर्णन' तथा 'बिहारी-सतसई की टीका' का निर्देश है। सं० ६६ में फिर इन्हीं का निर्देश है।

१६—इस काल के अन्य जैन कवियों के लिये द्रष्टव्य—

'वीरगाथा काल का जैन साहित्य' शीर्षक लेख (अगरचंद नाहटा; ना० प्र० प०, भाग ५०, अंक १-२)

१७—जैन गुर्जर कविओ, भाग ३ पृ०, ६७८-८०

१८—वही, पृ० ४२९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२५—३१६ (८२)—ढोलामारू की चौपाई के कर्ता का नाम हरराज अशुद्ध है। इसका रचयिता जैन कवि कुशललाभ है। हरराज के लिये तो इसकी रचना हुई थी। हरराज को यादवराज का आश्रित लिखा है; किंतु वास्तव में जैसलमेर के राजकुमार हरराज ही, जिसके लिये इसकी रचना हुई, यादवराज (यदुवंशी) थे।

२६—३१७(७६)—अकबरी दरबारवाले टोडरमल की रचना का जो उद्धरण दिया गया है वह वास्तव में उनका नहीं, जैन विद्वान् टोडरमल (उन्नीसवीं शती–पृ० ७६६ नं० ६०६) की आत्मानुशासन-टीका के मंगलाचरण का पद्य है।

२७—३२८ (८२)—पृथ्वीराज रचित कृष्णरुक्मिणीबेलि और कृष्ण-रुक्मिणी-चरित्र को दो भिन्न रचनाएँ माना गया है, वास्तव में दोनों एक ही हैं। रचना-काल भी १६१७ नहीं, १६३८ है।

२८–३३६ (८९/१)—मुनि आनंद (सं० १५६२) रचित 'विक्रमवापर चरित्र' का उल्लेख है, परंतु ग्रंथ के नाम में 'वापर' की जगह 'खापर' चाहिए। इसे राजशील ने १५६३ में बनाया। मुनि आनंद का इसी संवत का '२४ जिनस्तवन' अवश्य उपलब्ध है।

२९—३४० (६३)—सहजसुंदर रचित 'रत्नसागर' ग्रंथ-नाम अशुद्ध है, वह 'रत्नसार' होना चाहिए।

३०—३४२ (१०६)—हरिराय (वल्लभी) के ग्रंथों में ढोलामारू की वार्ता का भी नाम है, पर जैसा पहले कहा जा चुका है, यह कुशललाभ की रचना है।

३१—३४५ (१३०/१)—रायमल पांडे पृ० ३४३ नं०११४ वाले ही हैं, भिन्न नहीं। केवल भ्रम से ही दो बार निर्देश हुआ है। इस प्रकार की भूलें अनेक हैं।

३२—३४६ (१२६)—रामविनोद के कर्ता का नाम रामचंद्र मिश्र और रचना-काल १६२० बताया गया है, जो अशुद्ध है। स्थान का नाम भी 'भेहरा' के स्थान पर 'सेहरा' लिखा है। यथार्थ में रामविनोद के कर्ता रामचंद्र जैन यति थे। ग्रंथ का रचना-काल १७२० है।[१९]

३३—३७३ (१८६) बनारसीदास की मोक्षपदी, ध्रुववंदना, कल्याणमंदिर भाषा, वेदनिर्णय पंचाशिका और मार्गनाविद्या (विधान) का बनारसीविलास

१९–द्रष्ट०–ना० प्र० पत्रिका, भाग ८ अंक ४ पृ० ४६५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से भिन्न रूप में उल्लेख है, परंतु वास्तव में ये सब बनारसीविलास के ही अंतर्गत हैं।

३४—३९० (१९४)—नारायण भट्ट का जन्म-काल १६९० नहीं, १५८८ वैशाख सुदी १४ है।[२०] विवरण में 'रामलीला' की जगह 'रासलीला' चाहिए।

३५—४०८ (२६३)—गुणसूरि का पूरा नाम गुणसागर सूरि है और उनका ग्रंथ 'ढोलासागर' नहीं 'ढालसागर' है।

जैन ग्रंथकारों तथा ग्रंथों के संबंध में इतनी अधिक अशुद्धियों के कारण का अन्वेषण करने पर ज्ञात हुआ कि दो चार ग्रंथों का उल्लेख तो खोज-विवरणों के आधार पर किया गया है और उनमें अशुद्धियाँ विवरण-लेखकों की भूल से हुई हैं, परंतु शेष सब का आधार श्रीपूर्णचंद्र नाहर का "प्राचीन जैन हिंदी साहित्य" तथा श्री नाथूराम प्रेमी का "हिंदी जैन साहित्य का इतिहास" हैं। इन निबंधों के लिखे जाने के समय जैन साहित्य का भलीभाँति अन्वेषण नहीं हुआ था, पर उसके बाद श्री मोहनलाल देसाई ने महत्वपूर्ण खोजें कर उनका परिणाम अपने 'जैन गुज्जर कविओ' (३ भाग) तथा 'जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास' ग्रंथों में प्रस्तुत किया है।

भाग २ (द्वि० सं०)

३६—४०८ (२६१)—"लूणसागर जैनी ने सं० १६८६ में अंजना सुरी संवाद रचा"। वस्तुतः कर्ता का पुण्यसागर और रचना का 'अंजना सुंदरी रास' है।

३७—४१६ (२९८)—केशवदास चारण के ग्रंथ का विवेकवार्ता नहीं विवेकसार निसाणी है।

३८—४२० (३०१)—हेमराज के ग्रंथों का रचना-काल १६८४ लिखा है, किंतु पंचास्तिकाय वचनिका सं० १७०६ में तथा नयचक्र वचनिका सं० १७२८ में लिखी गई। इसी हेमराज का नं० ३७८/१ में पुनः निर्देश है।

३९—४२४ (३२०)—सादेवदिच्छ सावलङ्गा का दूहा का कर्ता सदलवछ नहीं, केशव कीर्तिवर्धन है; और ग्रंथ का नाम भी 'सदयवछ सावलिंगा रास' है।

४०—४२७ (३४१)—रघुराम के ग्रंथों का रचना-काल सं० १७०१ अशुद्ध है। सभासार की प्रति में उसका रचना-काल १७५७ कवि ने स्वयं दिया है।

२०—"व्रज भारती", वर्ष ४ अंक ४,५,६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४१—४५६ (३७६)—राव रतन राठोर को कवि के नाम में लिखा है, परंतु वास्तव में ग्रंथ उनके संबंध में बना है। कवि का नाम कुंभकरन सांदु है।

४२—४५७ (३७७)—हरीराय कृत छंदरत्नावली आदि का समय १७०९ लिखा है, पर छंदरत्नावली में ही सं० १७६५ स्पष्ट लिखा हुआ है।

४३—४५७ (३६८/१)—हेमराज कवि नं० ३०१ में आ चुका है तथा ग्रंथ सं० ६-७, सितपट और चौरासी बोल, एक ग्रंथ का नाम है।

४४—४६४ (४१७)—जोधपुर के अमरसिंह को चंदकृत रासो की खोज और संकलन करानेवाला लिखा है, पर ये अमरसिंह जोधपुर के नहीं, उदयपुर के राना थे।

४५—४६६ (४२३)—रामचंद्र को साको बनारसवाले लिखना अशुद्ध है। ये जैन यति थे। इनका ग्रंथ, जैसा ऊपर आ चुका है (३२), रायविनोद नहीं, रामविनोद है। रामचंद्र पद्मराग के नहीं, पद्मरंग के शिष्य थे। बनारस यहाँ स्थान का नाम नहीं, प्रत्युत वाणारस वाचक जैन यतियों का पद-विशेष है।

४६—४६१ (४३७)—सुरसुंदरी प्रबंध के कर्ता विजयहर्ष नहीं, उनके शिष्य धर्मवर्धन (धर्मसी) थे।

४७—४६६ (४४६)—धना चौपाई के कर्ता जिनचंद्रसूरि नहीं, उनके आज्ञानुवर्ती कमलहर्ष थे।

४८—५०० (४५४)—मौनी जी नं० ४५२ वाले जनअनाथ ही हैं। विचारमाला टीका नहीं, प्रत्युत मूल ही है जो गद्य में है और जिसकी रचना १७२६ में हुई।

४९—५०५ (४७४/२)—भगवतीदास ने ६७ स्फुट छंद नहीं, प्रत्युत ६७ ग्रंथ बनाए हैं।

५०—५११ (५०३/१)—जिनहर्ष सूरि नं० ४४८/१ वाले जिनहर्ष ही हैं। ये सूरि नहीं थे।

५१—५१३ (५१३)—'हरखचंद साधु' नाम अशुद्ध है। ये ४४८/१ तथा ५०३/१ वाले जिनहर्ष ही हैं।

५२—५१७ (५३३/१)—सौभाग्यविजय आगरा-निवासी नहीं, भ्रमणशील

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन साधु थे। जैन साधु कहीं के 'वासी' नहीं होते। भ्रमण में वे आगरे गए होंगे। तीर्थमाला में जैन तीर्थों का विवरण आगरे से प्रारंभ किया गया है।

५३-५२२ ($\frac{५३३}{२}$)—केवलराम रचित वाणी विलास का रचना-काल १७५६ के स्थान पर १८७५ होना चाहिए।[२१]

५४-५३२ (५४६)- आलम के संबंध में द्रष्टव्य-'आलम और उनका समय' शीर्षक लेख'।[२२]

५५—५५५ (५५५)—सूरत मिश्र की अमर-चंद्रिका जोधपुर के महाराजा अमरसिंह के नाम से नहीं, ओसवाल अमरचंद के लिये लिखी गई थी।

५६—६०० (६५२)—कृष्ण कवि की बिहारी-सतसई टीका का समय १७८५ के लगभग लिखा गया है, किंतु दिए गए उद्धरण में सं० १७८२ कार्तिक बदी १४ स्पष्ट दिया है।

५७—६२१ (७०४)—करणीदान के ग्रंथ का नाम बिरदसीणसागर लिखा है, उसका यथार्थ नाम 'बिड़द सिणगार' है।

५८—६६० (७६१)—बीरभानु को राजरूपक का कर्ता बताया गया है, पर इसके रचयिता का नाम रतनू चारण बीरभाण है। यह ग्रंथ काशी नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुका है।

५९—७६३ (८६५)—करनीदान के ग्रंथ का नाम 'पान बीरमदेन की बात' में 'पान' शब्द अशुद्ध है, 'पन्ना' होना चाहिए।* विवरण में रचयिता को स्त्री भ्रम से लिखा है, करनीदान तो पुरुष नाम है। ग्रंथ बीरमदे के संबंध में होने से उसी के नाम के कारण यह भ्रम हुआ है।

६०— ७७२ ($\frac{९३८}{१}$)—मानसिंह के संबंध में द्रष्टव्य—'बिहारी सतसई के के टीकाकार मानसिंह कबि कौन थे' शीर्षक लेख।[२३]

६१—७७६ ($\frac{९५०}{१}$)—लालचंद के ग्रंथ का नाम वारांगना-चरित्र लिखा है, वरांग-चरित्र होना चाहिए।

२१—फॉर्बस सभा हस्तलिखित ग्रंथ-नामावली, भाग १, पृ० १२

२२—ना० प्र० पत्रिका, भाग ५०, अंक १-२

* अनेक हस्तलिखीत ग्रंथों में 'पन्ना' को ही 'पांन' या 'पान' लिखा हुआ मिलता है। —सं०।

२३—ना०प्र०प०, वर्ष ४६, अंक १

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६२—८३२ (१०६६/२)—क्षमाकल्याण रचित जीवविचारवृत्ति हिंदी में नहीं, संस्कृत में है।

६३—८३७ (१०१६/२)—कुशलचंद्रमणि का कुशलचंद्रगणि होना चाहिए। संभवतः यह अशुद्धि मुद्रण दोष-जन्य है। इस प्रकार की अनेक भूलें हैं।

भाग ३ (वि० १९८५)

६४—९५१ (१३२२)—कलस कवि का नाम नं० ५३५/१ में आ चुका है और और यहाँ भी समय सं० १७५९ लिखा है। तब इसे अज्ञातकालिक प्रकरण में रखने की क्या आवश्यकता हुई ?

६५—९६८ (१४१३)—गोपालसिंह कवि का नाम अपूर्ण हैं। तुलसी शब्दार्थ प्रकाश के कर्ता जयगोपालसिंह का पहले दो बार उल्लेख हो चुका है।

६६—९७७ (१४८९)—'दाक' नाम अशुद्ध है, 'डक्क' या 'डाक' होना चाहिए।

६७—९७९ (१५१४)—नकुल मूल संस्कृत ग्रंथ का कर्ता है।

६८—९८४ (१५४७)—ग्रंथ का नाम 'सिसमोध' अशुद्ध है, 'शिशुबोध' होगा।*

६९—९९३ (१६१६)—पीखजन की बावनी की श्लोक-संख्या ५०० संभव नहीं है, ५२ से ही कुछ न्यूनाधिक होगा।

७०—१०११ (१७६९)—ग्रंथकार हरराज नहीं, कुशललाभ है (२५, ३०)। ढोलामारू बातों और चौपही दो पृथक् ग्रंथ नहीं, प्रत्युत एक ही हैं। शुद्ध नाम 'ढोलामारू की चौपाई' है। रचना-काल १६१७ है। इस ग्रंथ का निर्देश नं० ७३/१ में भी हो चुका है।

७१—१०१२ (१७७८)—हेमकवि चारण नहीं, जैन यति थे। इनका समय उन्नीसवीं शताब्दी है।

७२—११४० (२०२३)—अजबेश का उल्लेख का पहले भी २८३१/१ में हो चुका है। वहाँ कविता-काल १८९२ दिया है किंतु यहाँ १९१०; पता नहीं कौन सा ठीक है।

७३—११५२ (३११६/१)—नाथूलाल दोसी के ग्रंथों के नाम के अनंतर 'जैन संप्रदाय की स्त्री थीं' लिखने का क्या तात्पर्य ? क्या नाथूलाल दोसी स्त्री का नाम है ?

---

* हस्तलिखित पुस्तक में 'शिशुबोध' को 'सिसमोध' लिखा होना संभव है।—सं०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रागैतिहासिक लाट देश

(श्री कृष्णटोपणलाल शर्मा जेतली)

सिंधु प्रांत में लाड़काना नाम का एक प्रसिद्ध नगर है। सिंधी भाषा में इसका उच्चारण 'लाड़काणो' है। सिंधु में इसके विषय में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। जैसे—

१—"सूँह त शिकारपुरि'जी लोद'त लाड़काणे जी।" अर्थात् यदि स्त्री-सौंदर्य देखना हो तो शिकारपुर में जाना चाहिए और लोद (= लटक-मटक, हाव-भाव) देखने की इच्छा हो तो लाड़काने जाना पड़ेगा।

२—"हुजेई गंढि में नाणो त घुमु लाड़काणो"। अर्थात् गाँठ में पैसा हो तो फिर लाड़काने की सैर करनी चाहिए। इत्यादि।

हमारे सिंधी के उस्ताद स्वर्गीय प्रोफेसर जेठमल परशुराम गुलराजाणी के कथनानुसार किसी समय में लाड़काने की स्त्रियाँ अपने प्राकृतिक सौंदर्य, शृंगार तथा हाव-भाव आदि के लिये बहुत प्रसिद्ध थीं, इसी कारण उनके विषय में उपर्युक्त कहावतें चल पड़ीं।

लाड़काना नाम तथा इस नामवाले उक्त नगर के विषय में इस प्रकार की बातें सुनने और बिचार करने से लेखक के मन में समय समय पर अनेक कल्पनाएँ उठती रहीं और यह धारणा दृढ़ होती गई कि हो न हो, यह लाड़काना ही वास्तविक लाट देश है। परंतु पुरातत्त्व संबंधी ग्रंथों में खोज करने पर एतद्विषयक कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिला। हाँ, अनुसंधान के लिये सूत्र अवश्य मिल गया।

१—शिकारपुर लाड़काना के उत्तर में प्रसिद्ध नगर है। किसी समय लाड़काना प्रदेश का नाम चांडिको था, तब शिकारपुर इसके अंतर्गत था। सिंधी में चांडिको का अर्थ होगा 'चंद्रमा का' (चंडु = चंद्र + इको, तद्धित प्रत्यय)। संभव है चंद्र वंश से इसका संबंध हो।

२—सिंधी भाषा में ग, ज, द, और ब का अपने स्थान के अतिरिक्त कंठ और उरःस्थान से भी उच्चारण होता है; उन ध्वनियों को सूचित करने के लिये उक्त वर्णों के नीचे आड़ी रेखा खींच दी जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'लाड़काणो' शब्द का रहस्य

सिंधु के भूगोलवेत्ताओं का कहना है कि पुराकाल में यहाँ लाड़क[3] नाम की एक जाति रहती थी जिसके कारण इस प्रदेश का नाम 'लाड़काणो' पड़ा।

सिंधी में 'अणो' प्रत्यय संबंधबोधक है। जैसे अबाणो=दादों-परदादों का; घराणो=अच्छे घर का (उच्च कुल का); इत्यादि। इस प्रकार 'लाड़काणो' का अर्थ होगा (लाड़क+अणो)—'लाड़क जाति का'। लाड़क शब्द लड़ (=विलासे) धातु में स्वार्थे क प्रत्यय जोड़ने से बनता है। किसी युग में यहाँ के निवासी हाव-भाव में प्रवीण एवं सौंदर्य के उपासक रहे होंगे, इसीलिये उनका नाम लाड़क पड़ गया होगा। इस शब्द की उक्त व्युत्पत्ति से भी यही सूचित होता है और उपर्युक्त सिंधी कहावतों की सार्थकता भी इसी बात में है।

यह लाड़क जाति किस काल में यहाँ निवास करती थी, इस विषय का इतिहास में कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसलिये मेरा अनुमान है कि यह कोई प्रागैतिहासिक जाति होगी। प्रसिद्ध 'मुअनि जो दड़ो' (मोहें जो दड़ो) स्थान लाड़काने के पास ही का एक खँडहर है। उसमें से प्राप्त सामग्री से यह सिद्ध है कि वह अपने युग में कितना उन्नत और विलासादि की सामग्री से संपन्न था तथा यहाँ के निवासी कितने सुखी एवं ललितकला-प्रेमी थे। बहुत संभव है, इसी कारण से यहाँ के निवासियों को ही 'लाड़क' संज्ञा मिली हो।

महाभारत में जहाँ यौधेय, क्षुद्रक, उशीनर, केकय, मद्रक, द्रविड़ आदि सिंधु-पंजाब तथा उसकी सीमावर्ती जातियों का वर्णन आया है वहाँ 'ललित्थ' जाति का भी निर्देश किया गया है।[4] हमारे विचार से लाड़क जाति के साथ इसका संबंध होना चाहिए। कारण, 'लड़्' और 'लल्' धातुएँ एक ही अर्थ की बोधक हैं।

३—हो क़ोम *लाड़कनि* जो हितिड़े कदीमु थाणो।
थियो पोइ नामु हिन ते लाड़क ताँ लाड़काणो।
—(सिंधी भाषा में) 'ऐट्लस् ज्योग्रफी अइ तवारीख़, जिला लाड़काणो'।

४—यौधेयाश्च *ललित्थाश्च* क्षुद्रकाश्चाप्युशीनराः।—महाभारत, कर्णपर्व, २।५०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाट और लाड़काना

संस्कृत साहित्य में लाटानुप्रास प्रसिद्ध है। लाट जनों को प्रिय होने के कारण इसका यह नाम पड़ा।[५] 'लाट' शब्द का अर्थ है सुरसिक। ये लोग गद्य-पद्य भी बड़ी लटक-मटक के साथ पढ़ते हैं। उस समय सहृदय जनों को मोहनेवाली इनकी मुख-मुद्रा भी अपूर्व सौंदर्य को धारण कर लेती है।[६] यहाँ की स्त्रियाँ जब नहा-धोकर शरीर में इत्र आदि मलकर कलापूर्ण ढंग से केशपाशों को बाँधकर एक दूसरे के सम्मुख आती हैं तब इनकी परस्पर में स्पर्धा होने लगती है।[७]

ये सब ऐसे प्रमाण हैं जिनकी सहायता से उस प्रदेश की पहचान हो सकती है। परंतु वर्त्तमान साहित्य में जो गुजरात के *भड़ोच* प्रदेश को *लाटदेश* होने की प्रसिद्धि प्राप्त है[८], उस विषय के प्रमाणों की सार्थकता मुझे वहाँ (भड़ोच में) देखने को नहीं मिली। पाकिस्तान होने के बाद आबूरोड से मुंबई तक कई बार आते-जाते मैंने लाटों की उपर्युक्त विशेषता को भी लक्ष में रखा था, परंतु संतोष-जनक उत्तर नहीं मिला। वह रसना-माधुर्य, वह भाषण में लटक-मटक, वह हाव-भाव इनमें कहाँ है जो अब भी (पाकिस्तान होने से पूर्व) हमें लाड़काना प्रदेश में मिलता है? इस विषय को स्पष्ट करने के लिये नीचे सिंधी भाषा का कुछ वर्णन किया जाता है।

सिंधी भाषा

उत्तर और दक्षिण भेद से सिंधु के मुख्य दो भाग हैं। सिंधु नद के पूर्व तट पर नवाबशाह जिला के कंडियारो तालुका से तथा पश्चिम तट पर दादू जिला के सेहवान तालुका से जेकबाबाद के कश्मोर नगर तक का भूभाग उत्तर-सिंधु कहा जाता है, एवं कंडियारो तथा सेहवान से दक्षिण में कराची तक (पहले

५—"लाटजनप्रियत्वाल्लाटानुप्रासः"—साहित्यदर्पण, परि० १०

६—"पठन्ति लटभं *लाटाः* प्राकृतं संस्कृतद्विषः।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया ॥—काव्यमीमांसा, अ० ७

७—णहाओ लित्त-विलित्ते कयसीमंते सोहियं गंते।
अम्हं काउं भणिरे अह पेच्छइ *लाड़े* ॥ —कुवलयमाला, ८३५ (५।६).

८—के० एम्० मुंशीकृत द ग्लोरी दैट वाज गुर्जर देश, भाग १, पृष्ठ ३२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कच्छ प्रदेश तक, जो अब काठियावाड़ के साथ मिला हुआ है) दक्षिण-सिंधु कहा जाता है। वैसे तो संपूर्ण सिंधु देश की भाषा सिंधी कहलाती है, जो स्वरांत है (अर्थात् इस भाषा में अंतिम स्वर का उच्चारण स्पष्ट रूप से किया जाता है; जैसे रामु, किशिनु, गोविंदु, मोहनु, अचु, वञु, उथु, खाउ, वेहु आदि; भरत मुनि कहते हैं कि सिंधी भाषा उकारबहुला है[९]), परंतु अंतिम स्वर का स्पष्ट और विवृत उच्चारण जैसा उत्तर-सिंधु में होता है, वैसा दक्षिण-सिंधु में नहीं।[१०] यहाँ वह स्वर संवृत हो जाता है। यह बात नीचे की तालिका से स्पष्ट होगी—

उत्तर-सिंधु	दक्षिण-सिंधु[११]: मध्य-सिंधु	दक्षिण-सिंधु[११]: लाड़
भाऊ	भाउ	बा (= भाई)
पीऊ	पीउ	पी (= पिता)
चवेंसि	चवींसि	चींसिं (= उसको कहो)
लोहु	लोह् उ	लो (= लोहा)

९—"हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये च देशा समाश्रिताः।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तत्र भाषां प्रयोजयेत्॥"—भारत नाट्यशास्त्र, अ० १७, श्लोक ६

१०—The northern or Siraiki (Sireli) dialect has remained far more original and has preserved the purity of pronunciation with more tenaciousness than the southern one.

—ट्रंप-कृत 'सिंधी ग्रामर', भूमिका पृ० २

Siraiki (Sireli) Sindhi differs from the standard Sindhi having a more clearly articulated pronunciation and a slightly different vocabulary.

—लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इंडिया,
जिल्द ८, भाग १, पृ० १४०

११—दक्षिण-सिंधु में, बदीन ताल्लुका के अतिरिक्त हैदराबाद जिला और कंडियारो तक का नवाबशाह जिला मध्य-सिंधु कहलाता है, और शेष भाग लाड़ नाम से प्रसिद्ध है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक दो वाक्यों के भी उदाहरण लीजिए।

लाड़काणो और शिकारपुर की माता रोते हुए बच्चे को गोदी में लेकर विह्वल स्वर में कहेगी—

"लाल ! मुहिंजा मिठिरा ! छाजे करे पियो रूहँ···?"; तो दक्षिण सिंधु की माता कहेगी—

"पुट ! छो थो रुई ?"(=पुत्र ! क्यों रोते हो ?)। लाड़काना प्रदेश की बहिन भाई से कहेगी—

"भायरा ! दिसण में बि कान पियो अचें, आउ; हितिड़े वेहुनी·· ई"(=भाई ! देखने में भी नहीं आते हो, आओ; यहाँ बैठो)।

इस प्रकार यहाँ प्रत्येक स्वर का स्पष्ट उच्चारण और स्वर-माधुर्य एवं बोलने में उत्कंठा इत्यादि विशेषताएँ देखते ही बनती हैं। सामान्य भाषण के अवसर पर भी यहाँ के लोगों में भायरा ! लाल ! दिलि ! मनठार ! दिलिबर ! पुन्हल ! आदि माधुर्यपूर्ण प्रेमसूचक शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग होता है। इस प्रकार यहाँ के भाषण में लचक और स्वर-माधुर्य देखकर हम निःसंदेह कह सकते हैं कि 'पठन्ति लटभं लाटाः'—इस वाक्य की सार्थकता तथा कुवलयानंद-कथित लाड़ देश की स्त्रियों की सौंदर्य-विषयक प्रतिस्पर्धा की अन्वर्थता इसी प्रदेश में सिद्ध होती है।

उपसंहार

मैं यह नहीं कहता कि सिंधु प्रांत का वर्तमान लाड़काना प्रदेश ही उपर्युक्त ग्रंथकारों (राजशेखर, कुवलयानंद आदि) का विवक्षित लाट देश है; क्योंकि उनके समय तक भारतवर्ष के भूगोल में बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका था। मेरा वक्तव्य केवल इतना ही है कि इन विद्वानों ने प्रागैतिहासिक लाट देश (लाड़काणो) के विषय में परंपरागत जो भी किंवदंतियाँ सुनी होंगी उन्हें गुजरात प्रांत के लाट देश (भड़ोच) के साथ जोड़ दिया होगा, क्योंकि उस समय यही लाट देश प्रसिद्ध हो चुका था। आज इतिहास की पुनरावृत्ति हो रही है। जो बात हम केवल पढ़ते और सुनते थे उसे अब प्रत्यक्ष देख रहे हैं। मनुष्य राष्ट्र-विप्लव के समय किस प्रकार एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाते हैं और साथ में अपने रस्म-रिवाज तथा आचार-विचार भी ले जाते हैं—इतना ही नहीं बल्कि अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश आदि के प्रिय नाम तक भी अधिकृत स्थानों को प्रदान कर देते हैं, जैसे इन दिनों सिंधु के निर्वासित अपनी नई बस्ती कल्याण कैंप (मुंबई) तथा कंडला बंदर (कच्छ प्रदेश) को 'नव सिंधु' नाम दे रहे हैं—यह आज एक स्वाभाविक बात प्रतीत होती है। इतिहासज्ञों की दृष्टि में वर्त्तमान गुजरात का 'गुर्जर' नाम भी तो अपना नहीं है। यहाँ के निवासियों के पूर्वज भी किसी समय में राष्ट्र-विप्लव के कारण पंजाब के गुर्जर प्रदेश से आकर यहाँ बसे थे और अपना प्रिय नाम इसको दिया था।

इसी प्रकार, यह सर्वथा संभव है कि उपर्युक्त विशिष्ट कारणों से किसी काल में वास्तविक लाट देश (लाड़काणो) के निवासी अपना देश छोड़कर दक्षिण सिंधु के हैदराबाद जिले के बदीन तालुका और कराची जिले में आ रहे और उन्होंने उसको लाट (लाड़) नाम दे दिया। अधिक काल बीतने पर आसपास के जल-वायु के प्रभाव से उनकी भाषा में वह पहले जैसी लचक और स्वरमाधुर्य नहीं रह गया। इस कारण उत्तर सिंधु के लोग लाड़ी सिंधी को कच्ची (अपरिपक्व) मानते हैं और उनके बोलनेवालों का उपहास करते हैं। फिर कालांतर में यहाँ से कोई जन-समुदाय उठा और उसने वर्तमान गुजरात के किसी एक प्रदेश में आकर डेरा जमाया तथा उसे अपने प्रिय लाट (लाड़) नाम से भूषित किया। परंतु जो प्रमाण लाट देश को पहचानने में साधक हैं वे हमें सिंध-प्रांत के लाड़काणो के विषय में ही उपयुक्त प्रतीत होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चयन

शब्दों का देश

भारत सरकार के सूचना विभाग से प्रकाशित होनेवाले पाक्षिक पत्र 'आजकल' में श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल का 'शब्दों का देश' शीर्षक एक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी लेख प्रकाशित हुआ है जो यहाँ अविकल रूप में उद्धृत किया जाता है--

भारत के लंबे इतिहास में अनगिनत शब्द जन्मे, कुछ चमके, गिरते-पड़ते अस्त हुए, और कितने ही सदा के लिये आकाश में भर गए जो आज भी पनपते हैं। शब्द अतीत जातीय जीवन के प्रतीक बनकर रह जाते हैं। शताब्दियों की भारी हलचलें अपने पीछे शब्द के दमकते हुए रत्न छोड़ जाती हैं। शब्दों का भाग्य कभी जागता है, कभी सो जाता है। शब्द राष्ट्र के बढ़ते-घटते मानस-चैतन्य की साक्षी भरते रहते हैं। शब्द के पीछे जो अर्थ रहता है वह नित्य है, पर युगविशेष में भारी प्रयत्न से ही अर्थ का साक्षात्कार किया जाता है। सशक्त प्रयत्न के बिना अर्थ की प्राप्ति असंभव है। जब अर्थ जीवन में बसता है, तभी जीवन ऊपर उठता है। सत्य, तप, यज्ञ, धर्म, कर्म ये और इनके सदृश अनेक शब्द समय समय पर उत्पन्न हुए। अनेक मनुष्यों की साधना से इन शब्दों का तेजस्वी अर्थ जनता के जीवन में प्रत्यक्ष हो उठा और उस काल के लिये वह अर्थ देश के वातावरण में भर गया। अर्थ की महिमा से शब्द को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और वे शब्द अपने-अपने युग के प्रतिनिधि बनकर उस काल की गाथा हमें सुनाते हैं। मानवी विचार शब्दों में साकार होते हैं और शब्द की कृपा से ही वे हमारे लिये त्रिकाल में सुलभ बने रहते हैं।

भारत के जातीय जीवन में शब्दों का अनंत विस्तार है। शब्द-विस्तार की दृष्टि से यह देश संसार के अनेक देशों में अगुआ है। भारत में शब्दों की विशेष बढ़ती के कई स्पष्ट कारण हैं। कम से कम चार सहस्र वर्षों तक यहाँ जातीय जीवन के उतार-चढ़ाव की हलचलों में बराबर शब्द बनते रहे। काश्मीर से कन्यांकुमारी तक फैला हुआ लंबा चौड़ा भू-प्रदेश भी शब्द-विस्तार का कारण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विस्तार में अनेक प्रकार की विचित्रताएँ हैं। प्रकृति, जन, भाषा, रहन-सहन के भेद अनेक शब्दों के बनने और आपस में घुल-मिल जाने के कारण बन जाते हैं। शबर, मुंडा, कोल, भिल्ल, संथाल आदि निषाद जातियों की मातृभूमि होने के कारण भारतीय भाषाओं को उनसे प्राप्त होनेवाले अनेक शब्दों का लाभ हुआ। फल-फूल, वनस्पति, औषधि, वृक्ष, नदी, पर्वतों के नामों की व्युत्पत्ति की जब पूरी छानबीन होगी तब भौतिक जीवन से संबंध रखनेवाले कितने ही शब्द निषाद भाषाओं से अपनाए हुए मिलेंगे। आर्य जाति की भाषा तो इस देश की राष्ट्रीय भाषा संस्कृत ही है। उसकी दो सहस्र के लगभग धातुओं, अनेक प्रत्ययों, व्याकरण के ठाठ और मुहावरों की सहायता से हमारे विचारों को प्रकट करनेवाली भाषा का ताना-बाना बुना हुआ है। इसी में बहुसंख्यक बोलियों के शब्द, देश्य प्राकृतों की धातुएँ और उनसे बननेवाले शब्द मिलते रहे हैं। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष का जो बहुरंगी इतिहास है उसमें संसार की अन्य अनेक जातियों ने भाग लिया है। संसार में शायद ही जातियों की उथल-पुथल की कोई बड़ी आँधी ऐसी उठी हो जिसका प्रभाव भारतवर्ष पर न पड़ा हो। शक, कुषाण, हूण, मंगोल, मुसलमान, इन जातियों ने भारत में प्रवेश किया और वे अपनी भाषाओं के साथ यहाँ के जनसमुदाय में मिल गईं। इनमें भाषा पर सबसे अधिक प्रभाव मुसलमानों के आने से पड़ा।

लगभग १००० ई० से १२०० तक मुसलमानों का पहला समागम हुआ और पीछे तो उनके छोटे-बड़े राज्य देश के कितने ही भागों में स्थापित हो गए और मुसलमानों के साथ यहाँ के रहनेवालों के दुःख-सुख मिलकर दोनों जातीय जीवन की इकाई में बँध गए। यही समय भारत में आधुनिक भाषाओं के जन्म का युग था। लगभग नवीं शताब्दी में अपभ्रंश भाषा का विस्तार हो चुका था और बारहवीं शताब्दी के लगभग अपभ्रंश भाषा से ही और विकसित होकर नई भाषा-शैली का परिवर्तन आरंभ हो गया था। यही भाषा-शैली आगे आनेवाली प्रांतीय भाषाओं की जननी थी। हिंदी, गुजराती, मराठी, राजस्थानी, पंजाबी, सिंधी, कश्मीरी, उड़िया, बंगाली, बिहारी, आसामी, पहाड़ी, नेपाली आदि प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों का यही ऐतिहासिक क्रम रहा है। मुसलमानों के आने से भारतीय भाषाओं पर दो तरह का प्रभाव हुआ। एक तो अफगानिस्तान (प्राचीन बाल्हीक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कपिशा-गंधार) और मध्य एशिया (प्राचीन कंबोज) भारतीय भाषाओं की मुख्य धारा से अलग जा पड़े। यद्यपि उन भाषाओं के व्याकरण का ठाठ और उनकी मूल शब्दावली का ढाँचा आज भी संस्कृतप्रधान है परंतु उन भाषाओं का भविष्य पूरी तरह अरबी-फारसी के हाथों में सौंप दिया गया। दूसरा प्रभाव भारत के भीतर की भाषाओं पर था अर्थात् उनमें अरबी और फारसी के शब्दों की मुँहछुट घालमेल। इस मिलावट में एक बात मार्के की हुई। वह यह कि भारतीय भाषाओं का व्याकरण का ठाठ बिलकुल अपना बना रहा, अरबी-फारसी के शब्द उनमें मिले पर अपना परिवार नहीं बढ़ा सके। भाषाशास्त्र की दृष्टि से इसे यों समझना चाहिए कि प्रत्येक भारतीय भाषा का धातुपाठ ठेठ स्वदेशी बना रहा। अरबी-फारसी की धातुएँ उनमें न मिल सकीं। हिंदी शब्द-सागर में इस समय लगभग तीन सहस्र धातुएँ हिंदी की दी हुई हैं, उनमें शायद एक दर्जन ऐसी होंगी जो अरबी-फारसी से आई हों, जैसे अंदाजन, गुजरना, खरीदना, बनना। बाकी सब धातुएँ संस्कृत, पाली, प्राकृत और देश्य भाषाओं से आई हुई हैं, उनकी लंबी परंपरा वैदिक भाषा तक पहुँचती है। पाणिनि का धातुपाठ, शाकटायन, चंद्र आदि के धातुपाठ और दूसरे प्राकृत व्याकरणों के धातुपाठ और साहित्य में प्रयुक्त भाषाओं से चुनकर संगृहीत धातुपाठों को जब हम इस दृष्टि से देखते हैं तो उनमें पठित धातुओं का स्वच्छ स्वदेशीपन देखकर प्रसन्नता होती है। प्रत्ययों के साथ मिलकर उन धातुओं से कितने ही शब्द बने हैं और आगे भी बनते रहेंगे। प्रत्येक प्रांतीय भाषा के धातुपाठ की यह निधि अपनी शुद्ध स्वदेशी पूर्व परंपरा से प्राप्त हुई है। इन धातुपाठों का अलग-अलग संग्रह, दूसरों के साथ तुलनात्मक अध्ययन और फिर प्रत्येक की व्युत्पत्तियों की खोज और पहचान भारतीय भाषाशास्त्र का पहला और अत्यावश्यक कर्तव्य है। उदाहरण के लिये वैदिक भाषा में 'इ' धातु मिलती है जिसका अर्थ 'गति' है। इसीसे उपसर्ग लगाकर प्रेत, समेत, व्यक्त, अभिप्रेत, अवेत, अन्वित, दुरित, प्रतीत आदि शब्द लौकिक संस्कृत में बनकर प्रयुक्त हुए। यह धातु भारत-यूरोपीय वर्ग की थी और यूरोपीय देशों की भाषा में भी उससे निकले हुए शब्द मिलते हैं। अंगरेजी के इटीनरेरी, इटीनरेंट शब्द मूल 'इ' धातु से निकले हैं। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में मातृभूमि के लिये एक शब्द 'अग्रेत्वरी' आया है जिसका अर्थ है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगे जानेवाली (अग्र+इत्वरी) और ग्रिफिथ ने 'लीडर' शब्द से उसका अनुवाद किया है। अर्थात् पृथ्वी सूक्त के ऋषि ने अपनी भूमि के लिये सुंदर कल्पना की थी कि वह विश्व के अन्य देशों में अगुआ है। 'इत्वरी' शब्द भी उसी 'इ' धातु से बना जिसका अर्थ था गमनशील। यह शब्द कुछ ऐसे बना होगा। इ धातु में त प्रत्यय जोड़कर पहले इत बना जिसका अर्थ था गति या गमन। गमन या गति विशेष रूप से जिसमें हो वह हुआ 'इत्वर' या स्त्रीलिंग में इत्वरी। वैदिक काल में यह शब्द अर्थ की ध्वनि से भरा हुआ बहुत सुंदर समझा जाता था और कितनी ही बार इसका प्रयोग मिलता है। संस्कृत साहित्य में उसी अर्थ के वाचक नए-नए शब्द बन गए और वह शब्द पीछे पड़ गया। परंतु लोक के मन में, शब्द की चंचल अर्थ वाली ध्वनि बराबर बनी रही और चार हजार वर्षों तक लोक ने उसका साथ बराबर निबाहा। मेरठ या कुरु जनपद की बोली में आजतक 'ईत्वरी' शब्द जीवित है। दुहते समय उछल-कूद करनेवाली गाय को 'ईतरी गाय' कहा जाता है। ऊधमी बच्चे के लिये भी 'ईतरा बालक' प्रयोग देहातों में चालू है। इसी सुंदर शब्द की व्यंजना से हिंदी को 'इतराना' नामधातु[1] प्राप्त हुई है, जो बोलचाल की हिंदी में चालू है।

वैदिक काल और प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक जो शब्दों का विकास और इतिहास है उसका अध्ययन हिंदी भाषा और प्रांतीय भाषाओं के निरुक्त शास्त्र के लिये आवश्यक है। शब्दों की व्युत्पत्ति की छानबीन करते हुए हम अनेक भूले हुए ऐतिहासिक तथ्यों और प्रवादों की फिर से सुध लेते हैं। अथर्ववेद में तैमत, अप्सु, अलिगी-विलगी, उरुगूला और सिनि शब्द आए हैं। निश्चयपूर्वक इन शब्दों का संबंध पश्चिमी एशिया के देशों से है। बेबिलन के प्राचीन इतिहास में बेलमर्दुक और तैमत के युद्धों की कथाएँ हैं। अप्सु का रूपांतर वहाँ अब्जु समुद्र के देवता की संज्ञा है। सिनि का रूपांतर सिन चंद्रमा देवता का नाम है। देवमर्दुक की स्त्री गुला का संबंध उरुगूला से स्पष्ट है। कब और कहाँ इन नामों का आदान-प्रदान हुआ इस प्रश्न का निश्चित उत्तर

१—संज्ञा शब्दों से जो धातुएँ बन जाती हैं उन्हें नामधातु कहते हैं। जैसे बात से 'बतियाना'। हर एक भाषा में इस तरह की धातुएँ पाई जाती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास से हमें मिलना चाहिए। परंतु शब्दों की जाँच-पड़ताल का शास्त्र ऐसे प्रश्नों से हमारी टक्कर करा देता है। महाभारत वनपर्व (१९० । ६५, ६७) में एडूक और उसके पाठांतर जारूक का उल्लेख है। यह एक प्रकार का ऊँचा मंदिर था जो एक दूसरे से छोटी होती हुई कुर्सियों या मेधियों के रूप में बनाया जाता था। इसका एक उदाहरण बरेली जिले के अहिच्छत्रा स्थान की खुदाई में प्राप्त हुआ है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में एडूक की रचना का पूरा विवरण भी मिला है। एडूक का पाठांतर जारूक बहुत महत्वपूर्ण है जिसकी ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया। किंतु यह शब्द भी पश्चिमी एशिया के साथ हमारे संबंधों की ओर संकेत करता है। प्राचीन बावेरु या बेबिलन में 'जिग्गुरत' नामक बड़ी ऊँची अट्टालिका रूपी इमारतें बनती थीं जिनकी रचना एडूकों से बहुत मिलती थी। संस्कृत का जारूक शब्द उसी 'जिग्गुरत' का रूपांतर है। फारसी में उसी से 'जियारत' शब्द बना है जो किसी व्यक्तिविशेष की समाधि के लिए प्रयुक्त होता है। इस प्रकार शब्दों की ठीक पहचान की खोज में हम कभी कभी बहुत महत्वपूर्ण तथ्य तक पहुंच जाते हैं। भाषा का प्रत्येक शब्द अपना इतिहास रखता है। उसके अर्थों का और उसके बाहरी रूप का विकास और परिवर्तन होता रहता है। वेद के समय में जो महान् शब्द हमारे ज्ञानाकाश में प्रमुखतया भरे हुए थे, कालांतर में उनमें परिवर्तन आवश्यक हो गया। विकास का दुर्धर्ष नियम शब्दों के जीवन पर निश्चित प्रभाव डालता है। बुद्ध के समय में 'धम्म' और 'कम्म' इन दो शब्दों में एक नया अर्थ भर गया। वेद का ऋत शब्द किसी समय विश्व के रचनात्मक विधान या नियमों के अनुकूल मार्ग के अर्थ में चोटी का शब्द था, पर धीरे धीरे उसने अपने तेज को समेट लिया। बौद्ध काल में मग्ग (=मार्ग), यह नया शब्द प्रचलित हुआ। उस समय जब लोग मार्ग के विषय में प्रश्न पूछते थे तो वह एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने का रास्ता मात्र नहीं था, उस समय का 'मग्ग' बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग की व्यापक ध्वनि अपने भीतर छिपाए हुए था। परंतु फिर वही क्रम हुआ और मार्ग शब्द के तेजस्वी अर्थ की किरणें शनैः शनैः छिप गईं। परंतु शब्द नितांत सुंदर है और संभव है कि पुनः उसमें नए सांस्कृतिक अर्थ भरे जा सकें। प्रत्येक युग के आदर्श कुछ विशिष्ट शब्दों के सूत्रों में संगृहीत हो सकते हैं। अभी अभी जिस युग के बीच में से हम चल रहे हैं उसका सबसे शक्तिशाली अर्थ 'सत्याग्रह' शब्द में संचित है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सत्य का आग्रह—यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नई कला गाँधी जी से देश को प्राप्त हुई। प्राचीन काल में यज्ञ करनेवालों की प्रतिज्ञा होती थी—*इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि* [मैं अनृत छोड़ कर सत्य को प्राप्त करता हूँ]। सत्याग्रह के युग में भी ऐसा ही ध्येय और प्रयत्न किया गया, परंतु इस प्रयोग की परिभाषाएँ और उद्देश्य नए थे। सत्याग्रह के अर्थों का उत्तराधिकार सर्वोदय शब्द को मिलने की संभावना है, आगे आनेवाले युग का सूत्रार्थ इसी शब्द के अधीन जान पड़ता है।

अर्थों के अतिरिक्त शब्दों के रूपों का परिवर्तन भी भाषाविज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग है। हिंदी तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं को संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के तीन पड़ाव पार करने पड़े हैं और इस लंबी यात्रा में उनके शब्दों की काफी घिसाई हुई है। बहुत ही थोड़े शब्द होंगे जो अपने चोले को ज्यों का त्यों रख पाए हों। गंगा की धारा में पड़े हुए खड़े पत्थर जैसे टकराते और घिसते हुए गोल-मटोल हो जाते हैं वैसे ही संस्कृत के साँचे में बँधे हुए शब्द उच्चारण की घिसाई से अपना नुकीलापन और कोर खोकर हलके-फुलके बन जाते हैं। संस्कृत का ब्राह्मण शब्द अशोक-कालीन प्राकृत में बंमन और इस समय की बोलियों में बंभन बन चुका था। खड़ी बोली का गठबंधन संस्कृत के साथ होने के कारण शब्दों का संस्कृत रूप ही पुनः चलन पाना चाहता है। मध्यकालीन संस्कृत में एक सुंदर शब्द था उद्यानिका, जिसका अर्थ था वाटिका-विहार, बाग-बगीचे में पिकनिक। हिंदी की परंपरा में यह शब्द नहीं बचा, परंतु गुजराती भाषा में उजानी शब्द (उद्यानिका-उज्जानिआ-उजानी) ठीक प्राचीन अर्थ में सुरक्षित है। संभव है हमारे बढ़ते हुए प्रकृति-प्रेम के साथ यह सार्थक शब्द पुनः पहली प्रतिष्ठा प्राप्त कर ले। रूपपरिवर्तन के उदाहरण के लिये हिंदी का एक शब्द है रौसली, जिसका अर्थ है नदी-तट की वह भूमि जो बरसात में हर साल नई जम जाती है और जिसमें बालू मिली हुई होती है। इसका संस्कृत रूप रजस्वला है। बरसात में नदियाँ मिट्टी-बालू के बहाव के कारण रजस्वला कहलाती हैं। उसी से रजस्वला-रउस्सला-रौसला-रौसली बना है। शब्दों के उदाहरण अनंत हो सकते हैं। सारे हिंदी जगत् को मिलाकर अपने प्रत्येक शब्द की छानबीन करनी होगी। हिंदी भाषा के क्रमबद्ध व्युत्पत्ति-कोष का कार्य अभी तक नहीं किया गया। सच पूछा जाय तो भारत की किसी भी प्रादेशिक भाषा या बोली के लिये निरुक्ति-कोष की रचना नहीं हुई। नेपाली बोली का टर्नर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का नेपाली कोष इस दिशा में अच्छा है परंतु उसमें भी व्युत्पत्ति का बहुत सा कार्य अभी बाकी है। अंग्रेजी भाषा में शब्द-व्युत्पत्ति का काम बहुत आगे बढ़ चुका है। जैसे कोई जौहरी अपने रत्नों को परख कर थैली में भर कर प्रसन्न होता है वैसे ही व्युत्पत्तिशास्त्र के वैज्ञानिक नियमों के अनुसार प्रत्येक शब्द को टटोल कर उसे अपना बना कर हम निश्चिंत और प्रसन्न हो सकेंगे। हिंदी भाषा की व्युत्पत्ति का कार्य हमें संसार की अन्य भाषाओं के साथ भी मिला देता है। जो शब्द संस्कृत से निकले हैं उनकी खोज करते हुए हम भारत-यूरोपीय वर्ग की अन्य भाषाओं तक जा पहुँचते हैं। उन-उन भाषाओं में भी शब्दों के और धातुओं के हमारे शब्दों से मिलते-जुलते रूप पाए जायँगे और हमें उन्हें जानना चाहिए। शायद अब तक यूरोपीय विद्वानों का काम इसी दिशा में अधिक हुआ भी है। देशी शब्दों की खोज और इनकी व्युत्पत्ति की पहचान दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है। इसके लिये प्रत्येक बड़ी बोली के शब्दों का संग्रह कोष के रूप में करना आवश्यक है। जो विद्वान् हिंदी भाषा की व्युत्पत्ति के काम में रुचि रखते हों उन्हें बोलियों की ओर सबसे पहले ध्यान देने की आवश्यकता है। अपभ्रंश भाषा के निकटतम शब्दरूप बोलियों में ही हैं पहचाने जा सकेंगे। शब्दों के अनुसंधान की तीसरी दिशा अरबी-फारसी और उनसे संबद्ध भाषाओं की जाँच-पड़ताल है। फारसी का संबंध तो अंततोगत्वा संस्कृत से ही है। फारसी का पूर्व रूप पहलवी भाषा थी जिसका ईरान में दूसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक राजकीय भाषा के रूप में प्रचार था। पहलवी भाषा के संरक्षक सासानी वंश के प्रतापी राजा गुप्तों के समकालीन थे। भारत में कुछ पहलवी शब्द उस समय आ गए थे। हर्षचरित में स्तवरक नामक एक कीमती रेशमी कपड़े का नाम आया है जो ईरान में इस्तब्रक कहलाता था और वहाँ से पूर्व में भारतवर्ष लाया जाता था और पच्छिम में अरब को जाता था। कुरान के उस प्रकरण में जहाँ स्वर्गीय स्त्रियों का वर्णन है, इस्तब्रक कपड़े का उल्लेख हुआ है जिससे हूरों के शरीर अलंकृत थे और जिसे कुरान के सभी टीकाकारों ने विदेशी शब्द माना है। वह कपड़ा नहीं रहा और इसी कारण बाद के संस्कृत साहित्य और उससे निकली हुई भाषाओं में उस शब्द का कोई रूपांतर नहीं बचा। पहलवी भाषा के कोषों को देखने से हजारों शब्द ऐसे मिलते हैं जो हिंदी में ज्यों के त्यों मिलते हैं। बियाबान, पुल, साल, सिपाही, फटकार, पसंद, आगाह ऐसे ही शब्द हैं। यद्यपि यह सत्य है कि इनकी परंपरा मध्य मुसलमानी युग में अर्वाचीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फारसी से हमें प्राप्त हुई परंतु फिर भी अपने व्युत्पत्ति-कोष का पेटा पूरा करने के लिये हमें दूर तक जाते हुए पहलवी भाषा तक पहुँचना होगा। और संभव है उससे भी आगे प्राचीन ईरानी भाषा तक जाना पड़े। फारसी तो आर्यभाषा परिवार की है, उसके साथ हमारी भाषा का संबंध निकट का है। अरबी भाषा म्लेच्छ (सेमेटिक) भाषा परिवार की एक प्रधान भाषा है जिसकी चार सगोती बहनें और हैं—अफ्रीका की अबिसिनियन भाषा, अरमाइक भाषा जो किसी समय पश्चिमी एशिया से ईरान तक की शिष्ट भाषा बनी हुई थी, इबरानी या यहूदी (हिब्रू) भाषा और इन सब से महत्वपूर्ण और प्राचीन असीरियन बेबीलोनियन या असुर-बावेरू की भाषा। अरबी भाषा के जो हजारों शब्द हिंदी में घुले-मिले हैं उनकी पुरानी आयु और रचना की पूरी जानकारी के लिये हमें इन सब भाषाओं का द्वार खटखटाना होगा, उनके पुराने कोषों की छानबीन करनी होगी, तब कहीं जाकर शब्द-व्युत्पत्ति का रूँधा हुआ मार्ग अंत तक प्रशस्त किया जा सकेगा। किताब शब्द आज हिंदी के आँगन में घरेलू कलोर की तरह रम गया है। पर उसका मूल निकास अरबी की तीन व्यंजन वाली क्-त्-ब् धातु से है जो म्लेच्छ वंश की सभी प्राचीन भाषाओं में मिलता है और उससे निकले हुए शब्द उन भाषाओं में आज भी चालू हैं। किताब शब्द के अर्थ और रूप की जानकारी हमें उन भाषाओं में भी रुचि प्रदान करती है। यह जानकर किसे प्रसन्नता न होगी कि हिंदी का औरत शब्द मूल में मिस्री भाषा का शब्द है जिसकी आयु लगभग छः सहस्र वर्ष पुरानी है और जो अरबी के मार्ग से हमारे यहाँ पहुँचकर सारे देश में फैल गया है। अरबी भाषा की सैकड़ों धातुओं से बने हुए संज्ञा शब्द हमारे नित्य प्रति के जीवन में चालू हैं और उनकी ध्वनि, रूप और अर्थ हमारे अंतःकरण में बैठे हैं। उनके प्रति भी हमारा सम्मानभाव है। जो शब्द हमारा उपकार करते हैं वे हमारे हैं। वे भी उस सरस्वती के रूप हैं जो ज्ञान की अधिदेवता हैं। अंततोगत्वा सरस्वती के मंदिर में तो सबका निर्बाध प्रवेश है। सरस्वती देवी का जो अनिर्वचनीय रूप है, उसकी जो तुरीय अवस्था है उसमें तो संसार भर के शब्द और अर्थों का एकायन या एकत्र समवाय है। केवल वैखरी भाषा के देश में शब्दों के रूप-भेद हैं। अतएव जब हम ज्ञानदेवता के मंदिर में प्रफुल्लित मन से प्रवेश करते हैं तब हमारी भावनाएँ खिलती हैं और हमारे हृदय का वरदान चारों ओर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वागत के दीप लेसता हुआ फैलता है। हिंदी के उत्तराधिकार को सँभालनेवालों के लिये उचित है कि वे सरस्वती के उस उदार रूप की उपासना करें जिसमें अनेक तेज एक साथ मिले हैं। सबसे अधिक शुभ्र और भास्वर तेज़ तो आर्यभाषा का अपना ही है और वह किसी भी अन्य तेज से परास्त होनेवाला नहीं है।

आर्यों की आदि भूमि पर पुराणों का साक्ष्य

'इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली' पत्रिका, भाग २४ अंक २ में हिंदूविश्वविद्यालय के इतिहास के प्राध्यापक डाक्टर राजबलीपांडे का 'द पुरानिक डेटा ऑन दि ओरिजिनल होम ऑव दि इंडोआर्यन्स' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें पुराणों के साक्ष्य पर यह स्थापित करने का यत्न किया गया है कि भारतीय आर्यों का मूल निवास मध्यदेश में था। उक्त अंगरेजी लेख का लेखक द्वारा संशोधित हिंदी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

भारतीय आर्यों की आदि भूमि के संबंध में अभी तक अधिकांश विद्वानों ने निम्नलिखित मुख्य, पर अंततः अप्रमाणित, धारणाओं के आधार पर अपने-अपने मत स्थिर किए हैं[1]—

१—आरंभ में एक ही मूल आर्य जाति थी, जिसकी शाखाएँ पीछे एशिया और यूरप के भिन्न-भिन्न देशों में फैलीं। भारतीय आर्य भी इसी जाति की एक शाखा थे।

२—मूल आर्य जाति की एक ही सामान्य भाषा थी जिसकी अनेक शाखाएँ उसकी पसरती हुई विभिन्न शाखाओं के साथ भिन्न-भिन्न देशों में गईं।

३—उक्त विभिन्न भाषा-स्रोतों के उद्गम (मूल भाषा) का अनुसंधान करके आर्यों की समान आदि भूमि का पता लगाया जा सकता है।

इन धारणाओं के औचित्य के संबंध में गंभीर आक्षेप किए जा चुके हैं। मनुष्य की एक समान उत्पत्ति की नाईं एक मूल आर्य जाति के अस्तित्व पर प्रश्न उठ खड़े हुए हैं। अतः भारतीय आर्यों के प्रश्न को यूरप की उन आर्य कहलानेवाली जातियों की उत्पत्ति के प्रश्न के साथ जोड़ना आवश्यक नहीं जिनकी उन्नीसवीं शती में भाषाशास्त्र का अध्ययन आरंभ होने के पूर्व 'आर्य' संज्ञा ही नहीं थी। दूसरी धारणा

१—जी० चाइल्ड, दि आर्यन्स ; आइजक टेलर, ओरिजिन ऑव दि आर्यन्स ; पी० गाइल्स, केंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, जिल्द १, पृ० ६६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी कि भाषा-साम्य जातिगत एकता का सूचक है, अमान्य हो चुकी है। तीसरी धारणा का आधार कल्पना पर अवलंबित एक ऐसी भाषाशास्त्रीय सामग्री है जिसका उपयोग भिन्न-भिन्न पक्ष के विद्वानों ने आर्यों के आदि देश को भिन्न-भिन्न जगह सिद्ध करने के लिये किया है। प्रस्तुत लेखक के नम्र विचार से भाषाशास्त्रीय एवं भाषा-वैज्ञानिक प्रमाण अत्यंत अपूर्ण एवं दुर्बल हैं, फलतः उनसे निकाले गए निष्कर्ष भी स्वभावतः सदोष होंगे। भाषाओं में विभिन्न देश-काल के व्यक्तियों, वस्तुओं एवं घटनाओं के बोधक शब्द एक ही काल में एक साथ व्यवहृत हुए पाए जाते हैं। उनके आधार पर खड़ा किया हुआ ढाँचा वास्तविकता से बहुत दूर होगा। अतः जब तक प्रत्यक्ष एवं कालक्रम-बद्ध प्रमाणों का नितांत अभाव न हो तब तक भाषा-शास्त्रीय एवं भाषावैज्ञानिक साक्ष्य को प्रधान महत्व नहीं दिया जा सकता। उनके प्रमाण केवल पूरक ही माने जा सकते हैं। उनमें एकांततः रचना-शक्ति नहीं होती। यह नहीं माना जा सकता कि आर्यों के प्रारंभिक इतिहास के प्रत्यक्ष-वर्णित स्रोत नहीं हैं और हमें भाषाविज्ञान के अप्रत्यक्ष और आकस्मिक प्रमाणों का उपयोग करना ही होगा।

भारतीय आर्यों का सुसंबद्ध इतिहास पुराणों में सुरक्षित है। उनमें आर्यों की आदि भूमि के संबंध में प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध हो सकते हैं। भारतीय परंपरा[1] के अनुसार तो अभी तक प्रायः जिस वैदिक साहित्य के आधार पर भारतीय आर्यों का आदिकालिक इतिहास लिखा गया है उसको समझने के लिये भी पुराणों का अध्ययन आवश्यक है। इसमें रहस्य यह है कि वैदिक साहित्य के तत्त्वतः काव्यमय एवं कर्मकांड तथा दर्शन प्रधान होने के कारण उसमें जिन बातों का केवल अल्प एवं आनुषंगिक उल्लेख मिलता है उसका पूर्ण प्रसंग पुराणों में ही पाया जाता है। आर्यों की आदि भूमि के संबंध में पुराणों के स्वतंत्र अध्ययन का निष्कर्ष भाषाशास्त्रीय शोधों के परिणाम से सर्वथा भिन्न है। इस विषय पर पुराणों का साक्ष्य संक्षेप में इस प्रकार है—

मध्यदेश में भारतीय आर्यों का उदय

१—भारतीय आर्यों का हिमालय के ढालों तथा उत्तर भारत के अधिकांश

१—वायुपुराण, १।२००-१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग (उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर-पूर्व प्रदेशों को छोड़कर) पर उनके इतिहास के आरंभ काल से ही अधिकार था। यह संपूर्ण भूमि प्रथम ऐतिहासिक आर्य नृपति मनु का देश कहलाती थी।[३]

२—मनु के ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु सरयू-तट पर बसी हुई अयोध्या नगरी में राज करते थे जो उनके पिता की भी राजधानी रह चुकी थी। वे सूर्यवंश की प्रधान शाखा के मूल पुरुष थे।[४]

३—मनु के दौहित्र ऐल (इला के पुत्र) पुरूरवा ने गंगा-यमुना के संगम पर प्रतिष्ठान (इलाहाबाद के निकट झूँसी) में ऐल अथवा चंद्रवंश की स्थापना की।[५]

४ सौद्युम्न नामक एक अन्य आर्यकुल, जिसका भी मनु के कुल से वैवाहिक संबंध था, दक्षिण-बिहार और उड़ीसा पर राज्य करता था। सुद्युम्न के तीन पुत्र थे—गय, उत्कल और हरिताश्व। गय गया में राज करते थे जो उन्हीं का बसाया हुआ था।[६]

भारतीय आर्यों का प्रसार

सूर्यवंश का विस्तार—सबसे पहले मनु के कुल का विस्तार हुआ। उनके पुत्र-पौत्र साहसी एवं महत्वाकांक्षी थे और वे भारत के भिन्न भिन्न भागों में तथा उसके बाहर भी राज्य एवं उपनिवेश स्थापित करने में समर्थ हुए।

१—इक्ष्वाकु से चलनेवाली मनु-कुल की प्रधान शाखा अयोध्या में चलती रही।[७]

२—मनु के पुत्र नाभानेदिष्ट ने वैशाली (बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर, बिहार) में एक वंश की स्थापना की।[८]

३—मनु के पुत्र कारूष ने बिहार के दक्षिण-पश्चिम तथा रीवाँ राज्य के पूर्व सोन नदी के तट पर एक राज्य स्थापित किया।[९]

३—ब्रह्मांड०, ३।२०।२-३ ४—वायु०, ८५।२०-१

५—शिव०, ७।६०; विष्णु०, ६।२०

६—वायु०, ८५।१८-१९; शिव०, ६०।१४-१५

७—मत्स्य०, १२।१५ ८—वायु०, ८६।३-२२

९—पद्म०, ५।८।१२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४—मनु के पुत्र धृष्ट के वंशजों ने पूर्वी पंजाब पर अधिकार किया।[10]

५—मनु के पुत्र नाभाग ने यमुना नदी के दक्षिण तट पर एक वंश की स्थापना की।[11]

६—मनु-पुत्र शर्याति उत्तर गुजरात में आनर्त पर राज्य करते थे।[12]

७—नरिष्यंत के वंशज उत्तर-पूर्व की ओर भारतवर्ष के बाहर गए।[13]

८—इक्ष्वाकु के पुत्र निमि ने उत्तर-पूर्व बिहार में विदेह कुल की स्थापना की।[14]

९—इक्ष्वाकु के पुत्र दंड ने दक्षिण के जंगल प्रदेश का अनुसंधान किया जिसका नाम उन्हीं के नाम पर दंडकारण्य पड़ा।[15]

१०—इक्ष्वाकु के पचास वंशजों ने, जिनके प्रमुख शकुनि थे, उत्तरापथ (उत्तर-पश्चिम भारत) पर अधिकार किया।[16]

११—वसति के अड़तालीस वंशजों ने दक्षिणापथ पर अधिकार किया।[17]

१२—इक्ष्वाकु के ज्येष्ठ पुत्र विकुक्षि के बाईस वंशजों ने मेरु के उत्तर प्रदेश (सुमेरिया) पर अधिकार किया।[18]

१३—उन्हीं के अन्य एक सौ चौदह वंशजों ने मेरु के दक्षिण देश में उपनिवेश बनाया।[19]

चंद्रवंश का विस्तार—यह वंश अत्यंत वीर्यवान् और संततिशील था। सूर्य वंश के विस्तार के बाद ही इसका विस्तार आरंभ हुआ और अनेक स्थानों में इसने उसे अपने अधीन कर लिया।

१—पुरूरवा के पुत्र आयु के अधीन प्रधान शाखा प्रतिष्ठान में चलती रही।[20]

१०—मत्स्य०, १२।२०-१

११—भागवत०, ९।२।१७-१८

१२—विष्णु०, ४।१।२०-२४

१३—शिव०, ७।६०।१६

१४—वायु०, ८९।१-२, ६

१५—शिव०, ७।३।३३-५, ३७

१६—वही।

१७—वही।

१८—वही।

१९—वही।

२०—वायु०, ९१।५१-२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२—पुरूरवा के एक दूसरे पुत्र अमावसु ने कान्यकुब्ज (=कन्नौज) में एक वंश की स्थापना की।[२१]

३—पुरूरवा के पौत्र तथा आयु के पुत्र क्षत्रवृद्ध ने काशी में एक वंश की स्थापना की।[२२]

४—नहुष के पुत्र और उत्तराधिकारी ययाति बहुत बड़े विजेता थे। उन्होंने उत्तर-पश्चिम, दक्षिण-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम की ओर बहुत से प्रदेश जीते। भारतीय इतिहास में वे प्रथम सम्राट् हुए।[२३]

५—ययाति के पाँच पुत्र थे—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु। ययाति का राज्य इन पुत्रों में इस प्रकार बँटा था[२४]—

(१) कनिष्ठ पुत्र पुरु प्रतिष्ठान में ययाति के उत्तराधिकारी हुए।

(२) यदु को चर्मण्वती (चंबल), वेत्रवती (बेतवा) और शुक्तिमती (केन) के तट का राज्य मिला।

(३) तुर्वसु को दक्षिण-पूर्व का प्रदेश मिला। पीछे उनके वंशज उत्तर-पश्चिम की ओर चले गए।

(४) द्रुह्यु को यमुना के पश्चिम और चर्मण्वती के उत्तर का देश दिया गया। पीछे उनके वंशज उत्तर-पश्चिम की ओर गए।

(५) गंगा-यमुना दोआब का उत्तरी भाग अनु को मिला।

उत्तर-पश्चिम में चंद्रवंश की उत्तरकालीन स्थिति—

१—यादव (यदुवंशी) लोग अपने राजा शशबिंदु की अधीनता में बहुत शक्तिशाली हो गए।[२५] उन्होंने द्रुह्यु के वंशजों को उत्तर-पश्चिम की ओर पंजाब में ढकेल दिया।[२६] पीछे अयोध्या के सम्राट् मांधाता ने द्रुह्यु-वंशियों को और उत्तर-पश्चिम ढकेला, जहाँ उनके राजा गांधार ने जाकर गांधार राज्य स्थापित किया।[२७]

२१—वही। २२—वही।

२३—ब्रह्मांड०, ३।६८।१२-१३

२४—वायु०, ६३।६०; ब्रह्मांड०, ३।६८, ६२

२५—वायु०, ९५।१९ २६—वही।

२७—वही, ६६।६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२—यादवों ने प्रतिष्ठान के मूल चंद्रकुल को भी दबा लिया और पौरवों को उत्तर-पश्चिम की ओर जाने के लिये विवश किया।[२८]

३—मांधाता ने आनवों को भी, जिनका राज्य अयोध्या और द्रुह्यु राज्य के बीच था, उत्तर-पश्चिम की ओर पंजाब में जाने के लिये विवश किया।[२९]

४—आनव राजा उशीनर के पुत्र शिवि से पंजाब में शिविवंशियों का विस्तार हुआ और उनके पुत्रों ने वृषदर्भ, मद्र, केकय और सौवीर राज्यों की स्थापना की।[३०]

५—द्रुह्युओं ने अपने राज्य के पूर्वी भाग को खोकर भी गांधार पर अपना अधिकार बनाए रखा। पाँच पीढ़ियों के बाद उनकी संख्या बढ़ने लगी और उत्तर-पश्चिम बढ़कर उन्होंने भारत के बाहर म्लेच्छ देशों में कई राज्य स्थापित किए।[३१]

६—मांधाता तथा यादवों के द्वारा प्रतिष्ठान से उद्वासित होकर पौरव लोग उत्तर-पश्चिम की ओर बढ़े और हस्तिनापुर नगर बसाया। दुष्यंत ने पौरव वंश को पुनः संघटित किया। शकुंतला से उत्पन्न उनके यशस्वी पुत्र भरत उनके उत्तराधिकारी हुए। उनके उत्तराधिकारी भारत लोग भारतीय इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हुए। संपूर्ण देश ही उनके नाम पर भारतवर्ष कहलाया।[३२]

७—भरतवंश के एक पुरुष ने गंगा-यमुना दोआब के उत्तरी भाग पर अधिकार किया। वहाँ एक भारत राजा भ्रम्याश्व के पाँच पुत्र हुए जिनका संयुक्त नाम पांचाल था, और उन्हीं के नाम पर उनके राज्य का नाम भी पांचाल पड़ा। उनमें एक का नाम मुद्गल था जिसके पुत्र वध्र्यश्व ने अपने राज्य का बहुत विस्तार किया। वध्र्यश्व के पुत्र

२८—विष्णु०, ४।४।१

२९—वही।

३०—ब्रह्मांड, ३।७४।१५-१६

३१—प्रचेतसः पुत्रशतं राजानः सर्व एव ते।
म्लेच्छराष्ट्राधिपाः सर्वे ह्युदीचीं दिशमाश्रिताः॥
—वायु०।

३२—भागवत०, ९।२३।१७-१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिवोदास ने उसे और बढ़ाया। दिवोदास के उत्तराधिकारियों—मित्रायु, मैत्रेय, सृंजय, च्यवन और सुदास—ने देश के राजनीतिक और धार्मिक इतिहास में बड़े महत्वपूर्ण कार्य किए। सुदास ने उत्तर-पश्चिम में बहुत से प्रदेश जीते। महाभारत के अनुसार उसने परुष्णी (रावी) नदी के तटवर्ती पड़ोसी राज्य-संघ को पराजित किया।[33]

पुराणों के साक्ष्य का निष्कर्ष

१—भारतीय आर्यों की आदि भूमि मध्यदेश थी। इसका केंद्र अयोध्या और प्रतिष्ठान (इलाहाबाद) के बीच था, जहाँ आर्यों के दो आदि कुलों (सूर्यवंश और चंद्रवंश) का उदय हुआ था। स्थूल रूप से इसके अंतर्गत संपूर्ण युक्तप्रांत और बिहार, सरस्वती तक पूरबी पंजाब तथा मध्यदेश का पूरबी भाग सम्मिलित था। इस निष्कर्ष का आधार यह है कि आर्यों के आदि कुलों की पूर्व शाखाओं को इन क्षेत्रों में बसने में अनार्यों से किसी प्रकार का युद्ध या संघर्ष नहीं करना पड़ा था, जिससे सिद्ध होता है कि आर्य वहाँ पहले ही से बस गए थे।

२—ये लोग अपने मूल केंद्र अयोध्या और प्रतिष्ठान से पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की ओर फैले। माना जाता है कि आर्य पश्चिमोत्तर गिरि-मार्गों से भारत पर आक्रमण करके पूर्व की ओर बढ़े, किंतु तथ्य यह है कि इक्ष्वाकु के कुछ निकट वंशजों से लेकर पांचाल राजा सुदास के समय तक उनका बढ़ाव मध्यदेश से ही पश्चिम-उत्तर की ओर रहा।

३—आर्यों ने केवल भारत के भीतर ही अपना विस्तार करके संपूर्ण उत्तरापथ (पश्चिमोत्तर भारत) पर अधिकार नहीं किया, प्रत्युत पश्चिमोत्तर गिरि-मार्गों को पार करके उन्होंने अफ़गानिस्तान, मध्य एशिया, फारस तथा पश्चिम एशिया में भूमध्य सागर तक की संपूर्ण भूमि पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

पार्जिटर के मत की समीक्षा

१—परंपरानुसार ऐल या आर्य इलाहाबाद=(प्रतिष्ठान)से चलकर उत्तर-पश्चिम, पश्चिम और दक्षिण विजय करके वहाँ फैल गए और ययाति के समय तक उस प्रदेश पर अधिकार कर लिया जिसे मध्यदेश कहते हैं।[34]

३३—अग्नि०, २७७।२०; गरुड़, १।१४०।९

३४—एफ० ई० पार्जिटर, एंशंट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन, पृ० २९९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"भारतीय अनुश्रुतियों में अफगानिस्तान से भारत पर ऐलों या आर्यों के आक्रमण या वहाँ से पूर्व को ओर उनके बढ़ाव का कहीं पता नहीं है। इसके विपरीत वे स्पष्ट रूप से बतलाती हैं कि पश्चिमोत्तर मार्गों से द्रुह्यु (जो ऐल थे) भारत के बाहर गए जहाँ उन्होंने कई राज्य स्थापित किए और भारतीय धर्म का प्रचार किया।"[३५] यहाँ तक तो ठीक है। किंतु पार्जिटर ने कुछ और निष्कर्ष निकाले हैं जिनका किसी पुराण से समर्थन नहीं होता।

२—"ऐलों या आर्यों की उत्पत्ति के विषय में अनुश्रुतियाँ क्या कहती हैं? वे बतलाती हैं कि ऐल सत्ता का आरंभ इलाहाबाद से हुआ, किंतु साथ ही स्पष्ट रूप से संकेत करती हैं कि ऐल भारत के बाहर थे। लोककथाएँ ऐलों के पुरखा पुरूरवा ऐल का संबंध हिमालय के मध्यवर्ती प्रदेशों से जोड़ती हैं।[३६]

इस निष्कर्ष का आधार यह है कि मनु की कन्या इला मध्यवर्ती हिमालय प्रदेश में गिरि-विहार के उद्देश्य से गई थी जहाँ सोम के पुत्र बुध से उसकी भेंट हुई। किंतु कहीं से भी यह संकेत नहीं मिलता कि बुध अथवा सोम मध्यवर्ती हिमालय प्रदेश के ही थे, अथवा वहाँ भारत के बाहर से आए थे। इसके विपरीत, परवर्ती घटनाओं से पुष्ट यह स्पष्टतर संकेत मिलता है कि बुध भी इला की भाँति वहाँ गिरि-विहार के लिये प्रतिष्ठान से गया था जहाँ उसका पुत्र पुरूरवा उसके सिंहासन का उत्तराधिकारी हुआ। यदि ऐल या आर्य मध्यवर्ती हिमालय प्रदेश से होकर उत्तर की ओर से आक्रमण करते तो वे मार्ग में अयोध्या के मानवों को यों ही छोड़कर सीधे प्रतिष्ठान न पहुँच जाते। स्वाभाविक निष्कर्ष यही है कि मानव और ऐल दोनों ही आर्य-कुल मध्यदेश में बसे हुए थे और मध्यवर्ती हिमालय प्रदेश उसका बाह्य अंचल था जहाँ लोग विहार अथवा तपश्चर्या के निमित्त जाया करते थे। इसके अतिरिक्त सीधे उत्तर से आर्य-आक्रमण के प्रतिकूल अन्य बाधाएँ भी हैं। एक तो दुर्गम हिमालय को पार करने की असंभव कठिनाई है; और दूसरे भारतीय आर्यों और हिमालय पार के मंगोलों में कोई जातिगत साम्य नहीं है।

३—पार्जिटर के मत से मानव लोग द्रविड़ जाति के थे और सौद्युम्न, मुंडा-मानख्मेर जाति के।[३७] मानव जाति के संबंध में उनका मुख्य तर्क यह है कि पुराणों

३५—वही पृ० २९८

३६—वही, पृ० २९७

३७—वही, पृ० २८८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में मानवों का ऐलों से (आर्यों) से भिन्न जाति के रूप में वर्णन हुआ है और वे ऐलों के पहले ही से भारत में रहते थे। उनके विचार से आर्यों के पहले के लोग द्रविड़ थे। सबसे पहले तो मानवों का ऐलों से भिन्न जाति के रूप में वर्णन ही नहीं हुआ है। उनमें बराबर आपस में वैवाहिक संबंध होते थे जो जाति-साम्य का ही सूचक है। जाति, भाषा और धर्म की दृष्टि से दोनों समान ही कहे गए हैं। इसके अतिरिक्त भारत में द्रविड़ों का केंद्र आजकल की भाँति अतीत में भी दक्षिण में ही था जहाँ से वे कालांतर में युद्ध, व्यापार आदि के प्रसंग से उत्तर भारत में आए। अतः उत्तर में उनका मूल स्थान ढूँढ़ना सर्वथा अनावश्यक है।

सौद्युम्नों के संबंध में पार्जिटर का विचार है कि वे दक्षिण-बिहार और उड़ीसा में राज्य करते थे, इसलिये वे मुंडा-मानख्मेर जाति के थे। किंतु पुराणों में सौद्युम्नों का मानवों के ही एक उपकुल के रूप में वर्णन हुआ है जिसका मानवों के साथ विवाह-संबंध होता था। सौद्युम्न लोग बिहार-उड़ीसा के पर्वतों तथा अरण्यों में बसनेवाले उन मुंडा-मानख्मेर लोगों से बिलकुल भिन्न थे जो अपनी जातिगत विशेषताओं को आज भी उसी रूप में बनाए हुए हैं।

पौराणिक साक्ष्य और वेद

पौराणिक साक्ष्यों का वेदों में आए हुए आनुषंगिक उल्लेखों से पूर्ण समर्थन होता है। वास्तव में वैदिक उल्लेखों का तात्पर्य पौराणिक इतिहास के ही प्रसंग में ठीक ठीक समझा जा सकता है। भारतीय अनुश्रुतियों से भी इस बात की पुष्टि होती है। यथा—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥[१८]

अर्थात् सांगोपनिषद् वेदज्ञ द्विज भी पुराण-ज्ञान के बिना विचक्षण नहीं माना जा सकता। इतिहास-पुराण की सहायता से वेदों का समुपबृंहण (व्याख्या, अर्थ-विस्तार) करना चाहिए। अल्पश्रुत से तो वेद डरता है कि वह मुझपर प्रहार करेगा।

१८—पद्म० ५।२।५०-२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदों और पुराणों में निम्नलिखित समानोक्तियाँ विशेष रूप से लक्ष्य करने योग्य हैं—

१—पुराणोल्लिखित पश्चिमोत्तर की ओर बढ़नेवाले प्रायः सभी आर्यकुलों और राजाओं का वेदों में उल्लेख हुआ है। किंतु वेदों के आधार पर हम उनके कालक्रम तथा स्थान का निश्चय नहीं कर सकते और पुराणों में एतत्संबंधी वर्णन पाए जाते हैं। पुराणों में ययाति के पाँच पुत्रों और उनके अन्वधिकारियों—पुरु, यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनु—का इतिहास वर्णित है; वेदों में उनके वंशजों—अनु, द्रुह्यु, तुर्वसु, यदु तथा पुरुओं—का उल्लेख हुआ है।[३९]

२—पुराणों में पांचाल राजा सुदास और पंजाब के राजाओं के बीच युद्धों का वर्णन है। वेदों में भी सुदास तथा पंजाब की दस जातियों के बीच हुए दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन है।[४०]

३—पुराणों में आर्यों के मध्यदेश से उत्तर-पश्चिम की ओर प्रसार का व्यवस्थित वर्णन पाया जाता है। ऋग्वेद में भी उसके नदी-विषयक मंत्र में आर्यों के क्रमशः गंगा, कुभा (काबुल), गोमती (गोमल) और क्रमु (कुर्रम) नदियों को पार कर अपने रथों और घोड़ों सहित पश्चिम की ओर बढ़ने का स्पष्ट निर्देश है।[४१]

इस संबंध में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि ऋग्वेद में नदियाँ पूर्व से पश्चिम की ओर गिनाई गई हैं, जो आर्यों के बढ़ाव की दिशा का द्योतक है।[४२] खेद है कि आर्यों की विदेशी उत्पत्ति के मत के समर्थक इस तथ्य की उपेक्षा कर जाते हैं और उत्तर-पश्चिम की ओर से आर्य-आक्रमण सिद्ध करने के लिये इसी मंत्र का आधार लेते हैं।

३९—ऋग्वेद ७।३३।२,५; ८।३।८

४०—वही ७।३३।८३

४१—वही १०।७५

४२—इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया। तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या ॥ त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे। ऋजीत्येनी रुशती परिजयांसि भरते रजांसि ॥

—ऋग्वेद, १०।७५।५६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४—मध्यदेश से पश्चिम और दक्षिण बढ़ते हुए आर्यों को जिन अनार्य जातियों से युद्ध करना पड़ा उन्हें पुराणों में असुर, दानव, राक्षस, पिशाच आदि कहा गया है। ये सभी नाम वेदों में भी पाए जाते हैं।

पुराण और भाषाशास्त्र

आर्य जाति की आदि भूमि के संबंध में भाषाशास्त्रियों की मुख्य स्थापना यह है कि पूर्व में गंगा से पश्चिम में आयरलैंड तक फैली हुई भारोपीय भाषा में कुछ निश्चित पारिवारिक समानता है जो भारत-यूरोपीय आर्यों की एक सामान्य आदि भूमि का सूचक है। भाषाशास्त्रियों के भिन्न भिन्न संप्रदाय इस आदि भूमि को भिन्न भिन्न स्थानों में, जैसे मध्यएशिया, मेसोपोटामिया तथा यूरप के कतिपय केंद्रों में बतलाते हैं। इसके लिये उनका मुख्य आधार उक्त भाषाओं में पाए जानेवाले सामान्य शब्दों पर से किया गया अनुमान है। यह अनुमान कितना अनिश्चित और बलहीन है, यह एतत्संबंधी भिन्न भिन्न सिद्धांतवादियों के मतभेदों से स्पष्ट है। लेखक के विचार से भारोपीय जातियों के भाषा-साम्य का प्रश्न पुराणों की सहायता से संतोषजनक रीति से सुलझाया जा सकता है और विद्वानों के मतभेदों का भी निराकरण किया जा सकता है। पुराण अत्यंत स्पष्ट शब्दों में बतलाते हैं कि आर्यों का अभ्युदय मध्यदेश में हुआ और यहीं से वे भारत के भिन्न भिन्न भागों में फैले। यहीं से पश्चिम को ओर जाकर उन्होंने पंजाब, सीमाप्रांत तथा काबुल की घाटी पर अधिकार किया। जो लोग अधिक साहसी थे उन्होंने और आगे बढ़कर मध्य तथा पश्चिम एशिया में उपनिवेश बनाए। भूमध्य सागर तक पहुँचने पर उनका संपर्क यूरोपीय जातियों से हुआ। पुराणों में वर्णित आर्यों के उक्त-विध प्रसार को मान लेने से एशिया और यूरप की भिन्न भिन्न भाषाओं में पाए जानेवाले संस्कृत-मूलक शब्दों तथा भारतीय और ईरानी भाषाओं के बीच निकट संबंध की समस्या अपने आप सुलझ जाती है। भाषाशास्त्र अनुमान का आश्रय अधिक लेने के कारण अनिश्चयात्मक है। परंतु पुराणों का साक्ष्य अनुमान पर नहीं, प्रत्युत तथ्यों के स्पष्ट वर्णन पर अवलंबित है, अतः वह भाषाशास्त्र की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा

काव्यालोचन के सिद्धांत—लेखक श्री शिवनंदन प्रसाद एम० ए०, साहित्यरत्न; भूमिका-लेखक—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी; प्रकाशक—ग्रंथमाला कार्यालय, पटना; पृष्ठ संख्या १६७+४४+१०; मूल्य २॥)

पुस्तक का विषय नाम से ही प्रकट है। इसमें काव्य की आलोचना के सिद्धांतों का निरूपण है। लेखक का यह कथन यथार्थ है कि "हिंदी में सैद्धांतिक आलोचना से संबंध रखनेवाली अनेक पुस्तकें निकल रही हैं, पर संपूर्ण काव्यशास्त्र का विवेचन करनेवाला कोई एक ऐसा ग्रंथ अभी तक प्रस्तुत नहीं हो पाया जो मौलिक होने के साथ-साथ साहित्य के विभिन्न तत्त्वों की गहरी छानबीन करे।" अभी ऐसा होने के कोई लक्षण भी समीक्षक को नहीं दिखाई पड़ रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक लिखने की प्रेरणा लेखक को काव्यशास्त्र के विविध पहलुओं से हिंदी विद्यार्थियों को परिचय करानेवाले और काव्यालोचन के लिये सुनिश्चित व्यावहारिक मानदंड प्रदान करने वाले ग्रंथों के अभाव के कारण हुई। यह पुस्तक उस अभाव की पूर्ति नहीं है, न लेखक का ऐसा दावा ही है, पर इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि यह 'इस दिशा में हिंदी के विद्यार्थियों की थोड़ी सहायता करने का और इस विषय के अधिकारी विद्वानों का इधर ध्यान आकर्षित करने का' प्रशंसनीय प्रयास है।

इस पुस्तक में छः अध्याय हैं—हिंदी आलोचना का इतिहास, समालोचना-शास्त्र, भारतीय काव्यशास्त्रों का ऐतिहासिक विकास, कुछ विशिष्ट काव्य-सिद्धांतों के सैद्धांतिक रूप, काव्य (कविता) और काव्योत्कर्ष की कसौटी। अंत में चार परिशिष्टों में शब्दशक्ति, रस, अलंकार और छंदों का भी वर्णन है। संक्षेप में बी० ए० या समकक्ष परीक्षा के विद्यार्थियों के लिये सैद्धांतिक आलोचना संबंधी जानकारी एकत्र रखने का प्रयत्न किया गया है। संभवतः इसी कारण अनेक विषयों का विस्तृत विवेचन नहीं हो सका है और किन्हीं का केवल नामोल्लेख मात्र कर देना पड़ा है। वर्गीकरण पर अधिक ध्यान दिया गया है। रस-पद्धति को संभवतः आधुनिक आलोचना के लिये उपयोगी न समझकर गौण रूप से परिशिष्ट में उसकी चर्चा की गई है। आधुनिक आलोचना से उसका मेल नहीं हो सका है। पुस्तक में पाश्चात्य समीक्षा पर आधृत आधुनिक वादों और पद्धतियों का मुख्यतः विवेचन है। वादों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में हालावाद और छंदों में रबर छंद तक की प्रतिष्ठा की गई है। पंडित रामचंद्र शुक्ल की पद्धति किंचित् विस्तार के साथ दी गई है। काव्योत्कर्ष की कसौटी में अनेक दृष्टियों से काव्य को परखने की विधि दी गई है, यद्यपि किसी एक समन्वित दृष्टि का अभाव है। पर सब मिलाकर, प्राचीन रूढ़िवाद और आधुनिक संकीर्ण वादों के बीच लेखक की दृष्टि स्वस्थ एवं अपने क्षेत्र के भीतर सुस्पष्ट है। विषय-संग्रह की दृष्टि से पुस्तक विद्यार्थियों के लिये अधिक उपयोगी है।

मुद्रण के संबंध में भी कुछ कहना आवश्यक जान पड़ता है। हिंदी के पाठक मुद्रण की भूलों के अभ्यस्त हैं, अधिकांश हिंदी मुद्रक इसे अपना प्रकृत अधिकार मानते हैं। अतः 'उदाहण' (पृ० १३२), 'रदस-शा' (पृ० १४०), आदि को 'उदाहरण' और 'रसदशा' समझने में प्रयास नहीं करना पड़ेगा। पर 'श्रुत्यानुप्रास' (पृ० ४८१), 'जो चीज प्रस्तुत किये जायँ' (पृ० १४६), 'वादों की चौखटे में उसे सदा 'फीट' नहीं किया जा सकता'—इस प्रकार के उदाहरण विरसता उत्पन्न करते हैं। और 'वक्र' (=वक्तृ, पृ० १७२), 'उपपत्तिवाद' (उत्पत्तिवाद, पृ० १७६), 'अनुयितिवाद' (अनुमितिवाद, पृ० १७६), 'मुक्तिवाद' (भुक्तिवाद, पृ० १७६) जैसी अशुद्धियाँ विरसता उत्पन्न करने के साथ साथ विद्यार्थी को भ्रम में डालनेवाली हैं। आशा है अगले संस्करण में ऐसी एक भी भूल न रहने दी जायगी।

—चित्रगुप्त।

हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ—संपादक अखिल विनय, श्री गंगाराम वर्मा चंचल; प्रकाशक हिंदी साहित्य समिति, बिड़ला कालेज, पिलानी (जयपुर); मूल्य ३॥)

लोग कहते हैं कि हिंदी में पत्र-पत्रिकाओं की इन दिनों बाढ़ आ गई है पर सच्ची बात तो यह है कि हिंदी भाषाभाषियों की जन-संख्या और देश का विस्तार देखते हुए ऐसा कहना भूल है। वर्तमान सभ्य देशों में तो लाखों पत्र प्रातः-साय निकलते हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं के अतिरिक्त भिन्न भिन्न व्यवसायों से संबंध रखनेवाली पत्रिकाएँ भी निकलती हैं। खेतिहर, ग्वाले, मोची, लोहार आदि साधारण समाचारपत्र तो पढ़ते ही हैं, उनकी अपनी अपनी अलग-अलग भी हजारों पत्रिकाएँ हैं। वहाँ पत्रकारों को विधिवत् शिक्षा देने की भी योजना है। हिंदी में तो अभी तक जो कुछ हुआ है, बहुत ही कम है। भारतेंदुजी, आचार्य द्विवेदी जी और कुछ थोड़े से अग्रगण्य विद्वानों तथा कांग्रेस और आर्यसमाज ऐसी संस्थाओं की कृपा से आज वह दिन अवश्य आ गया है कि हिंदी में पत्रकारिता एक प्रतिष्ठित व्यवसाय हो गया है!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कैसे हुआ, कहाँ हुआ, कब हुआ, किसने किया इन सब बातों पर इस पुस्तक के संपादकों ने अच्छा प्रकाश डाला है। जिस समिति ने यह पुस्तक प्रकाशित की है वह स्वर्गीय श्री महादेव देसाई की स्मृति में, जो स्वयं उच्चकोटि के पत्रकार थे, स्थापित हुई है। श्री कन्हैयालाल सहल का "हिंदी पत्रों के सवा सौ वर्ष" और आचार्य श्री नित्यानंद सारस्वत का "विदेशों में हिंदी पत्र"—ये दोनों लेख बड़े महत्त्व के हैं। लेखकों ने बड़ी खोज से काम लिया है। पुस्तक में दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक पत्रों के नाम, दाम, सन् आदि दे दिए गए हैं। साथ ही ऐतिहासिक बालकोपयोगी, महिलोपयोगी, धार्मिक आदि पत्र-पत्रिकाओं की सूची दे दी गई है जिनमें से कई बंद हो गई हैं और कई चल रही हैं। स्वामी भवानीदयाल संन्यासी के अफ्रीका में 'हिंदी' नाम के पत्र का तो पुस्तक में उल्लेख है पर काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा पं० चंद्रबली पांडेय के संपादकत्व में प्रकाशित 'हिंदी' नाम की मासिक पत्रिका का उल्लेख नहीं है, जो सं० १९९७ से २००० तक निकली थी और जिसका वार्षिक मूल्य पहले केवल ।) और पीछे ।।) था। पं० केशवदेव शास्त्री ने काशी में 'नवजीवन' पत्र निकाला था जिसका समय शायद सन् १९१० से १९१२ था। समाज-सुधार संबंधी स्वतंत्र विचारों के लिये उसकी बड़ी ख्याति हुई थी। महामना पं० मदनमोहन मालवीय के तत्त्वावधान में पं० सीताराम चतुर्वेदी ने 'सनातनधर्म' नाम का एक पत्र शायद १९३२ से १९३० तक निकाला था। इन दोनों का भी उल्लेख नहीं है।

यहाँ यह भी बतला देना चाहिए कि काशी के जिस 'सुदर्शन' पत्र का इस पुस्तक में उल्लेख है वह लहरी प्रेस में छपता था और उसके संपादक पं० माधवप्रसाद मिश्र थे जिनसे एक बेर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से बड़ा रोचक और विद्वत्तापूर्ण शास्त्रार्थ छिड़ गया था जिसके कारण 'सरस्वती' और 'सुदर्शन की माँग बढ़ गई थी।

जो कुछ हो, इस पुस्तक के संपादकों को जितनी सामग्री उपलब्ध हुई है उसका उन्होंने प्रशंसनीय उपयोग किया है। पत्रों को वर्णानुक्रम सूची से पता चलता है कि एक ही नाम के कई पत्र भिन्न-भिन्न स्थानों से समय-समय पर निकले हैं। नगर-क्रम से दी हुई सूची से मालूम हो जाता है कि किस नगर को कब और कितने पत्र निकालने का श्रेय प्राप्त है।

—राम।

समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकों की सूची स्थानाभाव के कारण इस अंक में नहीं दी जा सकी। यह आगामी अंक में प्रकाशित होगी। —संपा०—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविध

'पत्रिका, वर्ष ५४

इस पत्रिका के तेंतालिसवें वर्ष में प्रवेश के अवसर पर हमने इसकी पूर्वसेवाओं के सिंहावलोकन के साथ इसे 'और उपयोगी सिद्ध' करने, 'इसके द्वारा और व्यापक अनुशीलन तथा विवेचनाएँ प्रस्तुत' करने के निमित्त इसके उद्देश्यों तथा स्वरूप के नवनिश्चय का निवेदन किया था। उन्हीं उद्देश्यों की छाया में शक्ति-परिस्थिति-वश न्यूनाधिक अनुरूपता से पत्रिका के पिछले ग्यारह वर्ष पूरे हुए हैं। इस बीच इसके द्वारा उन उद्देश्यों की जितनी पूर्ति हुई है, एवं गत तिरपन वर्षों में इससे जैसी सेवा बनी है, उतनी और वैसी ही यह कृतकृत्य है।

पत्रिका का यह चौवनवाँ वर्ष, हमें सविश्वास आशा है कि, भारत तथा नागरी-हिंदी के लिये अपूर्व विधान-व्यवस्था, प्रतिष्ठा एवं अपूर्व उत्तरदायित्व के उदय का वर्ष होगा, जिसमें सर्वथा भारत निजभाग्य-विधाता बनेगा और हिंदी उसकी विधात्री भारती। इस उदय में भारतीय अनुशीलन को स्वतंत्र, सर्वमुख प्रगति का और हिंदी को उसके लिये समर्थ माध्यम बनने का संक्रांत संकल्प सँभालना होगा। निश्चय ही भारत-हिंदी या भारत-भारती के मानी-व्रती इस संकल्प को यथेष्ट सँभालेंगे, सिद्ध करेंगे। ऐसे संकल्प से ही प्रेरित इस पत्रिका के ये उद्देश्य रहे हैं :

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

इस अवसर पर पुनः हम उस संकल्प के स्मरण के साथ इन उद्देश्यों का ध्यान तथा पत्रिका को इनके यथासंभव अनुरूप प्रस्तुत करने का विनीत समारंभ करते हैं। इस नवसमारंभ में हम सहृदय पाठकजन तथा विद्वज्जन का सादर आमंत्रण करते हैं और आशंसन करते हैं कि उनके सद्भाव और सहयोग से इस पत्रिका के द्वारा उक्त संकल्प तथा उद्देश्यों की उत्तरोत्तर पूर्ति एवं भारत हिंदी की अधिकाधिक सेवा सिद्ध हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय संघ की भाषा

भारतीय संविधान परिषद् द्वारा नागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिंदी भाषा के संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकृत हो जाने से अब उस दशकों से चलते हुए अप्रिय विवाद का अंत हो गया जो देश के भिन्न भिन्न भाषाभाषी वर्गों के बीच घातक द्वेष एवं संघर्ष का कारण बनता जा रहा था। भारतीय इतिहास की यह एक असाधारण महत्त्वपूर्ण घटना है। इतने विशाल क्षेत्र एवं जनसमूह के लिये इस देश में कभी कोई एक देशभाषा राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई हो, ऐसा इतिहास से विदित नहीं होता। यह अपूर्व हर्ष और गौरव केवल हिंदीभाषियों अथवा हिंदीप्रचारकों का नहीं, प्रत्युत भारतीय राष्ट्र के प्रत्येक हितचिंतक एवं समस्त-प्रजाजन का है। प्रायः अर्धशताब्दी से जिन व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने इस महान् तथा पावन उद्देश्य की सिद्धि के लिये उद्योग किया, त्याग-तपस्या की, वे सभी तथा भारतीय संविधान-परिषद् के सदस्य हमारे हार्दिक धन्यवाद और बधाई के पात्र हैं।

संविधान के भाषासंबंधी अंश का एक चलता अनुवाद यह है—

भाग १४ क

अध्याय १

संघ की भाषा

३०१ क—(१) संघ की सरकारी भाषा देवनागरी लिपि में लिखी हिंदी होगी। संघ की सरकारी भाषा

संघ के सरकारी कार्यों में प्रयुक्त होनेवाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप होगा।

(२) इस अनुच्छेद के वाक्य (१) की किसी बात को बाधित न करते हुए, इस संविधान के संप्रयोग के समय से १५ वर्ष की अवधि तक, उन सभी सरकारी कार्यों के लिये अंग्रेजी का प्रयोग होता रहेगा जिनके लिये वह उक्त समय में प्रयुक्त होती थी।

प्रतिबंध यह है कि राष्ट्रपति उक्त अवधि में संघ के किसी कार्य के लिये अंग्रेजी भाषा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ साथ हिंदी भाषा और भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप के साथ साथ देवनागरी अंकों के प्रयोग का भी अधिकार अपनी आज्ञा द्वारा प्रदान कर सकते हैं।

(३) इस अनुच्छेद की किसी बात को बाधित न करते हुए, उक्त १५ वर्षों की अवधि के बाद पार्लामेंट कानून द्वारा, ऐसे कार्यों के लिये जिनका कि उस कानून में विनिर्देश किया गया हो,

(क) अंग्रेजी भाषा या

(ख) देवनागरी अंकों

के प्रयोग की व्यवस्था दे सकती है।

सरकारी भाषा पर पार्लामेंट का कमीशन और समिति

३०१ ख—(१) इस संविधान के संप्रयोग के समय से ५ वर्ष बीतने पर और उसके बाद उक्त समय से १० वर्ष बीतने पर राष्ट्रपति अपनी आज्ञा द्वारा एक कमीशन बनाएँगे जिसमें एक अध्यक्ष और राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त ऐसे अन्य सदस्य होंगे जो अनुसूची ७ में विनिर्दिष्ट भिन्न भिन्न भाषाओं का प्रतिनिधित्व करेंगे। उक्त आज्ञा में कमीशन की कार्यविधि का भी स्पष्ट उल्लेख रहेगा।

(२) कमीशन का यह कर्तव्य होगा कि निम्नलिखित बातों के संबंध में राष्ट्रपति से सिफारिश करे—

(क) संघ के सरकारी कार्यों के लिये हिंदी भाषा का अधिकाधिक प्रयोग;

(ख) संघ के किसी या सभी सरकारी कार्यों के लिये अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर प्रतिबंध;

(ग) इस संविधान के अनुच्छेद ३०१ ङ में कथित किसी कार्य या सभी कार्यों के लिये प्रयोज्य भाषा;

(घ) संघ के एक या अधिक विनिर्दिष्ट कार्यों के लिये प्रयोज्य अंकों का रूप;

(ङ) संघ की सरकारी भाषा और अंतर्प्रांतीय व्यवहार की भाषा तथा उनसे संबंध रखने वाले कोई अन्य विषय जिन्हें राष्ट्रपति कमीशन के पास भेजें।

(३) इस अनुच्छेद के वाक्य २ के अंतर्गत सिफारिशें करने में कमीशन भारत की औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक उन्नति का और सरकारी नौकरियों के संबंध में अहिंदीभाषी क्षेत्रों की उचित माँगों और स्वार्थों का समुचित ध्यान रखेगा।

(४) ३० सदस्यों की एक समिति बनाई जायगी जिसमें २० लोकसभा के और १० राज्यपरिषद् के सदस्य होंगे। ये सदस्य क्रमशः लोकसभा और राज्यपरिषद् के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति के अनुसार एक-परिवर्त्य मत द्वारा चुने हुए होंगे।

(५) समिति का कर्तव्य होगा कि वह इस अनुच्छेद के अंतर्गत बनाए गए कमीशन की सिफारिशों की जाँच करके उनपर राष्ट्रपति को अपनी सम्मति निवेदित करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) इस संविधान के अनुच्छेद ३०१ क में सन्निविष्ट किसी बात का विरोध न करते हुए राष्ट्रपति इस अनुच्छेद के वाक्य (५) में उल्लिखित सम्मति पर विचार करने के बाद पूरी या आंशिक सम्मति के अनुसार आदेश जारी कर सकते हैं।

अध्याय २

प्रादेशिक भाषाएँ

३०१ ग—अनुच्छेद ३०१ घ और ३०१ ङ की व्यवस्थाओं के अधीन, कोई प्रांत, उस प्रांत में प्रयुक्त किसी भाषा को या हिंदी को, कानून द्वारा, उस प्रांत के किसी या सभी सरकारी कार्यों के लिये प्रयोज्य भाषा या भाषाओं के रूप में रख सकता है। *किसी प्रांत की सरकारी भाषा या भाषाएँ*

प्रतिबंध यह है कि जब तक उस प्रांत की व्यवस्थापिका कानून द्वारा अन्य व्यवस्था न करे तब तक अंग्रेजी भाषा उस प्रांत के भीतर उन सभी सरकारी कार्यों के लिये प्रयुक्त होती रहेगी जिनके लिये वह इस संविधान के संप्रयोग के समय प्रयुक्त होती थी।

३०१ घ—संघ में अभी सरकारी कार्यों में प्रयोग के लिये अधिकृत भाषा वही रहेगी जो प्रांत-प्रांत के बीच और प्रांत और संघ के बीच व्यवहार की सरकारी भाषा होगी। *प्रांतों के परस्पर व्यवहार तथा प्रांतों और संघ के बीच व्यवहार की सरकारी भाषा*

प्रतिबंध यह है कि यदि दो या अधिक प्रांत यह स्वीकार करें कि उनके परस्पर व्यवहार की सरकारी भाषा हिंदी हो तो वह भाषा ऐसे व्यवहार के लिये प्रयुक्त हो सकेगी।

३०१ ङ—जब किसी प्रांत के काफी बड़े जनवर्ग की ओर से माँग किए जाने पर राष्ट्रपति को यह विश्वास हो कि वह जनवर्ग अपने द्वारा बोली जानेवाली किसी भाषा को राष्ट्र से स्वीकृत कराने का इच्छुक है, तो वे आदेश दे सकते हैं कि वह भाषा उस प्रांत भर में या उसके किसी भाग में सरकारी तौर पर ऐसे कार्य के लिये स्वीकृत की जाय जिसका वे विनिर्देश करें।

अध्याय ३

सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों आदि की भाषा

३०१ च—(१) इस भाग की पूर्वोक्त व्यवस्थाओं में सन्निविष्ट किसी बात को बाधित न करते हुए, जब तक पार्लमेंट कानून द्वारा अन्य व्यवस्था न करे तब तक— *सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में प्रयोग की तथा बिलों और कानूनों की भाषा*

(क) सर्वोच्च न्यायालय और प्रत्येक उच्च न्यायालय में सभी कार्य

(ख) तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[१] पार्लमेंट की किसी सभा में या किसी प्रांत की किसी व्यवस्थापिका में उपस्थित किए जानेवाले बिलों या उनके संशोधनों,

[२] पार्लमेंट या किसी प्रांत की व्यवस्थापिका द्वारा पास किए हुए सभी कानूनों और राष्ट्रपति या किसी गवर्नर या शासक द्वारा जारी किए हुए सभी आर्डिनेंसों, जिनका प्रसंग हो,

[३] संविधान के अंतर्गत अथवा पार्लमेंट या किसी प्रांत की व्यवस्थापिका द्वारा बनाए गए किसी कानून के अंतर्गत जारी की हुई सभी आज्ञाओं, नियमों, उपनियमों और उपकानूनों,

के प्रामाणिक वाचन अंग्रेजी भाषा में होंगे ।

(२) इस अनुच्छेद के वाक्य (१) के उपवाक्य (क) में उल्लिखित कोई बात किसी प्रांत के लिये, उसके उच्च न्यायालय में निर्णयों, डिग्रियों और आदेशों को छोड़कर अन्य कार्यों के लिये, राष्ट्रपति की अनुमति से, हिंदी भाषा को अथवा उस प्रांत के सरकारी कार्यों के लिये स्वीकृत किसी अन्य भाषा को नियत करने में बाधक नहीं होगी ।

(३) इस अनुच्छेद के वाक्य (१) के उपवाक्य (ख) में सन्निविष्ट किसी बात को बाधित न करते हुए, जब किसी प्रांत की व्यवस्थापिका बिलों, विधानों, आर्डिनेंसों और कानून का बल रखनेवाली आज्ञाओं तथा उक्त उपवाक्य में निर्दिष्ट नियमों के लिये अंग्रेजी से भिन्न किसी अन्य भाषा का प्रयोग विहित कर दे तो उसका गवर्नर द्वारा या राज्य के शासक द्वारा प्रमाणित अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया जायगा और वही इस अनुच्छेद के अंतर्गत उसका अंग्रेजी भाषा का प्रामाणिक वाचन माना जायगा ।

३०१ छ—इस संविधान के संप्रयोग के समय से १५ वर्ष की अवधि के भीतर कोई भी बिल या संशोधन जिसमें इस संविधान के अनुच्छेद ३०१ च के वाक्य १ में कथित किसी कार्य के लिये प्रयोज्य भाषा के संबंध में व्यवस्था दी होगी, राष्ट्रपति की स्वीकृति बिना पार्लमेंट की किसी सभा में उपस्थित नहीं किया जायगा, और राष्ट्रपति इस संविधान के अनुच्छेद ३०१ ख के अंतर्गत बनाए गए कमीशन की सिफारिशों तथा उस अनुच्छेद में निर्दिष्ट समिति की सम्मति पर विचार किए बिना, ऐसे बिलों या संशोधनों को उपस्थित करने की स्वीकृति नहीं देंगे ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय ४

विशेष आदेश

३०१ ज—प्रत्येक व्यक्ति को, किसी शिकायत को दूर कराने के लिये, संघ या प्रांत के किसी अफसर या अधिकारी को, संघ या प्रांत में—जिसका प्रसंग हो—प्रयुक्त किसी भाषा में आवेदनपत्र देने का अधिकार होगा। शिकायतें दूर कराने के लिये आवेदन पत्र की भाषा

३०१ झ—संघ का कर्तव्य होगा कि वह हिंदी का प्रचार बढ़ाए और उसे इस प्रकार विकसित करे जिससे वह भारत की संमिश्र संस्कृति के सभी वर्गों के विचार-प्रकाशन का साधन बन सके। हिंदी को समृद्ध बनाने के लिये वह उसकी स्वाभाविक शक्ति को नष्ट किए बिना उसमें हिंदुस्तानी और भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त रूपों, शैलियों और अभिव्यक्तियों का समावेश करे तथा जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ मुख्यतः संस्कृत और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करे। हिंदी के विकास के लिये आदेश

अनुसूची ७ क

[अनुच्छेद ३०१ ख]

१—असमिया। २—बंगाली। ३—कन्नड़। ४—गुजराती। ५—हिंदी। ६—कश्मीरी। ७—मलयालम्। ८—मराठी। ९—उड़िया। १०—पंजाबी। १० क—संस्कृत। ११—तामिल। १२—तेलेगु। १३—उर्दू।

यद्यपि संविधान के उपर्युक्त भाषासंबंधी अंश का स्वीकार अनेक ननु-नच एवं किंतु-परंतु के साथ हुआ, तथापि संविधान के स्वीकृत हो जाने पर अब हमें मानना चाहिए कि परिस्थितिवश वही स्वाभाविक था और उसी रूप में वह हमारे लिये ग्राह्य है। उसके आधार पर अब हमें आगे का पथ निश्चित करना आवश्यक है। हिंदी-हितैषियों का कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ, वस्तुतः उनका उत्तरदायित्व और कर्तव्य-भार अब पहले से कई गुना अधिक बढ़ गया है। इस दृष्टि से उन भाषा-अनुच्छेदों की व्यापकता पर विचार करने की आवश्यकता है।

संविधान के भाषासंबंधी अंश की दो बातों पर विशेष और व्यापक रूप से असंतोष प्रकट किया गया है—एक तो यह कि हिंदी भाषा और नागरी लिपि के साथ अंक नागरी के न रखकर अंग्रेजी के ही—यद्यपि उन्हें भारतीय अंकों का अंतर्राष्ट्रीय रूप कहा गया है—रखे गए हैं; दूसरे, संविधान के संप्रयोग के समय से १५ वर्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अवधि तक उन सभी सरकारी कार्यों में अंग्रेजी का प्रयोग होता रहेगा जिनमें वह उक्त समय में प्रयुक्त होती थी। निष्पक्ष विचार से, इसमें कोई संदेह नहीं कि यह असंतोष वास्तविक और उचित है। वस्तुतः अनुच्छेद ३०१ क (१) के प्रथम वाक्य के साथ उक्त दोनों बातों का कोई तुक, कोई सामंजस्य नहीं। हिंदी भाषा और नागरी लिपि के साथ उसके अपने नागरी अंक ही होने चाहिएँ—इसके विरुद्ध कोई ठोस और संगत तर्क उपस्थित नहीं किया गया, न किया ही जा सकता। किंतु जैसा पहले कहा जा चुका है, जो हुआ, परिस्थितवश वही स्वाभाविक था; वह हमारे वर्त्तमान सामाजिक और राजनीतिक जीवन की विविध असमंजसताओं तथा बेतुकेपन का ही प्रतीक है। अंतः राष्ट्र के हित को देखते हुए विषम विरोध के समक्ष आवश्यक समझौते के रूप में जो स्वीकृत हुआ वह संप्रति हमारे लिये मान्य है। अब यह हमारे उचित प्रयत्न पर ही निर्भर है कि नागरी लिपि के साथ अंग्रेजी अंकों का यह संबंध स्थायी हो, अथवा शीघ्र से शीघ्र उनके स्थान पर नागरांकों को प्रतिष्ठित किया जाय।

१५ वर्ष की अवधि के संबंध में भी प्रायः यही बात कही जा सकती है। इतनी लंबी अवधि का अड़ंगा व्यर्थ है। स्वतंत्र राष्ट्र और उसकी एक अपनी स्वतंत्र भाषा के बीच विदेशी भाषा का एक दिन, एक क्षण का भी व्यवधान असह्य है। परंतु जो लोग हिंदी का विरोध करने पर तुले हुए थे—चाहे यह विरोध किसी भी कारण से हो—उनका ध्यान सर्वथा न रखने से देश को विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ सकता था, अतः उनके साथ समझौता अनिवार्य था। परंतु अनुच्छेद ३०१ क (३) में १५ वर्ष की अवधि पर भी संतोष न कर पार्लामेंट को अधिकार दिया गया है कि १५ वर्ष के बाद भी वह कानून द्वारा कुछ कार्यों में अंग्रेजी के प्रयोग की व्यवस्था कर सकती है। यह तो हिंदी के शक्ति-सामर्थ्य के प्रति और व्यापक अविश्वास तथा हिंदी-विरोधियों का अधिकाधिक परितोष करने की वृत्ति का ही परिचायक है।

हिंदी-समर्थकों की ओर से इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि १५ वर्ष के बदले उक्त अवधि ५ वर्ष वा अधिक से अधिक १० वर्ष की होनी चाहिए थी। इससे असहमत होने का कोई भी उचित कारण नहीं हो सकता। परंतु अब हम अनुच्छेद ३०१ क (२) पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता समझते हैं, जिसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा गया है कि "राष्ट्रपति उक्त अवधि में संघ के किसी कार्य के लिये अंग्रेजी भाषा के साथ साथ हिंदी भाषा, और भारतीय अंकों के अंतर्राष्ट्रीय रूप के साथ साथ देवनागरी अंकों के प्रयोग का भी अधिकार अपनी आज्ञा द्वारा प्रदान कर सकते हैं।" इसमें इस बात के लिये पर्याप्त अवकाश है कि अंग्रेजी भले ही साथ साथ चलती रहे, परंतु नागरी अंकों सहित नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा अवधि के भीतर ही अपने पद पर पूर्णतः प्रतिष्ठित हो सकती है; और ऐसा हो जाते ही संघीय पद पर अंग्रेजी का बने रहना स्वतः अनावश्यक हो जायगा। परंतु इसके लिये निरालस्य भाव से समुचित दिशा में निरंतर प्रयत्न अपेक्षित है; क्योंकि ऐसा होना राष्ट्रपति की अनुकूल आज्ञा पर निर्भर है और राष्ट्रपति की आज्ञा अनुच्छेद ३०१ ख में उल्लिखित कमीशन की सिफारिशों तथा समिति की सम्मति पर अवलंबित होगी। उक्त अनुच्छेद के अनुसार संविधान संप्रयुक्त होने से ५ वर्ष के बाद नियुक्त कमीशन हिंदी के संबंध में क्या सिफारशें करेगा और समिति उसपर कैसी सम्मति देगी यह बहुत कुछ इसी बात पर निर्भर है कि उस समय तक हिंदी के विकास और प्रचार में कितनी वृद्धि हुई तथा अहिंदीभाषी देशवासियों ने उसे कहाँ तक अपनाया। यदि उनकी ओर से उस समय भी हिंदी का विरोध आज का सा ही बना रहा तो अंग्रेजी की आयु बढ़ती ही जायगी !

यह संतोष की बात है कि संविधान में संघीय भाषा के अतिरिक्त प्रांतों के आंतरिक तथा पारस्परिक व्यवहार की भाषा के संबंध में अवधि का कोई बंधन नहीं रखा गया है। अनुच्छेद ३०१ ग तथा घ के अनुसार कोई भी प्रांत जब चाहे कानून द्वारा हिंदी को अपनी राजभाषा बना सकता है और दो या अधिक प्रांत अपने पारस्परिक व्यवहार की भाषा भी हिंदी को बना सकते हैं।

हिंदी के संघीय भाषा घोषित होने के साथ साथ यह अत्यंत स्वाभाविक तथा आवश्यक था कि उसके विकास एवं प्रचार का दायित्व भी संघ पर रखा जाय, जैसा अनुच्छेद ३०१ झ में किया गया है। किंतु उस उपसंहार में हिंदी के स्वरूप का निर्देश करते हुए 'हिंदुस्तानी' का उल्लेख किया गया है, जब कि संविधान में स्वीकृत भाषाओं की सूची में उसका कोई अस्तित्व स्वीकृत नहीं है ! अभिप्राय तो उस ओट में उर्दू से ही रहा। अच्छा होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका ही उक्त सूची के अनुसार स्पष्ट नामोल्लेख होता। तब उस उल्लेख का कुछ अर्थ भी होता।

परंतु मौलिक तथ्य यह है कि प्रस्तुत संविधान के द्वारा '*देवनागरी लिपि में लिखी हिंदी*' भारत की राजभाषा स्वीकृत हुई है। यह वस्तुतः अपूर्व स्वीकृति और अपूर्व अवसर है। अब इससे यथेष्ट लाभ संपादित होना, निकट ही भविष्य में नागरी-हिंदी का भारत की यथार्थ भारती सिद्ध होना हिंदीभक्तों एवं भारतभक्तों की सद्बुद्धि और सद्उद्योग के अधीन है।

—संपा०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभा की प्रगति

(वैशाख-आषाढ़ सं० २००६)

रविवार २७ चैत्र, २००५ वि० (१० अप्रैल, १९४९) को हुए सभा के छप्पनवें वार्षिक अधिवेशन में संवत् २००७ के लिये सभा के निम्नलिखित पदाधिकारी तथा प्रबंध-समिति के सदस्य चुने गए—

पदाधिकारी

सभापति—श्री राय कृष्णदास। उपसभापति (१)—श्री सहदेव सिंह। उपसभापति (२)—श्री बलदेव उपाध्याय। प्रधान मंत्री—श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़। साहित्य-मंत्री—श्री डा० राजेंद्रनारायण शर्मा। अर्थ-मंत्री—श्री मुरारीलाल केडिया। प्रकाशन-मंत्री—श्री काशीनाथ उपाध्याय। प्रचार-मंत्री—श्री देवीनारायण ऐडवोकेट। संपत्ति-निरीक्षक—श्री मथुरादास। पुस्तकालय-निरीक्षक—श्री परमेश्वरीलाल गुप्त। आय-व्यय-निरीक्षक—श्री हरनारायण टंडन।

प्रबंध-समिति के सदस्य

सं० २००६ से २००८ तक के लिये—श्री करुणापति त्रिपाठी, काशी। श्री बच्चनसिंह, काशी। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, काशी। श्री कृष्णानंद, काशी। श्री भगवतीशरण सिंह, काशी। श्री डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, बंगाल। श्री गोविंदचंद्र मित्र, उत्कल। श्री अशोक जी, संयुक्तप्रांत। श्री जगन्नाथ पुच्छरत, पंजाब। श्री गोपालचंद्र सिंह, सं० प्रांत। श्री विद्याधर शास्त्री, बीकानेर। श्री शिवपूजन सहाय, बिहार। श्री डा० ओम्प्रकाश, ब्रह्मदेश।

संवत् २००६ से २००७ तक के लिये—श्री रामऋषि शुक्ल, काशी। श्री गोविंदप्रसाद केजरीवाल, काशी। श्री ठाकुरदास ऐडवोकेट, काशी। श्री केशवप्रसाद मिश्र, काशी। श्री जीवनदास, काशी। श्री घनश्यामदास पोद्दार, बंबई। श्री नंददुलारे वाजपेयी, मध्य प्रांत। श्री माधवराव विनायकराव किवे, राज्य। श्री डा० धीरेंद्र वर्मा, सं० प्रांत। श्री विश्वेश्वरनाथ वाग्रे, राज्य। श्री शांतिप्रिय आत्माराम, राज्य। श्री ना० नागप्पा, सिंहल। श्री हनुमत् शास्त्री, मद्रास।

संवत् २००६ के लिये—श्री दिलीपनारायण सिंह, काशी। श्री रत्नशंकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसाद, काशी । श्री श्रीनिवास, काशी । श्री शिवकुमार सिंह, काशी । श्री ज्ञानवती त्रिवेदी, काशी । श्री मैथिलीशरण गुप्त, सं० प्रांत ।.श्री डा० बाबूराम सक्सेना, सं०प्रांत। श्री झाबरमल्ल शर्मा, राज्य । श्री मोतीलाल मेनारिया, राज्य । (रिक्त), सिंध । श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, दिल्ली । महामहिम श्री श्रीप्रकाश, असम । श्री जी० सच्चिदानंद, मैसूर । श्री ए० बारान्निकोव, रूस । श्री जगदीशचंद्र, अमेरिका ।

प्रबंध-समिति के शनिवार २४ वैशाख, २००६ (७ मई, १६४६) के अधिवेशन में विभागाध्यक्षों का चुनाव इस प्रकार हुआ—

(क) खोज-विभाग के निरीक्षक—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ।

(ख) नागरीप्रचारिणी पत्रिका के संपादक—श्री कृष्णानंद ।

(ग) अनुशीलन-विभाग के अध्यक्ष—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ।

(घ) 'प्रसाद'-व्याख्यानमाला के संयोजक—श्री गिरिजाशंकर गौड़ ।

(ङ) संकेतलिपि विद्यालय के अध्यक्ष—श्री निष्कामेश्वर मिश्र ।

(च) पुस्तकालय-उपसमिति के संयोजक—श्री बचनसिंह ।

आरंभ से ही प्रबंध-समिति इस वर्ष मुख्यतः दो बातों की ओर विशेष रूप से ध्यान दे रही है । एक तो उत्तमोत्तम ग्रंथों का प्रणयन और प्रकाशन, दूसरे सभा की आय के विभिन्न स्रोतों को पुष्ट और प्रशस्त रखते हुए व्यय में यथासंभव कमी । आधारिक-कोश के लेखन का कार्य श्री करुणापति त्रिपाठी को सौंपा गया है । संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर की छपाई आरंभ हो गई है । इसके अंत में देने के लिये नवीन शब्दों और अर्थों का एक परिशिष्ट भी तैयार हो रहा है जिससे आशा है यह कोश अपनी पारंपरीण सर्वश्रेष्ठता स्थिर रख सकेगा । इस त्रिमास में निम्नलिखित नवीन पुस्तकें प्रकाशित हुईं—

१—हिंदी कारकों का विकास, ले० श्री शिवनाथ ।

२—गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय-साधना, ले० श्री व्योहार राजेंद्रसिंह ।

३—सूरसागर, प्रथम भाग ।

४—रामचरितमानस, सं० स्व० श्री शंभुनारायण चौबे ।

५—जीवों की कहानी, ले० कुँवर सुरेशसिंह ।

६—मुगल दरबार भाग ३, अनु० श्री व्रजरत्नदास ।

प्रकाशन-भंडार की जाँच और विक्रय की नवीन व्यवस्था भी की गई है एवं भंडार के लिये लगभग ४५००) व्यय करके नवीन भवन बनवाया गया है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस वर्ष से प्रांतीय सरकार ने नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला के प्रकाशन के लिये २०००) की वार्षिक सहायता देना स्वीकार किया है।

इस वर्ष सभा की ओर से माननीय श्री संपूर्णानंद जी को जो अभिनंदन ग्रंथ अर्पित किया जानेवाला है उसके लिये तैयारी हो रही है। प्रमुख विद्वानों के लेख आदि प्राप्त हो चुके हैं और छपाई आरंभ हो गई है।

आर्यभाषा पुस्तकालय

इस त्रिमास में पुस्तकालय ७७ दिन तथा उससे संबद्ध वाचनालय ६१ दिन खुला रहा। पाठकों की औसत उपस्थिति २०० थी। २०२ ग्रंथ विभिन्न दाताओं से भेंट में मिले तथा ४७५।।) की पुस्तकें क्रय की गईं। पुस्तकालय की सूची का जो अंश अप्रकाशित है उसको टंकित (टाइप) करा लेने की व्यवस्था की गई है।

हस्तलिखित ग्रंथों की खोज

खोज का कार्य इस अवधि में रायबरेली और प्रतापगढ़ जिलों में क्रमानुसार श्री दौलतराम जुयाल और श्री कृष्णकुमार वाजपेयी द्वारा होता रहा। रायबरेली जिले में कुल ५७ ग्रंथों के तथा प्रतापगढ़ में ३१ ग्रंथों के विवरण लिए गए। प्रमुख ग्रंथों के संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित हैं—

क्रमांक	ग्रंथ	रचयिता	रचनाकाल	लिपिकाल	विषय
१.	साबर तंत्र	×	×	१७६३ वि०	तंत्र मंत्र (गद्य में)
२.	भ्रमर गीत	प्रागनि	×	×	गोपी-उद्धव-संवाद
३.	सनहेसागर	हंसराज बख्शी	×	×	कृष्णलीला
४.	व्यंग्यार्थ कौमुदी	प्रताप कवि	१८८१	१६०७	रीति
५.	अलंकार-मंजरी	ऋषिनाथ	१८३०	१८६०	अलंकार
६.	विष्णुपुराण	भिखारीदास	×	×	
७.	बैताल पचीसी	सूरत कवि	×	×	(गद्य में)
८.	काव्य-कल्पद्रुम	विश्वनाथ सिंह	१६४३	×	
९.	विक्रम नाटक	रणविजय बहादुरसिंह	×	×	
१०.	ज्ञान कवित्त और पद	शिवदीनदास	×	१८६१	

—सहायक मंत्री।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचरितमानस

(संपादक-मानसमराल स्वर्गीय श्री शंभुनारायण चौबे)

गोस्वामी तुलसीदास जी के "मानस" के अब तक शताधिक विभिन्न संस्करण निकल चुके हैं, किंतु विद्वन्मंडली और भक्त-संप्रदाय की मानस के शुद्धतम पाठ की आकांक्षा-पूर्ति उनमें से किसी से भी पूर्ण रूप से अब तक नहीं हो पाई है। इसी कमी को पूरा करने के उद्देश्य से सभा ने स्वर्गीय चौबे जी से, जिन्होंने मानस के ही निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया, आग्रह करके मानस का यह संस्करण प्रस्तुत कराया है। चौबे जी ने इसके संपादन और पाठनिर्धारण में भागवतदास, वि० सं० १७२१, सं० १७६२, छक्कनलाल, रघुनाथदास, बंदन पाठक, काशिराज, कोदोराम, श्रावणकुंज, राजापुर आदि की प्रतियों एवं मानस के लब्धप्रतिष्ठ ज्ञाताओं और साधकों से सहायता लेकर अत्यंत सावधानता से गोस्वामी जी की मौलिक वाणी निर्दिष्ट की है। मानस का यह संस्करण अब तक प्रकाशित अन्य समस्त संस्करणों से शुद्ध और श्रेष्ठ है, इसमें लेशमात्र संशय नहीं। मानस-प्रेमियों एवं मानस संबंधी शोध कार्य करनेवालों के लिये यह ग्रंथ परमोपयोगी है। इसका मूल्य ७) है।

गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय-साधना

(लेखक—श्री व्योहार राजेंद्रसिंह)

हिंदी साहित्य में गोसाईं जी का क्या स्थान है यह बताने की आवश्यकता नहीं। अपने मानस के आरंभ में ही उन्होंने "नानापुराण निगमागम संमतं" कहकर अपनी जिस समन्वय-वृत्ति का उल्लेख किया है वह उनकी समस्त रचनाओं में आदि से अंत तक व्याप्त है। उस समन्वय-परंपरा की पूरी छानबीन करके विद्वान् लेखक ने गोसाईं जी के विचारों की मीमांसा इस पुस्तक में की है। प्रसंगात् प्रारंभिक काल से लेकर मध्ययुग तक भारतीय संस्कृति, धर्म तथा साहित्य की धारावाहिक रूपरेखा भी लेखक ने अंकित कर दी है। गोसाईं जी के भक्तों तथा उनकी रचनाओं के अध्येताओं के लिये यह पुस्तक विशेष उपयोगी है। पुस्तक दो भागों में है। मूल्य प्रति भाग ४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रस-मीमांसा

(लेखक—स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल)

इसमें लेखक ने आधुनिक जिज्ञासा को दृष्टि में रखकर रस का विवेचन किया है। इस ग्रंथ में प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र और नवीन पश्चिमी मनोविज्ञान की पूरी छान-बीन के साथ रस एवं भाव का निरूपण हुआ है। पंडितराज जगन्नाथ के बाद से शास्त्राभ्यासियों ने एक प्रकार से रस-मीमांसा करनी छोड़ दी थी। अतः भारतीय रीतिशास्त्र में आचार्य के इस ग्रंथ का महत्त्व स्वतः सिद्ध है। इसमें काव्य, विभाव, रस और शब्द-शक्ति नामक ५ खंड हैं जिनके अंतर्गत १० अध्यायों में काव्यगत रस की सभी दृष्टियों से सम्यक् विवेचना की गई है। यह वही ग्रंथ है जिसके सैद्धांतिक मानदंड से सूर, तुलसी, जायसी आदि कवियों की विशद और हिंदी-साहित्य की सामान्य स्वरूपबोधक समीक्षा आचार्य ने प्रस्तुत की है तथा जिसकी प्रतीक्षा हिंदी-जगत् बहुत दिनों से कर रहा था। यह ग्रंथ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। मूल्य ७)

सूरसागर भाग १ (सस्ता संस्करण)

(संपादक—श्री नंददुलारे वाजपेयी)

गोलोकवासी स्वर्गीय श्रीजगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा संगृहीत और प्रदत्त सामग्री के आधार पर लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की एक समिति के तत्त्वावधान में इस ग्रंथ का संपादन अत्यंत कठोर परिश्रम और द्रव्य व्यय करके कराया गया है। सूरसागर का जो बृहत् संस्करण प्रकाशित हो रहा था वह वर्तमान स्थिति में अत्यधिक व्ययसाध्य होने के कारण स्थगित कर देना पड़ा। इस सस्ते संस्करण में पाठ-भेद के अतिरिक्त सभी विशेषताएँ अक्षुण्ण रखी गई हैं। पाठ की शुद्धता और प्रामाणिकता की दृष्टि से यह संस्करण अब तक छपे समस्त संस्करणों में श्रेष्ठ है। यह दो भागों में पूर्ण होगा। इसके पहले भाग में २३६७ पद हैं जिसमें दशम स्कंध के अंतर्गत दानलीला तक का प्रसंग आया है। दूसरा भाग भी आधे से ऊपर छप चुका है और शेषांश छप रहा है जो शीघ्र पूरा होगा। लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का जैसा विशद और पूर्ण गान महात्मा सूरदास जी ने किया है वैसा अन्य किसी से भी अब तक नहीं बन पड़ा। भक्ति साहित्य और संगीत की इसी त्रिवेणी में अवगाहन करना प्रत्येक हिंदी-प्रेमी का कर्त्तव्य है। प्रथम भाग का मूल्य १०) है।

मुद्रक—परेशनाथ घोष, सरला प्रेस, बाँसफाटक काशी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५४ सं० २००६ अंक २-३

विषय सूची

हिंदी के सौ शब्दों की निरुक्ति—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, पी-एच० डी० ... ८९

राम-वनवास का भूगोल—श्री रायकृष्णदास ११०

प्राचीन भारतीय वीणा—श्री नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी, एम० ए० ... १२०

अंग्रेजी की व्युत्पत्ति—श्री नारायण पांडुरंग गुणे १३२

मेघदूत—एक अध्ययन—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, ... पी-एच० डी० ... १४३

रसदिग्देक—श्री मुकुंदशास्त्री खिस्ते १६०

प्रागैतिहासिक कौशांबी—श्री परमेश्वरीलाल गुप्त १६८

देवगिरि के यादवों का शासन-प्रबंध—श्री विशुद्धानंद पाठक, एम०ए० ... १७७

चयन १९८

समीक्षा २२९

विविध २४२

सभा की प्रगति २४५

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वार्षिक मूल्य १०) : प्रति अंक २॥)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।
२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।
३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।
४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

निवेदन

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख स्वीकार्य होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है; और उनकी प्रकाशनसंबंधी सूचना एक मास के भीतर भेजी जाती है।

(४) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती हैं; परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

संपादक : कृष्णानंद
सहायक संपादक : पुरुषोत्तम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५४] संवत् २००६ [अंक २-३

हिंदी के सौ शब्दों की निरुक्ति

[श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

हिंदी भाषा का निरुक्त कोष अभी नहीं बना। हिंदी शब्दसागर बहुत ही भारी प्रयत्न था, किंतु शब्दों के निर्वचन की दृष्टि से वह आरंभिक था, और बहुत त्रुटिपूर्ण भी। इस समय हिंदी भाषा के आदि विकास की जो सामग्री अपभ्रंश साहित्य के रूप में प्राप्त हो गई है वह शब्दसागर के निर्माताओं को अज्ञात थी। लगभग नवीं शती से बारहवीं शती तक सिद्ध लोगों ने और जैन कवियों ने अपभ्रंश में कविता की और सौभाग्य से उसका अधिकांश भाग आज प्रकाश में आ गया है। हिंदी का प्रत्येक शब्द अपभ्रंश की चक्की में पड़ा और वहाँ से कुछ नया कुछ पुराना चोला लेकर बाहर आया।

अपभ्रंश ने उत्तरी भारत की राष्ट्रीय साहित्य-भाषा का पद ग्रहण कर लिया था। प्रत्येक प्रांत की बोली को विकास की उसी अवस्था में से पार होना पड़ा है। पुरानी हिंदी, पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी बंगला, पुरानी मैथिली, पुरानी मराठी और पुरानी पंजाबी—इन सबका जो अपभ्रंशकालीन (९ वीं—१२ वीं शती) रूप है उसमें आज की बोलियों की अपेक्षा परस्पर साम्य अधिक है। उन भाषाओं के विकास की ठीक परंपरा का परिचय और ज्ञान उनके अपभ्रंशरूप का ज्ञान किए बिना नहीं हो सकता। न केवल शब्दों बल्कि अनेक मुहावरों, लोकोक्तियों के बीज अपभ्रंश काल में हैं और इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि साहित्यिक अभिप्रायों (मोटिफ) का आरंभ भी अपभ्रंश साहित्य में पाया जायगा। उदाहरण के लिये रामचरितमानस के आरंभ में गोस्वामीजी ने देवता और गुरु की वंदना करने के अनंतर ही सज्जन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्जन लक्षण कहे हैं। प्रबंध काव्यों की यह साहित्यिक परंपरा भविसयत्तकहा आदि अपभ्रंश काव्यों में पाई जाती है। हो सकता है इसका बीज और भी पुराना हो। कालिदास ने रघुवंश में सत्काव्य की परख करनेवाले अग्नि-समान संतों का और कवि के प्रयत्न की खिल्ली उड़ानेवाले दुर्जनों का उल्लेख किया है। उसे स्पष्ट विस्तार के साथ बाणभट्ट ने कादंबरी में 'कटु क्वणन्तो मलदायका खलाः' इत्यादि वर्णन में कहा है। आठवीं शती के बाद उत्तरोत्तर इस काव्य-प्रथा का विकास हुआ और कई अपभ्रंश प्रबंध काव्यों में इस अभिप्राय का बहुत ही सुंदर समावेश पाया जाता है। इसी प्रकार वाटिका में तालाब और मंदिर के पास नायक-नायिका के प्रथम दर्शन का अभिप्राय, जैसा बालकांड में पाया जाता है, अपने पूर्ववर्ती काव्यों के अभिप्रायों से लिया गया है; संस्कृत रामायण में उसका कोई उल्लेख नहीं है। हिंदी भाषा की अनेक जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिये हमें अपभ्रंश काव्यों तक अविलंब जाना चाहिए और हिंदी की ऊँची परीक्षाओं में अपभ्रंश ग्रंथों को अनिवार्य पाठ्य विषय बनाना चाहिए। अपभ्रंश भाषा का जितना साहित्य अबतक खोज से मालूम हुआ है उसकी शब्द-सूची बनाना हिंदी की शब्द-निरुक्ति के लिये अत्यंत आवश्यक है।

अपभ्रंश भाषा तो हिंदी का केवल एक स्रोत है। हिंदी भाषा उस समुद्र-जलराशि की तरह है जिसमें अनेक नदियाँ मिली हों। निषाद, शबर, हो, उराँव, आदि मुंडा भाषाओं ने हिंदी को अनेक शब्द दिए हैं। मूर्धन्य अक्षरवाले अधिकांश शब्दों की जन्मभूमि मुंडा भाषाओं की तह है। द्रविड़ भाषाओं का संस्कृत और प्राकृत भाषाओं से बहुत आदान-प्रदान हुआ। अट्ट, अलस, कंक, कुवरी, कवल, कूट, कूर्पर, पुट, अरविंद, मृणाल आदि शब्द द्रविड़ भाषा से लिए गए। संस्कृत में आए हुए प्रत्येक शब्द की साहित्यिक आयु की बारीक छानबीन करनी होगी। श्री टी० बरो ने संस्कृत में द्रविड़ शब्दों की व्युत्पत्ति के संबंध में कई लेखों में अच्छी सामग्री एकत्र की है (ट्रैंजैक्शंस् ऑव दि फाइलोलॉजिकल सोसाइटी, १९४५, 'सम ड्रैविडियन वर्डस् इन संस्कृत', पृ० ७९-१२०)।

ठेठ देश्य भाषाओं या बोलियों में उत्पन्न हुए अनेक शब्द हिंदी में चालू हैं। हेमचंद्र ने अपने समय के कुछ शब्दों का संग्रह देशीनाममाला कोष में किया था; उनमें से कितने ही शब्द आज भी जीवित हैं। परंतु हेमचंद्र का काम बहुत ही सीमित था। उससे हजारों गुना काम हिंदी की एवं अन्य भाषाओं की बोलियों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमें करना है। अभी तक इस देश में बोलियों के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर प्रायः कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया। उच्चारण, व्याकरण, शब्दावली—इन तीन दृष्टियों से बोली का अध्ययन किया जाना चाहिए। बोलियाँ भाषाओं की जीती-जागती प्रयोगशालाएँ हैं। वहाँ उच्चारण बदल रहे हैं, पहले उच्चारण जो बड़े-बूढ़ों के मुख में थे, खड़ी बोली के प्रभाव से बदले जा रहे हैं। पुराने ठेठ शब्दों की संख्या घट रही है। बूढ़, जवान, बालक इन तीन पीढ़ियों में एक साथ एक ही बोली का अध्ययन किया जाय तो बोली का बदलता हुआ चोला साफ दिखाई पड़ेगा। बड़े-बूढ़े लोगों (५०–७० वर्ष) का उच्चारण और शब्दभंडार बोली की सच्ची दशा को प्रकट करेगा। जवानों (२०–५० वर्ष) की भाषा पर कुछ कुछ बाहर के प्रभाव देखे जायँगे। नए स्कूलों में शिक्षा पानेवाले बालक शीघ्रता से अपनी शब्दावली और पुराने उच्चारण खोते जा रहे हैं।

यूरप में बोलियों के अध्ययन के लिये विश्वविद्यालयों में रीडरशिप की स्थापनाएँ की गई हैं, इंग्लैंड में भी इंग्लिश डायलेक्ट सोसाइटी और फाइलोलॉजिकल सोसाइटी के प्रोत्साहन और निरीक्षण में बोलियों के अध्ययन का बहुत मूल्यवान् काम हुआ है, जिससे अंग्रेजी भाषा के कितने ही शब्दों और व्याकरण के प्रश्न सुलझाए जा सके हैं। यार्कशायर की एक बोली में रश (= घास) का उच्चारण रस्क होता है, उसमें अपत्यवाची 'इन्‌ज्' प्रत्यय लगाने से रस्किन नाम सिद्ध होता है। इसी प्रकार बर्च (वृक्ष का नाम) का उच्चारण बर्क है जिससे अंग्रेजी मनुष्य-नाम बर्क बनता है। भारतीय बोलियों में शब्दों की निरुक्ति तथा मनुष्य-नाम और स्थान-नामों की व्युत्पत्ति की अपरिमित सामग्री भरी हुई है। छज्जू, छीतर, फिक्कू, पवारू, सुल्लू, मूधा, नीधा, बीधा आदि नाम बोलियों में जीवित हैं, वहीं से इनका निर्वचन मिलेगा। जैसे छज्‌ धातु (शोभित होना) से छाज और उससे छज्जुक, छज्जू रूप बनते हैं। स्थान-नामों के विषय में तो अभी कुछ हुआ ही नहीं है। पिप्पलपद्र से पिपलौदा, वटपद्र से बड़ोदरा आदि नाम वृक्षों से बने हैं। उत्तरी भारत में वृक्षों से बननेवाले नाम कितने हैं और उनमें कौन कौन से उत्तरपद जोड़े जाते हैं, इसका अध्ययन होना चाहिए। गाँव, खेड़ा, पुरवा, नगला आदि उत्तरपद क्यों और कब से हैं, प्रस्थांत नामों का जमघट कहाँ है, कंथांत नामों का ऐतिहासिक कारण क्या है? इस प्रकार के प्रश्नों का समाधान स्थान-नामों के क्रमबद्ध अध्ययन से ही हो सकता है। अंग्रेजी प्लेसनेम सोसाइटी के ढंग पर प्रांतवार यह काम निपटाना चाहिए। तब हम जानेंगे कि शबर, निषाद, गोंड, द्रविड़, आर्य, शक, हूण, तुर्क, ईरानी, अरबी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यूरोपीय अनेक जातियों ने स्थान-नामों के रूप में कितनी अधिक सामग्री पीछे छोड़ी है।

कुर्सी एक कस्बे का नाम है वह अरबी कुर्सी (प्रधान नगर, राजधानी) से निकला है। कोच (झाँसी के निकट) तुर्की शब्द कीच (भेड़) से निकला जान पड़ता है। उसी के पास का एरच भी एरकच्छ या एड़कच्छ (भेड़ों का जंगल) से बना है। उरई भी उरभ्र या उरभ्रिका से जान पड़ता है। बालबेहट, तालबेहट का 'बेहट' (गाँव) गोंड भाषा का शब्द है। फफूंड निषाद भाषा का नाम जान पड़ता है। मुंडारी में फुफुंड, फोफुड का अर्थ फफूंडा हुआ है, जिससे हिंदी की 'फफूँडना' धातु बनती है। संथाली में फुपंड का अर्थ है मैला, गँदला। लखनऊ के पास का भोंडरी गाँव संथाली भोंडरों (चौड़ा गड्ढा) शब्द से जान पड़ता है। निगोहाँ संस्कृत न्यग्रोधग्राम, प्राकृत निगोहगाम से बना है। सरसैयाघाट संस्कृत सरस्वतीघाट, प्राकृत सरस्सइ० से बना हुआ है और बहराइच सं० बृहदादित्य, अपभ्रंश बहड़आइच्च से। स्थान-नामों और मनुष्य-नामों का विशेष वैज्ञानिक अध्ययन भारतीय इतिहास, शब्दविज्ञान और लोकवार्ताशास्त्र, तीनों के लिये उपयोगी सिद्ध होगा।

तुर्की, पश्तो, पहलवी, फारसी के अनेक शब्द मुसलमानों के संपर्क से हिंदी को विरासत में मिले हैं। उनकी पहचान और निरुक्ति अत्यंत आवश्यक और रोचक विषय है। चाकू, चिलमची (तुर्की चिलपचा), फाख्ता, तोशक, तुक्मा (बटन) अल्लमगल्लम आदि शब्द तुर्की से फारसी के द्वारा आकर हिंदी की बोलियों में घुल-मिल गए हैं। अट्टी, अटेरन, उजबक, टकटकी, भटर-भटर, चपकचुंधी, चाकचौबंद, बचूँगड़ा, बखेड़ा, माँझी, धींग, डाकर (कड़ी धरती), ढूडी (तिरक, रीढ़ और कूल्हे के बीच का जोड़), दचका, ढाँढा (छोटा कुआँ) आदि अनेक शब्द पश्तो भाषा से अफगान युग (१२००-१५५० ई०) में आकर हिंदी में दाखिल हुए। प्रत्येक शब्द की उत्पत्ति और विकास की पहचान अलग अलग करनी होगी। शब्द उधार देनेवाली भाषा का संपर्क हिंदी से कब हुआ और हिंदी में शब्द की आयु कितनी पुरानी है, कहाँ पहले-पहल शब्द ने हिंदी में प्रवेश किया, इत्यादि प्रश्न प्रत्येक शब्द के साथ जुड़े हुए हैं जो हिंदी के भावी निरुक्त शास्त्र में उत्तर की अपेक्षा रखेंगे।

हिंदी भाषा में शब्दों की जो तहें या परतें जमी हुई हैं उनकी भी कुछ विशेषताएँ हैं। भूमि संबंधी वस्तुओं के नाम जैसे धरती, पहाड़, गड्ढे, नदी आदि के शब्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकांश में मुंडा-शबर भाषाओं से लिए गए होने चाहिएँ। औषधि-वनस्पति, फूल-फल के वाचक शब्द निषाद और द्रविड़ भाषा की मिली-जुली तह को सूचित करेंगे। अंग्रेजी भाषा में शब्दों की जमी हुई तहों की अच्छी तरह परख की गई है। वहाँ कैल्ट, लातिन, सैक्सन, डेनिश, नार्मन, पुनः लातिन, फ्रेंच आदि भाषाओं की परतें जमी हुई हैं। जीवन का जो साधारण ठाट है, अतएव भाषा की जो सामान्य गठन है, वह सैक्सन भाषा से ली गई है। हिंदी में यह आधार संस्कृत भाषा का है। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, भूमि, जल, अग्नि, वायु आदि से संबंधित शब्द अंग्रेजी में सैक्सन भाषा के और हिंदी में संस्कृत भाषा के हैं। इसी प्रकार पारिवारिक-संबंध जैसे माता, पिता, पति, पत्नी, पुत्र, पुत्री, भाई आदि के सूचक शब्द अंग्रेजी में सैक्सन भाषा के और हिंदी में संस्कृत के हैं। खेती-बाड़ी की अधिकांश शब्दावली संस्कृत में आई हुई है।

हिंदी की कृषि-शब्दावली प्रायः वही है जो ऋग्वेद और अथर्ववेद के समय में थी। अभी तक इस शब्दावली का व्यवस्थित संकलन और अध्ययन नहीं हुआ। हल, हलस (हलीषा), कुआँ (कूप), बरत (बरत्रा), खेत (क्षेत्र), क्यार (केदार, जुताई-बुआई, लवना-मड़ानी, आदि के शब्द अत्यंत रोचक हैं और उनकी परंपरा की प्राचीनता आश्चर्यजनक है। खेत काटनेवाले के लिये लावा, कपटा सं० लावक, क्लृप्ता का स्मरण दिलाते हैं। कुएँ की नेचक संस्कृत नाभिचक्र और नैचिकी गाय संस्कृत नैत्यिकी (वैदिक नित्यवत्सा) है। खेत की जुताई के शब्द भी संस्कृत से निकले हुए मिलेंगे। अन्न की रास (राशि), खलिहान (खलधान), पैर (प्रकर) संस्कृत के हैं। बैलों की नाथ, पगहा (प्रग्रह), रास (रश्मि) संस्कृत भाषा की देन हैं। हसिया के लिये श्रौतसूत्रों में असिद शब्द आया है। साहित्य में उसका प्रयोग नहीं मिलता, पर हेमचंद्र ने असिअ शब्द को दाँती के लिये देशी कहा है (देशी नाममाला १।१४)। वस्तुतः वह वैदिक है। सं० दात्र से दराँत या दराँती बना है। यास्क ने लिखा है कि दराँती के लिये उत्तर भारत के लोग दात्र और पूरब में दाति शब्द का प्रयोग करते थे (दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु, निरुक्त नैगमकांड २।१।२)। आज तक यह बात ठीक है। पछाँही हिंदी में दराँती, पंजाबी में दातरा और पूरबी में दाई या दाव कहते हैं।

लगभग हजार वर्ष पहले भारत में मुसलमानों ने आकर अरबी-फारसी के शब्द हमारी भाषा में डालना आरंभ किया। मान-प्रतिष्ठा, शानशौकत, दरबार-कचहरी, सवारी-शिकार, पहनने-ओढ़ने से संबंध रखनेवाले शब्द फारसी-अरबी से आकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी में मिलने लगे। राजसत्ता में जिनका अधिकार था उन्हीं के शब्द जनता में आने लगे। अंग्रेजी जीवन में ठाट-बाट और पद-मर्यादा के जो शब्द हैं वे नार्मन-विजय के बाद अधिकांश नार्मन भाषा के ही हो गए। ऐसे ही हिंदी में महल, किला, युद्ध, हथियार संबंधी शब्द भी अरबी-फारसी से आ गए। परंतु घर, छप्पर, चूल्हा, चक्की के शब्द पुरानी परंपरा को लिए रहे। खाने-पीने के शब्द जैसे घी-दूध, भात, गेहूँ, तेल, साग, भाजी आदि अपनी प्राचीन संस्कृत-प्राकृत की परंपरा को सुरक्षित रखने में समर्थ हुए। गाँव का सीधा-सादा खेतिहर, किसान, गँवार, गँवई, घामड़ ये लोग शहर के नए जीवन में उपेक्षित हुए और अपनी प्रतिष्ठा गँवा बैठे। अंग्रेजी के चर्ल, बूर, हेथेन शब्द भी पुरानी भाषा के थे जो नार्मन लोगों के दरबारी ठाट-बाट के सामने तिरस्कृत हो गए। हिंदी में भी पुराने पदों का मान घट गया। दीवान, मुंशी, काजी, अमीर आदि नए पद अस्तित्व में आ गए। तुर्की का बातुर-बहादुर सारे देश में चल गया।

इधर पिछले तीन सौ वर्षों में पहले पुर्तगाली, अंग्रेजी शब्दों ने हिंदी में प्रवेश पाया। बाल्टी, मेज, मिस्तरी, काज, बुताम, नीलाम, गिरजा, पादरी आदि शब्द पुर्तगाली भाषा से हमारी प्रांतीय भाषाओं को प्राप्त हुए। 'पोर्चगीज वाकेबिल्स इन एशियाटिक लेंग्वेजेज' (गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज) नामक पुस्तक में इस विषय की पूरी छानबीन की गई है। अंग्रेजी के प्रभाव से हजारों की संख्या में नए शब्द हिंदी में चल गए हैं और अभी तक वह प्रवाह जारी है। जब अंग्रेजी का कंटक हटकर हिंदी राष्ट्रभाषा पूरी तरह चालू हो जायगी तभी हिंदी का अपना स्वरूप धड़ल्ले से चल सकेगा। उस समय अंग्रेजी शब्द पुरातत्त्व के चिह्नों की तरह भाषा में पड़े पाए जायँगे।

इसी प्रसंग में उदाहरण-स्वरूप हिंदी भाषा में प्रचलित लगभग सौ शब्दों की निरुक्ति नीचे लिखी जाती है जो उनपर नया प्रकाश डालती है। इन शब्दों को अक्षरानुक्रम से रखा गया है।

अँकवार—गोद। सं० अंकपालिका > अंकवारिया > अंकवारि > अँकवार।

अगुआ—आगे रहनेवाला। संस्कृत अग्रपद (यत्र अष्टावक्रः ऋषीणामग्रपदः, दिव्यावदान) > अग्गवय > अग्गउअ > अगुआ, अगुवा।

अपाहिज—सं० अपभंज, प्रा० अपहंज (शब्दसागर)। पर यह व्युत्पत्ति चिंत्य है। अपाहिज का मूल सं० अपाथेय है, अर्थात् जो पथ में यात्रा के अयोग्य हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पथिसाधुः पाथेयः, न पाथेयः अपाथेयः। अपाथेय > अपाहेज्ज > अपाहिज्ज > अपाहिज। पाही धरती वह कहलाती है जो गाँव से दूर हो, जहाँ चलकर जाना पड़े। पहिया भी पथ से जान पड़ता है—पथ्य > पह्य > पहिय + क > पहिया। अपभ्रंश में थ का ह होता है; इसका विशेष उदाहरण नीचे के शब्द में है।

अलइक पलवा—झूठ, गप। सं० अलीक प्रलाप से बना शब्द ज्ञात होता है। पाइयलच्छिनाममाला, श्लोक २०८ में अलिय पोरुसालाव = अलीक पौरुषालाप शब्द आया है।

आँय बाँय साँय—अंटसंट बात, असंबद्ध प्रलाप। शब्दसागर में इसे अनुकरणात्मक शब्द लिखा है। वस्तुतः यह सं० अतिपात-शांति से बना है। यह जैन धर्म का शब्द है। जैन आगमों में अतिपात का अर्थ है हिंसा; अर्थात् नित्य के जीवन में अनजाने होनेवाली हिंसा अतिपात हुई (पाइय सद्द महण्णव, पृ० ४–५)। उसकी शांति के लिये जो व्रत-उपवास पंडित-पाधा बताते थे वह अतिपात शांति या आतिपात्य शांति कहलाता था। लोक में इसी के लिये 'आए बाए' शब्द भी था जो मेरठ की बोली की एक लोकोक्ति में रह गया है—'आए बाए बनिए बलाए', अर्थात् आएबाए बताकर बनिए-जजमानों को बहला दिया। आतिपात्य शांति का अपभ्रंश में आइ-बाइ-साँइ > आय-बाय-साँय > आँय बाँय साँय हुआ।

आईन—पहलवी आयीन (नियम, व्यवहार की व्यवस्था, कायदा), फारसी आयीन, जंद अयन, सं० अयन, (मार्ग, रास्ता)।

आवन्नाल—तुरंत के हुए बच्चे की नाभि में लगी हुई लंबी नाल और उस नाल के दूसरे सिरे पर लगा हुआ जरायु 'अपरा' कहलाता है। नाभि के पास से नाल-छेदन या नाभि-वर्धन को लोक में नाल काटना कहते हैं। आवन्नाल शब्द सं० अपरा + नाल से बना है। चरक ने जरायु के अर्थ में अपरा शब्द का प्रयोग किया है। पारस्कर गृह्य-सूत्र (१।१६।२) की टीका में कर्काचार्य ने 'अवरेति जरायु-विशेषः' लिखा है। अपरा-अवरा-अवर-आँवर + नाल > ओवन्नाल (बोली में)।

उकेरी, उकेरना—नक्काशी, नक्काशी करना। सं० उत्कॄ धातु से उत्किरति > उक्किरइ बनेगा। खड़ी बोली में यह शब्द मर गया और उसकी जगह नक्काशी चल गया, पर बोलियों में जीवित रहा। जौंसार बाबर की बोली में मुझे उकेरी, उकेरना दोनों शब्द मिले। सं० उत्कीर्य, प्रा० उक्कारिऊण (कर्पूरमंजरी ३।१७)। उक्किर से उक्कइर, उससे उकेर बनेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐंडा बैंडा—शब्दसागर में बैंड़ी ऐंड़ी से व्युत्पत्ति दी है जो निरर्थक है। ऐंड शब्द संस्कृत अकांड से निकला है। अकांड > अयंड > अइंड > ऐंड। विकांड > वियंड > वइंड + क > बैंडा। अर्थात्, वह स्थिति जिसमें कांड या रीढ़ न हो, या टेढ़ी हो। खड़े हुए का उल्टा ऐंड हुआ। बहीखाते में मुहावरा चलता है—रकम खड़ी होना (जो वसूल हो सके), रकम ऐंड हो जाना (जो पट्ट खाते या डुबाऊ खाते में आ जाय)। इसी से ऐंडना धातु बनी है।

औल फौल—अंड बंड बकवाद। सं० आकुल-व्याकुल, आउल-बाउल, औल-बौल, औल-फौल।

कचहरी—शब्दसागर में इसकी निरुक्ति कच + हरी से बताई गई है। वस्तुतः अदालत के लिये यह प्राक् मुसलिमकाल का शब्द जान पड़ता है। सं० कृत्य-गृहिका > किचहरिया > कचहरी।

खटोला—छोटी खाट। खाट + ओला (शब्दसागर)। खट्वा से 'ओला' प्रत्यय लगाकर खटोला सिद्ध करना तो ठीक है, किंतु ओला प्रत्यय वस्तुतः पोतलक का अवशिष्ट रूप है। खाट का बच्चा खटोला हुआ। वन अर्थात् कपास का बच्चा बनौला या बिनौला। साँप का बच्चा सर्पपोतलक-सप्पोलय-सपोलया-सपोलिया हुआ। गन्ने के बच्चे या छोटे गन्ने को आज तक बोलियों में पोया कहते हैं जो सं० पोतक से निकला है। उसी तरह गेहूँ के छोटे पौधे को, जब तक उसमें नरिया न पड़े, 'खुद' (सं० क्षुद्र) कहते हैं। अगौला पोया गन्ने का अग्रभाग हुआ, अतएव अग्र + पोतलक से अग्ग + ओलअ = अगौला बना। चिड़ौला भी चटक + पोतलक, चड़अ + ओला, चड़ौला, चिड़ौला क्रम से बनता है।

खीस—इस शब्द के भी भिन्न अर्थ और भिन्न व्युत्पत्तियाँ हैं। यथा—

(१) दाँत, जिन्हें कीलें कहते हैं। जैसे खीस निकालना, इस प्रकार हँसना जिसमें कीलें दिखाई पड़ें। खिसिआना भी इसी मूल अर्थ से निकलता है, अर्थात् लज्जित होने की वह स्थिति जिसमें दोनों खीसें बाहर आ जायँ। यह खीस शब्द फारसी से निकला है। फा० खीस = हल में लगनेवाली फाली, कील, या नुकीली शंकु। उसी की तरह के नुकीले लंबे दाँत खीस कहलाते हैं। जंगली सुअर के निकले दाँतों को भी खीस कहते हैं। संक्षिप्त शब्दसागर में इसे कीश = बंदर से माना है; शब्द-निरुक्ति की दृष्टि से वह अशुद्ध है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) गाय भैंस के ब्याने के बाद पहले कई दिनों तक थनों में से निकलने वाला दूध या पेउसी, जो औटाने से फट जाती है। वस्तुतः लोक में महावरा यही है–'थन की खीस काढ़ना या कील निकालना।' यहाँ भी अर्थ यद्यपि भिन्न है, पर मूल शब्द वही है, फा० खीस अर्थात् कील। गाय के थनों में बहुत दिन तक दूध न निकालने से जो कील जैसी ठुक जाती हैं उन्हें प्रथम दोहन के समय खींचकर निकालना 'खीस निकालना' कहा जाता है।

(३) शब्दसागर के अनुसार खीस का एक अर्थ है बरबाद, नष्ट। जैसे 'सती मरन सुनि संभुगण करन लगे मख खीस'। शब्दसागर ने इसे सं० किष्क से निकला माना है, पर मुझे इस प्रकार का कोई शब्द 'आप्टे' या अमरकोष में नहीं मिला, और न अन्यत्र ही दिखाई पड़ा। मेरी समझ से इस अर्थ में हिंदी खीस सं० कृश > किस्स > कीस से निकला जान पड़ता है। कृश्यति तुदादिगणी धातु से किस्सइ, खिस्सइ (दुबला होना, छीजना) रूप होंगे।

(४) जेब के अर्थ में खीसा शब्द फा० कीसा से निकला है, जैसा शब्दसागर में दिया है। खेस एक कपड़े का नाम है जो फा० खेश (एक प्रकार का छालटीन) से बना है।

(५) प्रसन्नता के अर्थ में खीझ से खीस की व्युत्पत्ति शब्दसागर में दी है, वह भी ठीक नहीं है; खीस का यह अर्थ भी फैलन आदि कोषों में नहीं है। खीझ की व्युत्पत्ति खिद् दैन्ये धातु के खिद्यते, खिज्जइ, खीजइ, खीझइ क्रम से है।

खेवनिहारा––नाव को खेनेवाला। सं० क्षेपणी (नौकादण्डः क्षेपणी स्यात्, हेमचंद्र ३।५४१)-धारक, खेवनिहारा।

खोंपा––जूड़ा, बँधी हुई वेणी। जायसी ने इस शब्द का प्रयोग किया है––

सरवरि तीर पदमिनी आई।
खोंपा छोरि केस मुकलाई॥ पद्मावत ४।४।१

यह द्रविड़ भाषा का शब्द है। तामिल कोप्पु = बालों का जूड़ा; कन्नड़ कोप्पु; कुइ भाषा, कोप (स्त्री का जूड़ा); कुर्कु भाषा, खोपा = बालों का बँधा जूड़ा। प्रायः सभी भारतीय आर्य भाषाओं में यह शब्द पहुँच गया है (टी० बरो, द्रैविडियन वर्ड्स् इन संस्कृत, ट्रैन्जैक्शन्स फाइलोलॉजिकल सोसाइटी, १९४५, पृ० ९१)।

खोज, खोजू––पैर के निशान। क्षोद्य > खोज्ज > खोज।

२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोया—संक्षिप्त शब्दसागर में क्षुद्र से खोया बनाया है जो असंभव है। सं० क्षोद-खोय+क=खोया।

गँवई—गाँव का मनुष्य, गँवार। प्राकृत ग्रामेयिक (ल्युडर्स लेख-सूची १३२७, पल्लव महाराज विजयास्कंधवर्मन् के समय का ताम्रपत्र) >गाँवेइअ>गँवेई> गँवई (गाँव-संबंधी)।

गपतालीस—लोकोक्ति है, 'जहाँ चालीस वहाँ गपतालीस'। इसी का गढ़-वाली रूप है 'जाँ चालीस ताँ घवतालीस'; अर्थात् जहाँ चालीस, वहाँ इकतालीस (भी दिए जा सकते हैं)। घवतालीस या गपतालीस शब्द एकोपचत्वारिंशत से निकला है। पाणिनि सूत्र उपोऽधिके च (१.४।८७) से 'अधिक' के अर्थ में एक जोड़कर एकचत्वारिंशत् बना, उससे एगोवचा (ता)-लीस, गवतालीस, घवतालीस अथवा गपतालीस सहज में बन सकता है।

गरब गहीली--गर्बीली। गरब गहीली में 'गहीली' की व्युत्पत्ति गहिल्लक (भूत-प्रेत से गृहीत, बृहत्कथा कोष १७।१०) >गहीला, स्त्री० गहीली जान पड़ती है। गृहीत का प्राकृत-अपभ्रंश रूप गहिल्ल हुआ।

गलसुई—गालों के नीचे रखने का एक छोटा गोल और कोमल तकिया, सं० गालसुई (शब्दसागर)। गालसुई की व्युत्पत्ति तो ठीक है पर सुई का क्या अर्थ है, यह स्पष्ट नहीं किया गया। प्राचीन स्तूपों के चारों ओर पत्थर की चार-दीवारी के प्रति दो खंभों के बीच में आड़े पत्थर लगते थे, जिन्हें संस्कृत में सूची कहते थे; प्राकृत में सुई और अँग्रेजी में क्रास-बार कहते हैं। फारसी में आज भी उसके लिये तकिया शब्द है; क्योंकि वह आकार में तकियानुमा होती है। सूची शब्द का वह विशेष अर्थ केवल गलसुई शब्द में बच गया जान पड़ता है। सूची के आकार का तकिया चौकोर होता होगा। गोल चिपटे तकिए के लिये प्राचीन समय में एक दूसरा शब्द था मसूरक, अर्थात् आकृति में मसूर की दाल जैसा।

गाई, गैया, गोई—पतंजलि ने भाष्य में एक गौ शब्द के गावी, गोणी, गोती, गोपोतलिका इत्यादि लोक में चालू अपभ्रंश रूपों का उल्लेख किया है। गाई का मूल गावी, गोई (बैलों की जोड़ी के लिये प्रयुक्त शब्द) का गोती और गैया का गविका (गाइआ, गाइया, गैया) था।

गुठला—अँगूठे का गहना। सं० अंगुस्थल (पृथ्वीचंद्रचरित्त अथवा वाग्विलास, पृ० १४९) >अंगुट्ठल+क=अंगुठला>गुठला।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुनरखा—मस्तूल। सं० गुणवृत्तक, गुनरुक्खक, गुनरखा। वह दंड जिसमें नाव की गून (सं० गुण, वह पतली लंबी रस्सी जिससे नाव को उजानी या बहाव के प्रतिकूल खींचते हैं) बाँधी जाती है।

गुहेरी—अंजनिआरी, आँख में निकलने वाली बिलनी। सं० गौधेरिका> गुहेरिआ>गुहेरी। शब्दसागर में यह शब्द तो नहीं है पर गुहेरा (गोह नाम का कीड़ा) सं० गोध से निकला हुआ माना है। वस्तुतः गुहेरा गोधा से नहीं गौधेरक से बन सकता है। गोधा शब्द में 'एरक' प्रत्यय जोड़कर गौधेरक बना और उससे गुहेरा। इसी को मेरठ की तरफ अंजनिआरी कहते हैं जो सं० अंजनकारिक से बना है।

घाँटी—कउआ, टेंटुआ। सं० घंटिका (अभिधानचिंतामणि ३।२४९), >घंटिआ>घाँटी। इसी को काकलक (अभिधान० ३।२५२) भी कहा है जिससे हिंदी कागला बनेगा। आज तक बोलचाल में इसे काग कहते हैं। इसीका दूसरा नाम है कौआ जो सं० ककुत्, अप० कउअ से बना है। इसी कारण काक और ककुत् पर्यायवाची हो गए और पक्षीवाची काक के लिये भी कौआ प्रयुक्त होने लगा, अन्यथा किसी संस्कृत कोष में काक पक्षी के लिये ककुत् शब्द का प्रमाण नहीं है।

घुँघची—रत्ती, गुंजा (हिंदी शब्दसागर)। वस्तुतः गुंजाचिंचिका से गुंज चिंचिआ=गुंज चिञ्ची>गुंगची>घुंगची>घुँघची। कुछ के अनुसार कन्नड़ गुरु गंजि, गुरु गुंजि, गुंजि से हिंदी में घुँघची की अनुकृति हुई है (लंदन प्राच्य-विद्यालय पत्रिका, १२।३७३)।

घुटुरुआँ—घुटनों के बल चलना। सं० घुंट-(घोंटा) रूपेण>घुंटरुएन> घुटरुअन>घुटरुआँ।

चकवंड—सं० चक्रमर्दक>चक्कमड्ड>चकवंड। मर्द द्रविड़ भाषाओं में वृक्षवाची मरद का रूप है। कन्न० मर, षष्ठी मरद। तामिल मरम् वृक्ष, षष्ठी मरत्तु। यह मर्द उत्तरपद जोड़ने से कासमर्दक कसौंदा, करमर्दक>करौंदा, पिचुमर्द आदि शब्द बनते हैं (लंदन प्राच्य-विद्यालय पत्रिका, १२।३७८)।

चकैंडी—वह हाँडी जिसमें कुम्हार चाक के पास पानी भरकर रखता है। चक्रभांडिका>चक्कहंडिया>चकइंडिआ>चकैंडी। एक प्रकार से ऐंडी प्रत्यय ही बन गया था जो और कितने ही शब्दों के पीछे आता है। कांस्यहंडिका) कसैंडी। दधि हंडिका=दहेंडी। मथितहंडिका=महि अहंडिका=माहीहंडिका=महेड़ी। घृत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हंडिका = घेंडी। क्षुरभांडिक = छुरहंडी (नाई के औजार रखने की किस्बत के लिये प्राचीन शब्द)।

चाँदनी—बिछाने की बड़ी चादर। यह शब्द फर्श-ए-चंदनी से निकला है, अर्थात् चंदन के रंग का फर्श जिसे पहली बार नूरजहाँ ने चलाया था (आईन अकबरी, फिलोट, अंग्रेजी अनुवाद, १।५७४)।

जडूले, झंडूले बाल—गभुआरे बाल। जट + उल्ल > जड़ उल्ल > जडूल + क > जडूला (जड़ अर्थात् गर्भ के पैदायशी बाल)।

जादू—फा० जादू। पहलवी यातू (जादू), यातूक (जादूगर), सं० यातु।

जोहर—मेरठ की बोली में छोटा पोखर। पहलवी, आब ज़ोहर। सं० होत्रा, जंद ज़ओथ्र, पहलवी जोहर, जोर। वह पवित्र जल जो यज्ञादिक के लिये रखा जाता था।

ढपोल, ढपोर--सं० दर्पवत् > प्रा० दप्पुल > दप्पउल > ढपउल > ढपोल। ढपोल या ढपोरशंख जो केवल घमंडभरी बात कहता था, देता-लेता कुछ न था।

ढिंढोरा--संक्षिप्त शब्दसागर की व्युत्पत्ति 'अनुकरणात्मक ढम + ढोल'। अशुद्ध है। ढिंढोरा सं० डिंडिम पटह से निकला है। डिंडिवँवडअ > डिंडिउरा > डिंडउरा > डिंडोरा > ढिंढोरा। डिंडिम एक प्रकार का ढोल था जो संभवतः तामिल तण्णु से निकला है। इसी प्रकार पटह भी तामिल 'परै' (ढोल) से समता रखता है।

तगार--वह बरतन जिसमें चूना या गारा आदि रखा जाता है। फा० तगार। पहलवी तगार (पीपेनुमा बर्तन, पायकुली का शिलालेख १।२४६)।

तमक—यह भी अक्कदी भाषा का प्राचीन 'तैमक' शब्द था, जिसका अर्थ था जोश। वहाँ से अरबी में होता हुआ हिंदी को मिला।

तरौना—कान में पहनने का एक गहना। शब्दसागर में 'ताड़-बनना' व्युत्पत्ति है। वस्तुतः तालपर्ण > तालवण्ण > तालउन्न + क > तरौना। तालपर्ण या ताड़ के पत्त की तरह का गोल फाँकदार कान का गहना तरौना कहलाता है। इसी प्रकार दंतपर्ण से दंतवण्ण, दंतवन, दंतौन, दतौन बनता है।

तागा—डोरा, धागा। फा० ताग, पह० ताक (रेशा)।

तिरक—हाथी के पीछे का वह स्थान जहाँ से पूँछ निकलती है, रीगड और दोनों पिछली टाँगों का जोड़ (कर्नल सज्जनसिंह, मधुकर, फर्वरी १९३९, पृ० ३४)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सं० त्रिक, रीढ़ के नीचे का भाग जहाँ कूल्हे की हड्डियाँ मिलती हैं। तीन हड्डियों के मिलने की जगह होने के कारण यह स्थान त्रिक कहलाता है, जिसका रूप तिरक अभी तक बोलियों में चालू है। त्रिक स्थान पर जो पहना जाता था वह आभूषण भी त्रिक कहलाता था।

तेवर, तिउरी—कुपित दृष्टि, क्रोध-भरी चितवन। संक्षिप्त शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति तेह=क्रोध से मानी है। वस्तुतः दोनों भौंहों के बीच का स्थान त्रिकुटी कहलाता है, उसी से तिउरी है। क्रोध के समय वही त्रिकुटी का स्थान खिंच या चढ़ जाता है।

थवई—घर बनानेवाला राज। सं० स्थपति > थवइ-थवई।

दाव, दाँव—शब्दसागर में सं० दा प्रत्यय से इसकी व्युत्पत्ति सुझाई है जो कल्पित है। वस्तुतः सं० द्रव्य से दव्व-दाव-दाँव हुआ। वह द्रव्य जो खिलाड़ी जुए में लगाते हैं, दाव या दाँव कहलाता है। उसी से बाद के अर्थ निकले हैं, जैसे किसका दाँव है।

धुस्सा—सं० दूर्श से पाली दूस्स और उससे धुस्स, धुस्सा बना ज्ञात होता है। अथर्ववेद (८।६।११) में 'कृतीर्दूर्शानि बिभ्रति', चमड़े के धुस्से ओढ़ने का उल्लेख है। अशोक के इलाहाबाद स्तंभ-लेख में सफेद धुस्से पहना कर लड़ाकू भिक्षुओं को संघ से बाहर निकाल देने का आदेश है (ओदातानि दुसानि)।

नरसल, नरकुल, नरकुट—अथर्व० ६।१६।४ में कुछ अज्ञात औषधियों के नाम हैं—नीलागलसाला, अलसाला, सिलाँजाला। इनमें पहले दो नामों के अंत का 'साला' पद पौधे या जल की घास के लिये प्रयुक्त ज्ञात होता है। यह संभवतः निषाद भाषा के शब्द का संस्कृत रूप है। सं० नल+सल > नरसल। अथवा नलकट > नरकट शब्द भी नरसल के लिये प्रयुक्त होता है।

नहर—अक्कड़ी भाषा में नारु का अर्थ है नहर। वहीं से यह शब्द नारु, नहरु, नहर के रूप में हम तक पहुँचा है।

नेकुड़ा—नाक का नथुना। सं० नक्र-(नाक) पुट > नक्कउड़+क > नेकुड़ा। हेमचंद्र ने 'अभिधान चिंतामणि' में नाक का पर्याय नर्कुटक (३।२४५) शब्द दिया है जो नेकुड़ा से बनाया हुआ संस्कृत रूप जान पड़ता है।

नैचकी, नैचकि—अच्छी गाय। शब्दसागर में नैचिकी को संस्कृत कहा है। मध्यकालीन कोषों में नैचकी को गायों में उत्तम गाय माना है (हेमचंद्र, अभि०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिंता० ४।३३६)। संस्कृत नैत्यिकी का प्राकृत रूप नैचिकी है, अर्थात् वह गाय जो नित्य दूध दे, एक ब्यान के बाद दूसरे ब्यान तक जिसका दूध न टूटे। ऐसी गाय बरस-बियावर होती है। अथर्ववेद में उसे नित्यवत्सा कहा है; क्योंकि उसका बछड़ा सदा उसके नीचे दूध पीता रहता है (अथर्व० ९।४।२१)।

पनच--धनुष की डोरी। सं० प्रत्यंचा, अप० पडिंच, पणिछ (पृथ्वीचंद्र चरित्र, संवत् १४२१, पृ० १४८), पणछ, पनच।

पनही, पनहिआ—इसके लिये मध्यकालीन संस्कृत में प्राणहिता शब्द बनाया गया (बृहत्कथा कोष ५५।६६)। वस्तुतः सं० प्रनद्धा, पनहा; पनही, प्रनद्धिका, पनहिआ इसकी व्युत्पत्ति जान पड़ती है। शब्दसागर में उपानह् से पनही की व्युत्पति दी है। परंतु बुंदेलखंडी 'पाना' उपानह् के अधिक निकट है।

पसाई—पसताल नाम की घास जो तालों में होती है। शब्दसागर में इसे देशज माना है। यह सं० प्रसातिका>पसाइआ>पसाई के क्रम से बना है। पसाई का चावल गाँवों में प्रसिद्ध है।

पापड़—सं० पर्पट, प्रा० पप्पड़ से पापड़ बना है। लेकिन मूल शब्द तामिल पर्पु=दाल से बना है। यह सूचना मुझे श्री सुनीतिकुमार चटर्जी से प्राप्त हुई। इसी प्रकार उनका बिचार है कि कचौड़ी शब्द में 'कच' भी दाल का वाचक है--कच-पूरिका>कचउरिआ>कचौरी।

पायक, पाजी—पैदल सैनिक; पार्श्वचर। सं० पादातिक से प्राकृत में पाइक बनेगा (अभिधान० ३।४४१)। लेकिन उसी अर्थ में 'पाजी' शब्द 'पदाजि' से (पदाति का पर्याय, अभिधान० ३।१६२) से बन सकेगा। जायसी ने इस शब्द का अच्छा प्रयोग किया है—'पौरी नवौ बजर के साजी, सहस सहस तहँ बैठे पाजी।' अर्थात् नवों दरवाजे वज्र के बने हुए थे और हरएक पर हजार हजार पाजी या पैदल पहरा दे रहे थे। हिंदी बोलचाल में पाजी शब्द के अर्थ में निंदा का भाव आ गया है।

पारधी—शिकारी, बहेलिया। शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति परिधान से दी है। वस्तुतः वह सं० पापर्द्धि (शिकार) से है। पापर्द्धिक (बहेलिया), पारद्धिअ, पारधी। कर्पूरमंजरी में पालिद्धिआ = अहेरनी।

पिलदी—मल। पहलवी पलीदीह (अशुचि पदार्थ, गंदगी)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैगंबर, पैगाम—ये शब्द पहलवी के माध्यम से फारसी में आए। पह० पेतखम, पईतखम, जंद पइति गम्, प्राचीन ईरानी पतिय् गम्, सं० प्रतिगम्। पैगंबर (पेतखम बर अर्थात् पैगाम ले जानेवाला) में 'बर' भृ धातु (ले जाना) से है।

पौ—किरण, प्रकाश की रेखा, ज्योति। शब्दसागर और संक्षिप्त शब्दसागर दोनों में सं० पाद से इसकी व्युत्पत्ति दी है जो अशुद्ध है। सं० प्रपा से 'पौ' की व्युत्पत्ति पौशाला के अर्थ में वहाँ ठीक दी है। परंतु 'प्रकाश' अर्थवाली पौ के लिये सं० प्रभा शब्द उनके ध्यान में नहीं आया। प्रभा > पव > पउ > पौ।

फफोला—आग में जलने से खाल पर पड़ा हुआ छाला। शब्दसागर में सं० प्रस्फोट। वस्तुतः यह सं० पूगफल से जान पड़ता है। फोप्फल, फोफला, फफोला। सुपारी के जैसे दाने या पानी भरे हुए छाले फफोले कहे जाते हैं।

फरमान—पह० फरमान, प्राचीन ईरानी फ्रमान, सं० प्रमाण।

बछरू, बछेड़ू आदि। इन सब में मूल शब्द वत्स है। उसीसे भिन्न-भिन्न प्रत्यय लगकर रूप बनते हैं।

बाछरू, बछरूं। वत्सरूप > बच्छरूव > बाछरूअ > बाछरू > बछरू।

बछेड़ा। वत्सतरक > वच्छयरअ > बच्छइरअ > बछेरा > बछेड़ा।

बछेड़ू। वत्सतररूप > बच्छयररूव > बछेररू > बछेड़ू।

बरसोले—खाँड़ के गोले जिनमें इलायची, कपूर, केसर आदि डालते थे और जिनका शरबत बनाते थे। सं० वर्षोपल, इससे वर्षोलक। मानसोल्लास (३।१४१७) में वर्षोलक या बरसोले बनाने (शोधित कंद में दूध मिलाकर पकाने) की विधि दी है। नैषध में भी बरसोलों का उल्लेख किया गया है। मध्यकाल ११-१२वीं शती में यह मिठाई बनने लगी थी।

बहली—रथ के आकार की छोटी छतरीदार गाड़ी। शब्दसागर में सं० वहन। वस्तुतः सं० वाह्याली से बहली है। बाण ने चंद्रापीड़ के लिये बनाए गए विद्या-मंदिर का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसके एक भाग में घोड़े, बहली (वाह्याली) आदि रखने का प्रबंध किया गया था। वाह्याली या बह्याली से बहली बना है।

बहोरना, बहुरना—अपभ्रंश वाहुडई = फिर लौटना। उदाहरण—

चंदउ वलि वलि उग्गमइ, धणु फिट्टो वलि होइ।
गयउ न जोव्वणु वाहुडइ, मुयउ न जीवइ कोइ॥

(सिंहासन द्वात्रिंशिका, २२वीं कथा)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चंद्रमा फिर-फिर उगता है, खोया धन फिर हो जाता है; पर गया हुआ यौवन फिर नहीं लौटता और मरा हुआ व्यक्ति फिर जीवित नहीं होता।

अल्सडोर्फ ने वाहुडइ को सं० व्याघुट से निकला हुआ माना है। व्याघुट= बाहुड + ना–बाहुरना–बहुरना, बहोरना, बहोरा, बहोर (अल्सडोर्फ, लंदन प्राच्य० पत्रिका, १०।१९)

बिरवा—सं० बिरुह (शब्दसागर)। वस्तुतः इसका मूल सं० विटपक है जिससे बिरवअ=बिरवा बनता है। विटप का अर्थ है वह जो बिट से पानी पिए। ज्ञात होता है विट निषाद् भाषा का शब्द था। उसका अर्थ था पत्ता। निषाद भाषा में बर शब्द पत्ते के लिये है जिससे बरई (जो पत्ते या पान का काम करे) बनता है। संस्कृत वट भी वृक्ष का नाम इसी लिये पड़ा; क्योंकि वह पत्तोंवाला पेड़ था।

बिहफै—गुरुवार। सं० बृहस्पति से बिहप्पइ, बिहफइ, बिहफै।

बीमा—पहलवी बीम, फारसी बीम (भय, डर), जंद धातु बी (डरना), सं० भीम, भी=डरना।

बीरान—पहलवी अवीरान (नहीं है आबादी जिसमें), फारसी वीरान या बीरान, बिरान।

बुजुर्ग—पहलवी वजुर्ग। प्राचीन ईरानी वजर्क। सं० वज्रक।

बुनियाद—फा० बुन या बून। पहलवी बून (आधार, नींव, मूल)। सं० बुध्न (पेंदी) से इसका संबंध ज्ञात होता है।

बुलंद—ऊँचा। फा० बुलंद; पह० बुलंद, बूलंद (ऊँचा, लंबा); जंद बेरैजंद; सं० बृहंत।

बेगड़ी—रत्न-परीक्षक। संस्कृत का शब्द वैकटिक था जो जौहरियों के लिये प्रयुक्त होता था। उसी से अपभ्रंश में बेगडिअ, बेगड़ी बना।

बेला—चमेली की जाति का एक फूल। शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति 'चमेली' से प्रश्नवाचक चिह्न के साथ लिखी है। वस्तुतः चमेली शब्द से इसका कोई संबंध नहीं है। यह शब्द सं० विचकिल से निकला है। विचकिल > प्रा० बिअइल्ल (सरस्वती कंठाभरण ५।४१०) > बइल्ल + क > बेला।

ब्यालू—शाम का भोजन। संक्षिप्त शब्दसागर में सं० विहार से इसकी व्युत्पत्ति दी है जो अर्थहीन है। ब्यालू भोजन विहारों तक सीमित नहीं था, आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी व्रज में शाम के भोजन को सब लोग ब्याल या बिआलू कहते हैं। सं० विकाल भोजन, बिआल-ब्याल + उक = ब्यालू। शाम के भोजन को अथऊँ भी कहते हैं। अस्तमन > अत्थवन > अथउंन > अथऊँ।

ब्यौंत—काम का हिसाब-किताब। शब्दसागर ने सं० 'व्यवस्था' से ब्यौंत की व्युत्पत्ति दी है जो अशुद्ध है। सं० व्ययपत्र से व्ययवत्त > व्ययउत्त > ब्यौंत। इसी प्रकार 'रघौती' अर्घपत्रिका (अर्थात् भाव-ताव की चिट्ठी, रेट सर्कुलर) से बनता है।

भाव—कीमत, दर। यह शब्द फारसी बहा (कीमत), पहलवी बहाक् (मूल्य, दर) से आया हुआ जान पड़ता है। बहा की जगह भा (व) हो गया। कीमत, दर, निर्ख—यह अर्थ संस्कृत भाव शब्द का, कोषों में नहीं मिलता।

भिस्स, भसींड—कमल की जड़, कमल ककड़ी। सं० बिस। अथर्ववेद ('आंडीकं कुमुदं संतनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली', ४।३४।५) में कई तरह के कमलों के नाम गिनाए हैं। अथर्व (५।१७।१६) में कहा है—'नास्यक्षेत्रे पुष्करिणी नांडीकं जायते बिसं', अर्थात् (जो अपुण्यवान् है) उसके खेत में न कमलों की पोखर होती है, और न आंडीक कमल होता है। सं० बिस से पाली में 'भिस' हो जाता है। सहारनपुर की तरफ अब भी 'भिस' बोला जाता है। पूरबी बोली में कमल ककड़ी के लिये भसींड शब्द है। बिस अंड अर्थात् कमल का कंदरूपी फूला हुआ भाग। बिस अंड > भिसअंड > भसिअंड > भसिं (अ) ड > भसींड। आंडीक से ही प्याज आदि की गाँठ के लिये आंडी या आणी शब्द बनता है।

भौंरा—फिराने का लट्टू। सं० भ्रमरक-भंउरअ-भौंरा। नारायण ने नैषध टीका (२२।५३) में 'कान्यकुब्ज भाषायां भवरा' लिखा है।

भौंहरा, भुइँहरा—धरती के नीचे का घर जो छिपने के लिये या गर्मी में लेटने या माल रखने के काम आता था। मुसलमानी काल में तहखाना शब्द चल गया और खड़ी बोली में प्रायः भौंहरा शब्द मर गया, पर बोलियों में वह बराबर बना रहा। तक्षशिला के आसपास की बोली में भी वह मुझे सुनने को मिला था। शब्द-सागर में सं० 'भ्रमण' से व्युत्पत्ति दी है जो अशुद्ध है। सं० भूमिगृह, भूइं हर + क, भुइँहरा, भौंहरा।

मणनी—खलिहान में एकत्र लाँक या फसल को दाँय चलाकर अन्न अलग करने की प्रक्रिया को मणनी या माणना कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण में खेती का उल्लेख करते हुए लिखा है—कृषन्तः वपन्तः लुनन्तः मृणन्तः (शत० १।६।१।३)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुदादिगण में मृण हिंसायाम् धातु से मृणाति, मृणन्तः बनते हैं। इसी धातु से मणना-मणनी शब्द बने ज्ञात होते हैं।

मरुम, मोरम—पहाड़ का लाल बालू जो सड़कों पर बिछाने के काम आता है। पाली मरुम्ब (बजरी या दर्रा बालू)। यह द्रविड़ भाषा का शब्द है। तामिल मुरम्पु (कड़ी ऊबड़ खाबड़ पथरीली धरती, पत्थर या बजरी का टीला)। तेलेगु मोरमु (कंकड़, बजरी)। तुलु मुर (पत्थर की खान; लाल बजरी—बरो, ट्रैं० फा० सो०, पृ० ११५)।

मलार—एक राग का नाम। सं० मल्हार से जो स्वयं अपभ्रंश की 'मल्ह' धातु से बना है, जिसका अर्थ था लीला या खेल करना। उसी से मल्हनादेवी आदि मध्यकालीन नाम बने थे।

महरी, महरिया, मेहरी—स्त्री, औरत। शब्दसागर में सं० मेहना से इसकी व्युत्पत्ति दी है जो असंबद्ध है। वस्तुतः सं० महिला ही महल्लिका-महलिआ-महरिआ-से महरिया-महरी-मेहरी बन गई।

मुराही, मुरहा—नटखट। शब्दसागर ने इसे मूल नक्षत्र में जन्म लेनेवाले अर्थ में मूल+हा प्रत्यय से व्युत्पन्न माना है। परंतु षड्भाषाचंद्रिका में मूर्ख से मुरुह की व्युत्पत्ति दी है (१।४।१०९; अंत्य हल् से पहले उकार का आगम किया है)। मूर्ख, मुरुख, मुरुह। उसी से 'मुरहा' (बेवकूफ, दुष्ट प्रकृति का) निकला है।

रजायसु, रजाई—यह शब्द रामायण में कई बार आया है। शब्दसागर में इसे अरबी रज़ा+आइस (हिंदी प्रत्यय) से माना है। वस्तुतः शब्द मूल संस्कृत राजादेश से राजाएस-रजाएस-रजाइस-रजायसु बना है और शब्द का विकास अपभ्रंश भाषा के माध्यम से हुआ है। हिंदी में आयसु=आज्ञा शब्द भी चलता है। शब्दसागर में उसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'आयसु' लिखी है। संस्कृत में 'आयसु' कोई शब्द नहीं है। संक्षिप्त शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति (सं० आदेश) ठीक कर दी गई है, पर रजायसु की वही पुरानी अशुद्ध व्युत्पत्ति दी गई है।

रहडू, रहरू—शब्दसागर में इसे पछाँहीं हिंदी की रिढना=(घसिटना) धातु से माना है। वस्तुतः रथ का 'रह' होता है। रथरूप>रहरूव>रहरूअ>रहरू=रहडू। शाहजहाँपुर की तरफ लेहडू भी कहते हैं।

रास—इस शब्द के कई अर्थ हैं और वस्तुतः वे भिन्न भिन्न शब्द ही हैं जिनकी व्युत्पत्ति भी अलग है। हिंदी कोषों में इस तरह के शब्दों को, एक में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलाकर अर्थ और व्युत्पत्ति छापते हैं, वह उचित नहीं है। उन्हें भिन्न शब्द मानना चाहिए।

(१) रास, खलिहान में अन्न का ढेर। सं० राशि।

(२) रास, घोड़े या बैल की लगाम की रस्सी। सं० रश्मि, रस्सि, रास। रस्सी शब्द भी रश्मि से ही है।

(३) रास, एक प्रकार का नृत्य। सं० रास। संभवतः लास्य से रासस, रास+क, रासा।

(४) रास, ज्योतिष की राशि। सं० राशि।

(५) रास, चौपाए की इकाई, जैसे गाय एक रास, जिसे अंग्रेजी में 'हेड ऑव कैटिल' कहते हैं। यह प्राचीन मिस्र और म्लेच्छ परिवार की भाषाओं का शब्द है जो अरबी से हमें मिला। र् श् , हिब्रू राश=सिर।

रेवड़--भेड़ों का झुंड। यह शब्द बहुत प्राचीन परंपरा का है। अक्कदी भाषा में रेऊ का अर्थ है भेड़। वहाँ से यह शब्द अन्यान्य म्लेच्छ परिवार की भाषाओं में फैला और अरबी के माध्यम से हम तक पहुँचा। अरबी भाषा से मिले हुए शब्दों की व्युत्पत्ति ढूँढ़ते हुए हमें उनके मूल स्रोत तक पहुँचना होगा। यह कार्य यद्यपि आज की स्थिति में कुछ दुस्साध्य है, परंतु एक दिन अवश्य ऐसा होगा जब कि हिंदी के शब्दों का पेटा पूरा भरने के लिये हमें अरबी से आगे हिब्रू, खल्दी, असुर, अक्कदी आदि भाषाओं तक शब्दों की परंपरा टटोलनी पड़ेगी।

रौसली--एक प्रकार की चिकनी उरजाऊ मिट्टी, डाकरा। शब्दसागर (पृ० २९८५) में इसे देशज माना है। वस्तुतः यह सं० रजस्वला>अप० रउस्सला> रौसला, रौसली से बना है। रौसली वह मिट्टी है जो रजस्वला यानी गँदली बनी हुई बरसाती नदी अपने दोनों किनारों पर छोड़ती है। उसे ही डाकर कहते हैं। पश्तो भाषा में 'डाग' सूखी कड़ी धरती को कहते हैं। उसी से डाकर या डाकरी बना है (रेवर्टी, पश्तो कोष, ४८८)। अफगान राज्यकाल में जब भूमि का बंदोबस्त किया गया होगा तब यह शब्द रौसली की जगह हमारी भाषा में प्रचलित हुआ जान पड़ता है।

लंगर, लंगरी, लंगरई, लंगराई-- नटखट, ढीठ। 'सूरस्याम मुख पोंछि जसोदा कहति सबै जुवती हैं लँगरी' (सूरसागर १०।३१९)। शब्दसागर में इसकी कोई संतोषप्रद व्युत्पत्ति नहीं है। 'लंघ' धातु से संभवतः 'लंघट' बनाकर उससे लंगर+क

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

=लंगरा बना। लंघट+गति से लंगर+अई=लंगरई सभव है। कुछ विद्वान् लंघनट से भी इसका संबंध मानते हैं।

लँगोटा—शब्दसागर और संक्षिप्त शब्द०, लिंग+ओट। वस्तुतः 'ओट' कोई शब्द नहीं है। यह तो पट शब्द की जगह जुड़नेवाला प्रत्यय-सा बन गया है। लिंगपट्ट, लिंगवट्ट, लिंगउट्ट, लंगोट। कच्छपट्टं, कछोट्ट+क, कछोटा। अंधपट्ट, अधौटा (बैल की आँखों पर बाँधा जाने वाला कपड़ा या चमड़ा)। इसी तरह का शब्द था योगपट्ट, जिससे जोगवाट, जोगउट्ट, जोगौटा बनते थे। वह वस्त्र जिसे योगी ध्यान के समय सिर से पैर तक ओढ़ लेते हैं, जोगपाट कहलाता है। जायसी ने रतनसेन के जोगी वेश का वर्णन करते हुए उसका उल्लेख किया है—

मेखलसिंघी चक्र धँधारी। जोगबाट रुदराछ अधारी॥ (पद्मावत १२।१।४)

यशोधर-चरित में 'गलि जोगबट्ट सज्जिउ विचित्तु' पाठ है। संदेशरासक में थणवट्ट (स्तनपट्ट) और मयणवट्ट (मदनपट्ट) का उल्लेख है (सँदेश० ४८,४९)।

लोथ—शरीर। सं० लोत्र (शरीर), लोत्त, लोत, लोथ।

साझासीरा—हिस्सापट्टी। ज्ञात होता है इसका मूल रूप सार्धकसीर था, अर्थात् खेती में आधे हल का हिस्सा। सार्धक सीर>सज्झअसीर>साझासीर। सीर या हल में साझा या आधा-आधा भाग तय होना।

साबर—मिट्टी खोदने का लंबा नुकीला औज़ार। शब्दसागर में शावर अशुद्ध व्युत्पत्ति है। सं० शर्वला (गदाला, कुदाला)। विक्रमांकदेव-चरित १५।६४ की टीका में तोमर का पर्याय शर्वला दिया गया है।

साल—वर्ष। फा० साल, पहलवी सालक्, जंद सरेध, सं० शरद्। संख्यावाची शब्दों के बाद पहलवी 'सालेह' आता है जिससे फा० सालह, उससे हिंदी इकसाला, दुसाला, सौसाला आदि बनते हैं।

साहनी—घुड़सवार सेना के अध्यक्ष। यथा—

भरत सकल साहनी बोलाए। आयसु दीन्ह मुदित उठि धाए॥
रचि रुचि जीन तुरग तिन्ह साजे। बरन-बरन बरवाजि बिराजे॥

संक्षिप्त शब्दसागर में इसे प्रश्न चिह्न के साथ सेनानी से व्युत्पन्न माना है। वस्तुतः यह संस्कृत का 'साधनिक' है जो साहनिय>साहनी बना। शिलालेखों में साहणी (भंडारकर, संस्कृत लेख-सूची ३९५) और महासहिणिय (लेख-सूची १८२) का अश्वशाला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अध्यक्ष के रूप में उल्लेख आया है। बृहत्कथाकोष (१२६।११६) में 'साधनिक' का उल्लेख है।

सुरागाय –सुर गाय (शब्दसागर)। वस्तुतः यह शब्द सुरभि से निकला है, प्रा० सुरही, सुरह। यही चमरी, चवँरी, चउंरी, चौंरी भी कहलाती है।

सुर्खरू—लाल मुँह वाला, तेजस्वी, कांतिमान्। फा० सुर्खरू। मूल मे दोनों शब्द संस्कृत परंपरा से हैं—शुक्र रूप।

सुथना, सुथना, सुत्थना—पायजामा। शब्दसागर में इसे देशज कहा है। इसका मूल सं० स्वस्थाना है। सामान्यतः साहित्य में इसका प्रयोग नहीं हुआ। एक बार "हर्ष-चरित" में बाणभट्ट ने फूलदार रेशम के बने हुए मुलायम सूथने पहने हुए राजाओं का उल्लेख किया है (उच्चित्रनेत्रसुकुमारस्वस्थानस्थगितजंघाकांडैश्च, सप्तम उच्छ्वास)। काश्मीरी प्रतियों में 'स्वस्थान' पाठ है, जिसके लिये शंकर ने लिखा है—'स्वस्थानेति यस्याः प्रसिद्धिः', अर्थात् जिसे लोक में 'स्वस्थाना' कहते हैं। निर्णयसागर की छपी प्रति में 'स्वस्थगन' पाठ है जो अशुद्ध जान पड़ता है। स्वस्थाना > सुत्थाना > सूथाना > सूथना > सुथना—यह विकास-क्रम जान पड़ता है।

सोहर—शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति 'सोहला' से और सोहला की 'सोहना' से दी गई है। हमारी समझ में सूतिगृह से सूइहर > सोइहर > सोहर अधिक संभव है। घर या गृह से 'हर' हिंदी के अनेक शब्दों में आता है। जैसे खँडहर (खंडगृह), धौराहर (धवलगृह), गुड़हर (गुड़गृह), मैहर (मातृगृह), पीहर (पितृगृह, पिअहर), नैहर (ज्ञातिगृह, नाइहर, नैहर)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम-वनवास का भूगोल

(किष्किंधा से लंका तक)

[श्री राय कृष्णदास]

सीता के अन्वेषण के लिये जिन वानर-दलों के जाने का वर्णन किष्किंधाकांड* में है उनमें से वास्तविक केवल वह था जिसके प्रमुख अंगद तथा अनुयायियों में मुख्य हनूमान् थे।[1] इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि अन्य दिशाओं में जानेवाली टोलियों में जो वानर गिनाए गए हैं उनमें अनेक इसी टोलीवाले हैं, अर्थात् वस्तुतः वे इसी टोली में थे। अन्य टोलियों की कल्पना पीछे की है और उनके अन्वेषण का संबंध उन प्रदेशों से है जिनका अत्युक्तिक, उलझा[2] और गप्पों से भरा हुआ वर्णन सुग्रीव पर आरोपित भुवनकोष[3] में है।

इस विस्तृत भूगोल का केंद्रस्थान संभवतः वहाँ है जहाँ किष्किंधा का स्थल-निर्णय हो चुका है।[4]

उक्त दल ने *विंध्य* के वन में आकर[5] *विंध्य* के गुहा-गहनों में खोजना प्रारंभ किया जहाँ अन्वेषण सहज न था,[6] किंतु उस प्रदेश में खोज का कोई परिणाम न निकला। अतएव उसे छोड़कर वे एक ऐसे प्रदेश में पहुँचे जहाँ के पेड़ बाँझ थे। उनमें फल तो क्या फूल-पत्ती तक न थी, नदियाँ सूखी पड़ी थीं। पशु-पक्षियों का नाम-निशान न था।[7] फिर उन्होंने अनेक गिरि-कंदरों, नदी के उद्गमों

---

* प्रस्तुत लेख में रामायण की वाचनाओं के लिये जिन दो प्रमुख संस्करणों से सहायता ली गई है उनके लिये प्रयुक्त संकेत ये हैं—

बं० रा० = बंगाल रामायण; मुं० रा० = मुंबई रामायण।

इनके संबंध में विशेष द्रष्टव्य—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ५४, अंक १, पृ० ११।

१—मुं० रा० ४।४१।५, ७

२—उदाहरणार्थ, प्राग्ज्योतिष (असम) पश्चिम में कहा गया है। मुं० रा०, ४।४२।११

३—मुं० रा०, किष्किंधाकांड, सर्ग ४०—४३

४—"ऋष्यमूक-किष्किंधा की भौगोलिक अवस्थिति"—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५२ अंक ४, पृ० १३७

५—बं० रा०, ४।४८।२; मुं० रा०, ४।४८।२

६—बं० रा०, ४।४८।६; मुं० रा०, ४।४८।६

७—बं० रा०, ४।४८।८, १०; मुं० रा०, ४।४८।८,१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

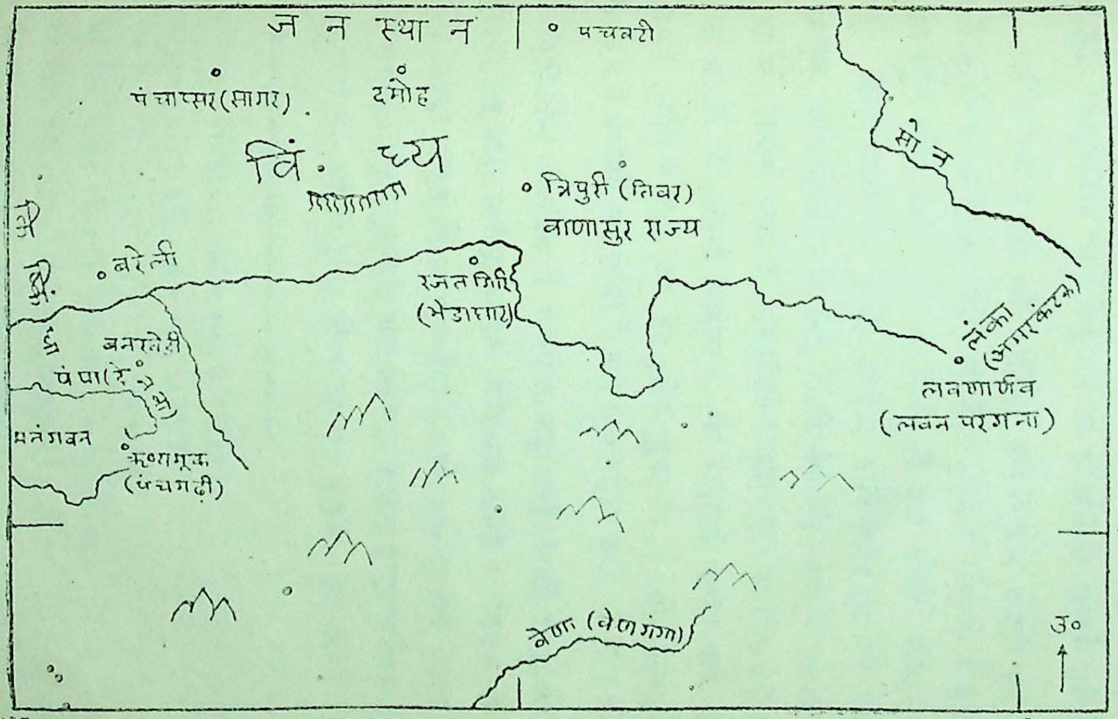

रामवनवास का भूचित्र (किष्किंधा से लंका तक)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा गिरि-गह्वरों में खोज की। असफलता के कारण वे बहुत खिन्न हुए, किंतु अंगद ने उन्हें पुनः उत्साहित किया और उन्होंने फिर से *विंध्य-काननों* से घिरे हुए दूसरे प्रदेशों को छानना प्रारंभ किया।[८] वे शरद्घन किंवा रजत के समान शुभ्र पर्वत पर चढ़े,[९] वहाँ उन्होंने लोध तथा छितौन के वन ढूँढ़े।[१०] थककर वे नीचे उतरे, कुछ काल विश्राम करके वे पुनः *विंध्य* को छोर से खोजने लगे।[११]

उन्होंने *विंध्य* के गुहा और वनों का, नदियों और बीहड़ों का, बड़े बड़े प्रपातों और शिलाओं का अन्वेषण किया। यों ढूँढ़ते ढूँढ़ते वे *विंध्य* के दक्षिण-पश्चिमी सिरे तक जा पहुँचे और वहाँ पानी की खोज में एक अँधेरी खोह (बिल) में जा फँसे।[१२] किसी प्रकार एक दूसरी ओर वे उसके बाहर हुए।[१३] बाहर निकलकर उन्होंने पुनः अपने को *विंध्य* में, किंतु उसके एक ऐसे भाग में, पाया जहाँ प्रस्रवण शैल था और जिसके पार्श्व में लवणांबुधि लहरा रहा था।[१४] वहीं *विंध्य* गिरि के के पास बैठकर वे अपनी असफलता पर पछताने लगे। उन्हें जो एक महीने का समय सुग्रीव ने दिया था वह बीत चुका था। ऐसी विषम परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिये उन लोगों ने वहीं भूखे रहकर मरने की ठान ली।[१५]

वहीं *विंध्य* की कंदरा में जटायु का बड़ा भाई संपाती रहता था। इन लोगों को देखकर वह बाहर निकल आया[१६] और उन लोगों के निश्चय से बड़ा प्रसन्न हुआ कि अच्छा आहार मिला, ये जैसे-जैसे मरते जायँगे, इन्हें खाता जाऊँगा।[१७] उसे देखकर अंगद ने हनूमान् से कहा कि यह साक्षात् मृत्यु उपस्थित है।[१८] हम न राम का काम कर सके, न राजा की आज्ञा का पालन, हम लोगों से तो जटायु

८—बं० रा०, ४।४९।२१; मुं० रा०, ४।४९।१५
९—बं० रा०, ४।४९।२२; मुं० रा०, ४।४९।१६
१०—बं० रा०, ४।४९।२३; मुं० रा०, ४।४९।१७
११—बं० रा०, ४।४९।२८-२९; मुं० रा०, ४।४९।२१-२२
१२—बं० रा०, ४।५०।११; मुं० रा०, ४।५०।११
१३—बं० रा०, ४।५२।२५; मुं० रा०, २।५२।३०
१४—बं० रा०, ४।५२।२०; मुं० रा०, ४।५२।३२
१५—बं० रा०, ४।५३।१५; मुं० रा०, ४।५३।१५, १९
१६—बं० रा०, मुं० रा०, ४।५६।३
१७—बं० रा०, मुं० रा०, ४।५६।४-५
१८—बं० रा०, ४।५६।७; मुं० रा०, ४।५६।८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्छा था जो राम के काम आ गया।[१९] हम लोगों के प्राण तो व्यर्थ जा रहे हैं। जटायु की चर्चा सुनकर भ्रातृ-स्नेहवश संपाती व्यथित हुआ[२०] और उन लोगों से सारा वृत्तांत जानकर उसने कहा कि यहाँ *विंध्य* में उसका समाचार नहीं मिलता था; आज कितने दिनों में मिला भी तो यह संवाद। मैंने इधर से रावण को एक तरुणी ले जाते देखा है, जो अपने शरीर को धुन रही थी;[२१] संभवतः वह सीता ही थी।[२२] सुनो, मैं तुम्हें उस राक्षस का निलय बताता हूँ। इस समुद्र में जो द्वीप है, उसमें त्रिकूट पर्वत के शिखर पर उसकी राजधानी लंकापुरी है,[२३] वहीं पर वह रहता है और वहीं वह सीता को ले गया है। तुम लोग शीघ्र वहाँ जाने का विक्रम करो और सीता के पास पहुँचकर समृद्धार्थ हो।[२४]

इस प्रकार जिसे मृत्यु समझा था उससे जीवन पाकर वानर उछल पड़े, और प्रसन्नता का निनाद करते हुए समुद्रतट पर आए।[२५]

उक्त विवरण से निम्नांकित बातें असंदिग्ध रूप से प्रकट होती है—

(१) वानर-दल ने सीता की खोज विंध्य में की और बार-बार उसी में घूमता रहा।[२६]

(२) *विंध्य* से समुद्र टकराता था।

(३) उस समुद्र में एक द्वीप था जिसमें त्रिकूट पर लंकापुरी थी।

विंध्य के पार्श्व में समुद्र का होना एक बड़ी विकट पहेली है जिसको बूझने के चक्कर में पड़कर रामायण के प्रसिद्ध व्याख्याकार गोविंदराज ने भेषजकल्प नाम के किसी नगण्य, इस कारण अज्ञात ग्रंथ से, "हिमवद्विंध्यशैलाभ्यां प्रायो व्याप्ता वसुंधरा"—यह वचन उद्धृत करके दिखलाना चाहा है कि रामेश्वर के निकटवर्ती पर्वत को भी विंध्य का ही एक अंश मानना चाहिए। किंतु यह उद्धरण और कुछ

१९—बं० रा०, मु० रा०, ४।५६।१२

२०—बं० रा०, ४।५६।२० ; मु० रा०, ४।५६।१९

२१—बं० रा०, ४।५८।१९-२० ; मु० रा०, ४।५८।१५-१६

२२—बं० रा०, ४।५८।२२ ; मु० रा०, ४।५८।१८

२३—बं० रा०, ४।५८।२४ ; मु० रा०, ४।५८।२०

२४—बं० रा०, ४।५८।३६ ; मु० रा०, ४।५८।३२

२५—बं० रा०, ४।५८।३८ ; मु० रा०, ४।५८।३४-३५

२६—बं० रा०, १।१।६८ और १।४।७० से तथा अग्निपुराण ८।१२ से भी यही प्रतिपादित होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं, "आर्यावर्तः पुण्यभूमिः मध्यं विंध्यहिमालयोः" का एक दूसरा रूप भर है। इससे यह अर्थ निकालना कि 'विंध्य' पद से उसी के समकक्ष अन्य कुलपर्वत भी विवक्षित हैं, दुराग्रह मात्र होगा। वस्तुतः "आर्यो व्याप्ता वसुंधरा" का वही भाव है जो कालिदास के हिमालय-विषयक 'पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मापदण्डः' का। भास ने हिमालय-विंध्य के सहारे पृथ्वी की जो छवि अंकित की है उसमें भी विंध्य से केवल वही पर्वत-शृंखला अभीष्ट है जिसे पौराणिक भुवनकोष में अथवा आजकल के भूगोल में विंध्य मानते हैं, अर्थात् जो सप्त-कुलाचलों में एक है। कवि कहता है—

इमां सागरपर्यन्तां हिमवद् विन्ध्यकुण्डलाम्।
महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः॥

अर्थात्, हमारे राजसिंह इस सागरपर्यंत पृथ्वी को, जिसके हिमवान् और विंध्य कुंडल हैं और जो उनकी एक छत्रच्छाया में है, शासन करें। स्पष्ट है कि कवि का तात्पर्य यहाँ उक्त आर्यावर्त से है, जिसमें बीच का अंश पृथ्वी का चेहरा होता है और इधर-उधर सरल रेखा में हिमालय और विंध्य दोनों कुंडल बनते हैं, जैसे कि वस्तुतः ऐसे सम्मुख चेहरे में चित्रित होने चाहिएँ। यदि ऐसा न हो तो कुंडल का रूपक नहीं सधता। गोविंदराज ने विंध्य का जो अर्थ लगाया है उससे तो विंध्यकुंडल एक त्रिकोण बन जायगा, जैसा कि कुंडल का आकार होता ही नहीं।

सच तो यह है कि समूचे भारतीय वाङ्मय वा परंपरा वा अनुश्रुति में कहीं से भी विंध्य का गोविंदराजवाला अर्थ सिद्ध वा स्थापित नहीं होता। असल बात यह है कि 'वानरों ने विंध्य-मेखला ही में सीता की खोज की थी एवं लंका विंध्य में ही थी'—इस तथ्य को समय के फेर से क्रमशः भूलकर लोगों को चक्कर में पड़ना पड़ा। गोविंदराज के पहले स्वयं रामायण को पल्लवित करनेवालों ने भी रामायण में ही इसके निराकरण की चेष्टा की है। सुंदरकांड में हनूमान् जानकी से अपना वृत्तांत सुनाते हुए कहते हैं कि जब हम लोग विंध्य में गुमराह हो गए तो हमें बड़ा शोक हुआ और अपनी असफलता के कारण, तथा सुग्रीव ने हमें लौटने की जो अवधि दी थी उसके अतिक्रम से भयभीत होकर हमने उस पर्वत पर चढ़कर प्रायोपवेशन की ठानी। वहाँ संपाती ने हमें आप (सीता) का पता बताया और तब हम उस *विंध्य* से समुद्रतट पर पहुँचे।[२७] युद्धकांड में भी, लंका से लौटने

२७—बं० रा०, ५।३२।२१-२७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर वे भरत से राम का वन-चरित वर्णन करते हुए कहते हैं कि हम लोगों को विंध्य पर्वत में सीता का अन्वेषण करते बहुत समय बीत गया।[२८]

वस्तुतः विंध्य के संबंध में इस गड़बड़ के उत्पन्न होने का कारण यह है कि उक्त प्रसंग में विंध्य के लिये कहीं कहीं 'मलय' शब्द भी आया है। किंतु यह मलय किसी पर्वत-विशेष का वाचक नहीं, बल्कि यह द्रविड़ भाषा वाली, पर्वत की जाति-वाचक संज्ञा है। हम देख चुके हैं कि रामायण में अनार्य भाषा के कई शब्द दबे पड़े हैं जो रामायण की 'वस्तु' की सत्यता को प्रमाणित करते हैं। मलय शब्द भी उनमें से एक है। संभावना ऐसी है कि इसी मलय शब्द का प्रकृत अर्थ भूलकर कथा पल्लवित करनेवालों ने वानर-निवास मलय पर्वत में ठहराया और फलतः लंका को सिंहल में पहुँचा दिया।

सिंहल और लंका भिन्न हैं, इसके प्रमाण कई बार प्रकाश में आ चुके हैं; फिर भी यहाँ उन्हें दुहराए बिना यह प्रसंग अधूरा-सा रह जायगा—

(१) राजशेखरकृत बालरामायण नाटक में सीता स्वयंवर के अवसर पर सिंहल-नरेश राजशेखर के साथ लंकापति रावण का जो संवाद दिया गया है उससे स्पष्ट सूचित होता है कि लंका और सिंहल अलग-अलग हैं। राजशेखर से रावण कहता है—'सिंहलपते, किमिदं संदिह्यते। नच संदेहदेहो वीरवृत्तनिर्वाहः।'

उसी बालरामायण में पुष्पक द्वारा लंका से अयोध्या लौटते समय लंका से कुछ दूर आकर सामने दिखाई पड़नेवाले प्रदेश का परिचय सीता को देते हुए विभीषण कहते हैं कि यह सिंहल है। यहाँ भी सिंहल लंका से भिन्न है।

(२) भागवत में शुकदेव ने जंबुद्वीप के आठ उपद्वीप गिनाए हैं, उनमें भी लंका और सिंहल एक दूसरे से भिन्न हैं।

(३) वराहमिहिर ने भी अपनी बृहत्संहिता में दक्षिणी देशों के नाम गिनाते समय लंका और सिंहल को अलग-अलग लिखा है।

(४) मार्कंडेय पुराण में दक्षिण-भारत के देशों की गणना में सिंहल को लंका से पृथक् गिना है।

(५) भारत में कृष्ण ने वनवासी युधिष्ठिर से राजसूय में आए हुए उन अनेक राजाओं के नाम गिनाए हैं जिन्होंने परिवेशक का कार्य किया था, वहाँ भी सिंहल और लंका का पृथक् उल्लेख है—

२८—मुं॰ रा॰, ६।१२६।३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिंहलान् बर्बरान् म्लेच्छान् ये च लंकानिवासिनः । २९

इन प्रमाणों से यह असंदिग्ध हो जाता है कि सिंहल लंका नहीं है। साथ ही, वह भारत के बाहर का कोई दूसरा द्वीप भी नहीं हो सकता। इसका प्रमाण यह है कि जहाँ भारत के नव भेद गिनाए गए हैं, जो समुद्र द्वारा एक दूसरे से अलग हैं, वहाँ लंका का नाम नहीं है। यदि लंका भारत से बाहर होती तो अवश्य वहाँ लंका का भी नाम होता। अतः लंका भारत-भूमि के भीतर का ही स्थल ठहरता है। यहाँ तक यह देख चुकने पर कि (क) वानर-दल ने सीता का अन्वेषण विंध्य में ही किया था, (ख) वाल्मीकि के विंध्य से वही कुलपर्वत अभिप्रेत है जिसे हम आज भी विंध्य कहते हैं और (ग) पूर्वमध्यकाल तक लंका सिंहल से जो निर्विवाद रूप से आजकल लंका माना जानेवाला सीलोन है, भिन्न मानी जाती थी,[30] स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि लंका की भौमिक स्थिति कहाँ थी ? इस प्रश्न को लेने के पहले थोड़ा-सा सिंहावलोकन कर लेना अच्छा होगा।

यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि किष्किंधा विंध्य-पृष्ठ पर थी और राक्षसों का बहुत बड़ा जनपद 'जनस्थान' उसके उत्तर पड़ता था। इन दोनों स्थानों को भौमिक स्थिति यथानुक्रम वर्तमान पंचमढ़ी और उसके उत्तर का प्रदेश सिद्ध होती है।[31] इसी प्रसंग में हम यह भी देख चुके हैं कि द्रविड़ भाषा के पर्वतवाची मलय शब्द ने किष्किंधा को सुदूर दक्षिण में जा फेंका और उसके कारण लंका को भी सिंहल (सीलोन) में पहुँचना पड़ा।[32]

२९—महाभारत, ३।५१।२३

३०—लंका और सिंहल के पृथक्त्व की यह परंपरा किसी-न-किसी रूप में बहुत इधर तक चली आई थी। अठारहवीं शती के अवधी कथाकाव्य चित्रावली तक में हमें इसकी तनिक सी गंध मिलती है—

देखेसि लंका कंचन केरा। सरन दीप सब घर घर हेरा।
सिंहल दीप दीप उजियारा। जो देखा सो मनि मनियारा॥ (जोगी ढूँढन खंड)

स्पष्ट शब्दों में इसमें लंका, सरन द्वीप और सिंहल द्वीप का पृथक् पृथक् उल्लेख है।

३१—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ५२, अंक ४; "ऋष्यमूक-किष्किंधा की भौगोलिक अवस्थिति"।

३२—वस्तुतः लंका भी अनार्य भाषा, संभवतः गोंड भाषा की टापूवाची जातिवाचक संज्ञा है। शबर भाषा में लंका का अर्थ टोला होता है (इस तथा अन्य अनार्य शब्दों के लिये द्रष्टव्य, 'प्री आर्यन एंड प्री ड्रैवोडियन इन इंडिया', बिहार एंड ओरीसा रिसर्च सोसायटी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन बातों से भी यही लक्षित होता है कि वास्तविक लंका उक्त स्थानों के लपेट में, विंध्य से मिली हुई ही थी। फलतः उसकी खोज विंध्य में ही अभीष्ट है। इस प्रकार की खोज की जा चुकी है। इंदौर के प्रसिद्ध विद्वान् सरदार माधव विनायक किबे तथा स्वर्गीय डाक्टर हीरालाल ने लंका की पहचान अमरकंटक में की है जिसके मुख्य प्रमाण ये हैं—

(१) समूचे भारत में गोंड ही एक ऐसी जाति है जो अपने को रावण-वंशज बताती है। बिलकुल अशिक्षित एवं पशुप्राय होने के कारण यद्यपि वे यह भूल गए हैं कि रावण कौन था, फिर भी वंश-परंपरा की रूढ़ि द्वारा उन्हें यह याद है कि वे रावणवंशी हैं। तेरहवीं-चौदहवीं शती से इन गोंडों का आधिपत्य मध्यप्रांत पर तीन-चार सौ वर्षों तक रहा। इस राजघराने का सबसे प्रतापी राजा संग्रामशाह हुआ जिसके सोने के सिक्कों पर उसके नाम के साथ "पौलस्त्य वंश" मिलता है। अमरकंटक प्रदेश में इन गोंडों की बहुतायत है।[३३]

की पत्रिका, भाग ११, पृ० ४१–५३)। जैसा कि निम्नलिखित अवतरण से विदित होगा, मध्यप्रांत में यह आजकल भी टीले या टापू के अर्थ में प्रचलित है—

"...गाँव से किसान भी संग हो लिए। नर्मदा के किनारे पहुँचकर प्रश्न किया गया कि १९२६ ई० का पूर कहाँ तक आया था। एक किसान ने तुरंत उत्तर दिया—"लंका तक"। हमलोग आश्चर्यान्वित होकर पूछने लगे, लंका कहाँ है? उसने झट एक टीले को इंगित किया। ...उस टीले को देखा तो उसे सबसे ऊँचा पाया उसके चारों ओर सूखे नाले थे। लेखक ने पूछा, इसको लंका क्यों कहते हैं? क्या यहाँ कभी रामलीला हुई थी? उत्तर मिला—"नहीं साहब, ऐसे ऊबड़-खाबड़ जंगल में रामलीला कैसे हो सकती है? यह नाम पुराना है, ऐसे ऊँचे टीलों को लंका ही कहते हैं।"...लेखक का विश्वास था कि टीला या टापू के लिए "लंका" शब्द का उपयोग दक्षिण ही में किया जाता है। परंतु यह तो अमरकंटक के भी उत्तर के गाँवों में अकस्मात् मिल गया।"

—डा० हीरालाल का "अवधी हिंदी प्रांत में राम-रावण-युद्ध" शीर्षक लेख (कोशोत्सव स्मारक संग्रह, पृ० २१–२७)।

कश्मीर में भी जलमध्यवर्ती भूभाग को लंका कहते थे। बँगला में यह टापू मात्र का वाचक है ही। स्वभावतः सीलोन के लिये पहले यह इसी द्वीपांतर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ होगा, फिर रामायण-भूगोल के दक्षिण खिसकने के साथ-साथ इसका रावणीय लंका से एकत्व स्थापित हो गया होगा।

३३—युक्तप्रांत और बिहार में ऐसे गोंड भी हैं जिनकी आदिम जाति के रूप में कोई अलग बस्ती अथवा धर्म नहीं रह गया है। एक हिंदू बिरादरी के रूप में ये गाँवों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) इन गोंडों के पड़ोसी, परंतु शत्रु, उराँव और शवर हैं। रामायण में इसी प्रदेश में शवरी का उल्लेख तो स्पष्ट ही है, उराँव का समीकरण वानर जाति से संभावित है। उराँव का अर्थ वनराज है जो रामायणवाले वानर-पर्याय, वनचर से दूर नहीं। इनका गोंडों से जातिगत वैर भी इस समीकरण का पोषक है। राम ने गोंडों के विपक्षी इन उराँवों को अपने पक्ष में करके इनकी सहायता से रावण पर विजय पाई।

(३) अमरकंटक की तली में आज भी एक बड़ा भारी दलदल है जिसको कोई पार नहीं कर सकता। ब्रिटिश काल में मध्यप्रांत के प्रथम चीफ कमिश्नर ने प्रयत्न किया था, परंतु उसे बहुत कष्ट उठाकर असफल लौटना पड़ा। इससे सरलतापूर्वक अनुमान किया जा सकता है कि राम के समय में वहाँ पानी का कितना भारी संचय रहा होगा। ऐसी झील के लिये समुद्र शब्द का लाक्षणिक प्रयोग भारतीय भाषाओं का स्वभाव है। स्वयं रामायण के अंतःसाक्ष्य से हम किष्किंधा प्रसंग में यह झलक पाते हैं कि समुद्र शब्द से भूमंडल को परिवेष्टित करनेवाली महा-जलराशि के अतिरिक्त भूमंडल में के अन्य जलाशयों का भी बोध होता था।

(४) अमरकंटक के दक्षिण में अब तक लवन नामक परगना है जिसकी भूमि आसपास की भूमि से नीची है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्राचीन काल में यह भूमि और नीची, फलतः पानी से भरी रही होगी, जो क्रमशः सूख और भर गई, वा उसके पानी का निकास हो गया। अर्थात् राम-काल में उक्त झील यहाँ तक लहराती रही होगी। रामायण इत्यादि से हम यह पाते हैं कि जिस जलराशि में लंका थी और जिसे हनूमान् ने पार किया था उसका नाम लवणार्णव या लवणांभस् था। उक्त लवन इसी का घिसा-घिसाया रूप संभावित है।

सीता-अन्वेषण के मार्ग के उक्त रामायणीय वर्णन में इस संबंध की एक लक्ष्य करने योग्य बात यह है कि वानर-मंडली अपने अन्वेषण की आरंभिक

पाए जाते हैं। यह बिरादरी कँहारों के मेल की है जिस प्रकार अहीर और गँड़ेरिए। इस संबंध में यह बात लक्ष्य करने की है कि कँहारों की एक अंतर्गत-जाति रवानी होती है और यह शब्द रावण से संबंधित है, जिस प्रकार वाद्य-वाचक रवाना शब्द, जिसका प्राचीन नाम रावण-हस्तक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंजिलों में विंध्य के एक शरद्घन अथवा रजत सरीखे शुभ्र शिखर पर पहुँचती है। पंचमढ़ी से पूरब की ओर जानेवाले दल को कुछ पड़ाव जाने पर ही जबलपुर का भेड़ाघाट (मार्बल राक्स) मिलता है। रामायण का रजत-शरद्घन-संनिभ शिखर इस मार्बल राक्स के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? फिर, विंध्य का छोर आ जाने पर लवणार्णव आ जाना स्पष्टतः अमरकंटक का वर्णन है, जहाँ विंध्य का छोर आ जाने पर एक बड़ी झील का कंकाल आज भी विद्यमान है, जैसा कि हमने अभी देखा है। इस प्रकार रामायण के अन्तःसाक्ष्य से भी लंका की उक्त पहचान का पूर्ण सामंजस्य और समर्थन है।

अमरकंटक से इस स्थान के एकत्व के विषय में रामायण की यह बात भी लक्ष्य करने की है कि विंध्य के उक्त छोर पर प्रस्रवण की चर्चा है और अमरकंटक नर्मदा तथा शोण का प्रस्रवण (उद्गम) है। इतना ही नहीं, रामायण से जो तनिक भी परिचित है उसे विदित है कि लंका त्रिकूट पर स्थित थी। अमरकंटक का प्राचीन नाम भी त्रिकूट है जिसके कारण नर्मदा का एक नाम 'त्रिकूटा' मिलता है।[३४] सो वर्तमान ऊहापोह के प्रकाश में यह मानना पड़ता है कि ये दोनों त्रिकूट एक हैं। इससे लंका के स्थल निर्णय का एक और प्रमाण प्राप्त हो जाता है।

राम और रावण संबंधी जो किंवदंतियाँ चली आ रही थीं उनका एक प्राचीन संग्रह हमें उत्तरकांड के रूप में मिलता है। यह गुप्तकाल के पूर्व का है, क्योंकि कालिदास ने जो राम-चरित रघुवंश में अंकित किया है वह वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांडसहित-रूप का सारांश है। इन कथाओं के पात्र तुल्यकालीन और ऐतिहासिक हैं, जैसा कि इस प्रकार की सभी ऐतिहासिक उपकथाओं में पाया जाता है। केवल इनकी घटनाएँ कल्पित होती हैं। निदान, उत्तरकांड की कथाओं में हम हैहयों और बाणासुर से रावण के संघर्ष की कथाएँ पाते हैं। हैहयों की राजधानी माहिष्मती में और बाणासुर की त्रिपुरी (तिवर) में निश्चित हो चुकी है। इन हैहय और बाणासुर राज्यों से रावण की निरंतर शत्रुता तभी संभाव्य है जब उसका राज्य इन राज्यों का पड़ोसी रहा हो। अमरकंटक यह शर्त पूरी करता है। यदि सुदूर सिंहल (सीलोन) लंका होता तो उसका संघर्ष पांड्य एवं चोल सरीखे राज्यों से अपेक्षाकृत अधिक तर्कसम्मत होता। यह बात भी लक्ष्य करने की है

३४—स्कंद पुराण, रेवा खंड, ५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि बीच में बाणासुर के शत्रु-राज्य पड़ने के कारण ही उसे बचाकर रावण, सीता-हरण करके सीधे लंका न जाकर, किष्किंधा के मार्ग से गया था।

इस प्रकार हमने अयोध्या से पंचवटी[३५], पंचवटी से किष्किंधा[३६] और किष्किंधा से लंका तक के भूभागों की पहचान का जो प्रयत्न किया है उसमें हमने अपनी ओर से कोई पूर्व-निर्णय करके उन्हें प्रमाणित करने की चेष्टा नहीं की है। रामायण और अन्य प्राचीन ग्रंथों की विवेचना से हमें जो बातें मिलीं उन्हीं को एक कोटि-क्रम में बैठाने पर हमें ये निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं। आशा है कि विद्वन्मंडली इनका विमर्श करके सत्यासत्य का निर्णय करेंगी। इस प्रकार आविष्कृत सत्य ही सर्वमान्य होना चाहिए।

३५—ना० प्र० प०, भाग ५४ अंक १, पृ० १४

३६—वही, भाग ५२ अंक ४, पृ० १२०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन भारतीय वीणा

[श्री नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी]

हमारे यहाँ वाद्यों के चार मुख्य भेद माने गए हैं—(१) घन या ठोस वाद्य, (२) सुषिर या वायुवाद्य, (३) अवनद्ध या चर्मावगुंठित वाद्य और (४) तत या तंतु वाद्य। इन सभी प्रकार के वाद्यों के विकास का वर्णन अत्यंत मनोरंजक होगा, परंतु स्थलाभाव के कारण हम प्रस्तुत लेख में केवल तत वाद्य की विकास-प्रणाली का विचार करेंगे। किसी भी मानवोपयोगी वस्तु का इतिहास पूर्ण रूप से जानने के लिये हमें उस काल तक दृष्टि दौड़ानी होती है जहाँ से स्वयं मानव के इतिहास का श्रीगणेश हुआ है। भारतीय वीणा भी इसके लिये अपवाद नहीं है।

वाद्य का मुख्य लक्ष्य है शब्दोत्पत्ति। इसका अर्थ यह हुआ कि जब से किसी भी उपकरण द्वारा मानव ने कृत्रिम रूप से शब्दोत्पत्ति करना सीखा तभी से वाद्यों का जन्म हुआ। तथा च उपकरणों की भिन्नता के आधार पर ही वाद्यों का वर्गीकरण भी आगे चलकर हुआ। एक वस्तु को दूसरी से टकराकर शब्द उत्पन्न करना मनुष्य ने पहले सीखा होगा, इस प्रकार घन वाद्यों का ही आविष्कार सर्व-प्रथम हुआ होगा। तत्पश्चात् सुषिर, अवनद्ध एवं अंततः तंतु वाद्यों का जन्म हुआ होगा। तंतु वाद्य का उद्गम धनुष से ज्ञात होता है, क्योंकि आदिकाल से ही कोदंड मानव का प्रमुख युद्ध-साधन था। सदैव युद्ध में रत रहनेवाले मनुष्य के लिये प्रत्यंचा का शब्द अत्यंत मधुर मालूम पड़ता होगा, इसमें संदेह नहीं। मूलतः प्रत्यंचा के शब्द का उपयोग यही जानने के लिये किया जाता था कि धनुष की डोरी में कितना बल है, उससे छूटा हुआ बाण कितनी दूर तक जा सकता है। इसी सिद्धांत का परिवर्धित एवं लाक्षणिक रूप यह हुआ कि जिस धनुर्धारी की प्रत्यंचा का शब्द जितना ही गंभीर एवं तीव्र होगा, उतना ही उसका शर-संधान-सामर्थ्य तथा बल भी अधिक होगा। इसीलिये अपने शत्रु को दहला देने के लिये भी वीर रणभूमि में प्रत्यंचा का टणत्कार किया करते थे। यह तो हुआ धनुष की डोरी का रणभूमि में किया जानेवाला उपयोग। किंतु इसके साथ साथ वीरों के लिये इसका एक और भी काय था—वह था प्रत्यंचा के शब्द से अपना मनोरंजन। आज भी कोचीन और त्रावणकोर के नायर लोगों द्वारा धनुष का उपयोग संगीत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधन की दृष्टि से किया जाता है।[१] भारत में ही नहीं वरन् विदेश में भी संगीत-धनु या 'म्यूज़िकल बोज' का प्रयोग पाया जाता है।[२] यहीं पर हमें 'तत' वाद्य का प्रारंभिक रूप दिखलाई पड़ता है। कभी कभी वीरों के मनोरंजन का कार्य करनेवाली इसी प्रत्यंचा ने कुछ काल के अनंतर वीणा के तारों का रूप धारण किया।

धनुष की प्रत्यंचा का बारंबार टणत्कार करने से मनुष्य को इस बात का ज्ञान हो गया कि धनुष की डोरी को कसने या ढीला करने पर उससे निकलनेवाले शब्द में—जिसे 'स्वर' कहना अधिक उपयुक्त होगा—महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। इसी के साथ साथ उसने यह भी समझ लिया कि प्रत्यंचा जितनी ही बारीक होगी, उससे उत्पन्न शब्द भी उतना ही तीक्ष्ण होगा। एक और विशेषता भी उसे अवगत हो गई। वह यह कि जैसे जैसे धनुष की लंबाई बढ़ेगी वैसे वैसे उसकी प्रत्यंचा से उत्पन्न शब्द भी बदलता जायगा। इन सिद्धांतों के आधार पर मनुष्य की प्रगतिशील बुद्धि आगे कार्य करने लगी। अब यह चेष्टा की जाने लगी कि छोटी-बड़ी प्रत्यंचाओं को एक ही धनुर्दंड में बाँधकर भिन्न भिन्न प्रकार के स्वरों को एक ही स्थल पर केंद्रित किया जाय। यह तो हुआ, किंतु ये स्वर अधिक तीव्र नहीं थे। अब तक अवनद्ध और सुषिर वाद्यों के भी सिद्धांत मनुष्य के ज्ञान-क्षेत्र में आ गए थे। फलतः यह बात ज्ञात हो चुकी थी कि पोली वस्तु के साहचर्य से शब्द भली प्रकार प्रतिध्वनित होता है। इसलिये अब यह सोचा जाने लगा कि धनुष पर भी यदि कोई पोली वस्तु बाँध दी जाय, तो वह उसकी प्रत्यंचा से उत्पन्न शब्दों की तीव्रता एवं मधुरता की दृष्टि से लाभप्रद सिद्ध होगी। यही किया गया। यह पोली वस्तु थी चर्मावगुंठित काष्ठभांड। यह काष्ठभांड संगीतधनु का एक अभिन्न अंग बन गया। इस प्रकार प्रथम भारतीय वीणा का जन्म हुआ, जिसे हम उसके आकार-विशेष के कारण धनुर्वीणा कहेंगे। यह तो हुई विकास-शास्त्र की दृष्टि से वीणा की संभावित कहानी। इस विचार-पद्धति के अनुसार प्राचीन वीणा का आकार धनुष का सा होना चाहिए। अब हम प्राचीन कला एवं साहित्य की कसौटी पर उपर्युक्त सिद्धांत को कसकर उसकी सत्यता की परीक्षा करेंगे। प्रथम कला को लें, क्योंकि कला आज भी हमारे लिये दृष्टिगोचर है और उसमें अनुमान का क्षेत्र अत्यंत सीमित है।

१—गाइड टु द म्यूज़िकल इंस्ट्रुमेंट्स, इंडियन म्यूज़ियम कलकत्ता, १९१७, पृ० ६।
२—हैंडबुक टु दि एथ्नोग्राफिकल कलेक्शन, ब्रिटिश म्यूज़ियम, १९२५, पृ० १२९, २१८ इत्यादि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला में वीणा

भारतीय कला के उदाहरण हमें मौर्य-काल (लगभग वि० पू० २५०) से प्राप्त होते हैं। इस काल की कला में हमें वीणा का कोई भी प्रत्यक्ष उदाहरण नहीं मिलता। उसके पश्चात् शुंगकाल (वि० पू० १५० वर्ष) आता है। यहाँ हमें वीणा का दर्शन पहली बार होता है। भरहुत स्तूप पर बने हुए चित्रों में हमें ऐसे भी चित्र मिलते हैं, जिनमें नृत्योत्सव के दृश्य अंकित है।[3] उनमें प्रधान नर्तकी के साथ वीणाधारिणी स्त्रियाँ भी दिखलाई गई हैं। स्पष्ट है कि ये वीणा बजा-बजा कर नृत्य का साथ दे रही हैं। ये वीणाएँ धनुष के आकार की हैं। वीणादंड धनुष के समान वक्र है, जो संभवतः अंदर से पोला होगा। उसके निचले सिरे पर एक लंबा गोल आकार का तूंबा लगा हुआ है। इसी तूंबे पर तार लगे हुए हैं जो दंड में बँधे हैं। एक स्थल पर वह वस्तु भी स्पष्ट अंकित है जिससे वीणा बजाने का काम लिया जाता था।[४] जैसा हम आगे बतलाएँगे, इसे 'कोण' कहते थे। इसी काल के कुछ अन्य मृण्मय चित्रों (टेराकोटा) पर भी यह वीणा दिखलाई पड़ती है। उदाहरणार्थ कौशांबी से प्राप्त वह चित्र जिसपर उदयन द्वारा वासवदत्ता के हरण की कथा अंकित है; इसमें उदयन भद्रावती नामक हस्तिनी पर अपनी घोषवती वीणा लिए बैठा है।[५]

कुषाण काल (वि० सं० ५०-२५०) में भी हमें यह वीणा प्रचुरता से दिखलाई पड़ती है। मथुरा के प्राचीन 'देवनिर्मित' जैन स्तूप के उत्खनन में उस काल की कला के जो सुंदर उदाहरण प्राप्त हुए हैं उनमें धनुर्वीणा की भी कमी नहीं है। कहीं नृत्योत्सव[६] के अवसर पर, कहीं संगीत समारोह[७] में सहायक वाद्य के रूप में, कहीं केवल स्वांतःसुखाय[८] और कहीं 'पंचमहाशब्दों'[९] के प्रतीक स्वरूप हमें वीणा के दर्शन होते हैं। इसी काल में, किंतु स्वतंत्र रूप से फूलने-

---

३—बरुआ, 'भरहुत' जिल्द ३, फलक ३१ तथा ४२।

४—वही, फ० ३९।

५—राय कृष्णदास, "वासवदत्ता उदयन प्लेक फ्रॉम कोशांबी", जे० यू० एच० एस० भाग १८, पन्नालाल अंक।

६—स्मिथ, जैनस्तूप ऐंड अदर ऐंटिकिटीज फ्रॉम मथुरा, प्लेट १८।

७—वही, प्लेट २७; विशेष स्पष्टीकरण के लिये द्रष्ट० वी० एस० अग्रवाल, 'मथुरा पिलर इन द लखनऊ म्यूजियम', जे० यू० पी० एच० एस०, पृ० ५६, फ० ३, आकृति ५।

८—वही, फ० २३, आकृति २।

९—कनिंघम, ए० एस० आर०, भाग २०, फ० ४, आकृति १ तथा पृ० ३५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फलनेवाली, गांधार कला भी धनुर्वीणा के उदाहरणों से सूनी नहीं है। पश्चिमोत्तर भारत से एक शिलाखंड मिला है जिसपर चंडकिन्नर जातक की कथा अंकित है। उस स्थल पर किन्नर की वीणा धनुर्वीणा ही है।[१०]

गुप्तकाल में भी इस वीणा का अपना स्थान था। अपने अद्वितीय वीणावादन पटुत्व में 'बृहस्पति, तुंबरु और नारद को लज्जित करनेवाले'[११] गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त भी इसी प्रकार की वीणा का प्रयोग करते थे। उनकी कुछ मुद्राओं पर वीणापाणि सम्राट् की मूर्ति अंकित है।[१२] वहाँ उनके हाथ में कोई अन्य वीणा न होकर धनुर्वीणा ही है।

इस वीणा ने दक्षिण भारत में भी प्रवेश पा लिया था। कृष्णा-तट पर स्थित नागार्जुनी कोंड (कुंड) के उत्खनन में प्राप्त वस्तुओं में हमें धनुर्वीणा भी दृष्टिगोचर होती है।[१३] अमरावती (जिला गुंटुर) के स्तूप पर उत्कीर्ण चित्रों में भी धनुर्वीणा का प्राचुर्य है।[१४] यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि अमरावती में धनुर्वीणा को छोड़कर और प्रकार की भी वीणाएँ मिलती हैं जिनका विवेचन हम 'दक्षिण भारत में वीणा' नामक एक अन्य लेख में करेंगे।

वीणा के इतिहास पर विचार करते हुए हमें एक अन्य प्रकार की वीणा का भी विचार करना अनिवार्य है। यह वीणा प्राचीन कला में पाई जाती है। इसका तूंबा, जिसे काष्ठभांड कहना अधिक उपयुक्त होगा, गोल और चिपटा होता है। इसका दंड भी छोटा किंतु सरल होता है। यह बहुत कुछ पाश्चात्य 'मंडोलीन' या जापानी 'बीवा' वाद्य की भाँति होती है। प्राचीन कला में इसके उदाहरण कम प्राप्त होते हैं। कुषाण-काल की कला में हमें केवल एक ही उदाहरण मिलता है।[१५]

१०—जे० एन० बनर्जी, "ए गांधार रिलीफ इन दि इंडियन म्यूजियम", इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, १९३४, पृ० ३४४।

१०—'गान्धर्वललितैः व्रीडित त्रिदशपति गुरुतुम्बरुनारदादेः विद्वज्जनोपजीव्यानेक काव्यक्रियाभिः ..' फ्लीट, कॉर्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, भाग ३, पृष्ठ ८, पंक्ति २९ (अलाहाबाद पिलर इंस्क्रिप्शन)।

१२—जॉन ऐलेन, कैटेलॉग ऑव द कॉयन्स ऑव द गुप्तज, फ० ५, सं० १–८।

१३—ऐनुअल बिब्लियॉग्राफी ऑव इंडियन आर्केयॉलॉजी, १९३१, पृष्ठ १४, फ० ४ बी।

१४—शिवराममूर्ति, 'अमरावती स्कल्पचर्स इन द गवर्नमेंट म्यूजियम, मद्रास', बुलेटिन ऑव द गवर्नमेंट म्यूजियम, मद्रास, न्यू सीरीज, जनरल सेक्शन, भाग ४, फ० १३।

१५—हीरानंद शास्त्री, मेमॉयर ऑव दि आर्केयॉलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, सं० ११, पृ० १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमरावती में भी इसका दर्शन होता है।[१६] किंतु गुप्तकाल में आकर धनुर्वीणा के साथ इसका भी प्राचुर्य दिखलाई पड़ता है। विदिशा के पास उदयगिरि की गुफाओं में एक स्थल पर गंगा-यमुना के संगम का सुंदर चित्रण किया गया है।[१७] इस संगम के अवसर पर देवांगनाओं द्वारा नृत्यादि का भी आयोजन दिखलाया गया है। उन देवांगनाओं के हाथों में वे ही सरल दंडवाली वीणाएँ हैं। अजंता की चित्रकला में भी हमें इस प्रकार की वीणाएँ दिखलाई पड़ती हैं।[१८]

वीणा के इतिहास में यह काल संभवतः संक्रांति काल था। इस समय में दोनों प्रकार की वीणाओं का संगीत के लिये समान रूप से उपयोग किया जाता था। पवाया (पद्मावती) से मिले हुए शिलाखंड से यह बात स्पष्ट हो जाती है।[१९] किंतु गुप्तकाल के उपरांत हमें प्रायः धनुर्वीणा के दर्शन नहीं होते। संभवतः छोटे आकार, वादन-सौकर्य इत्यादि गुणों के कारण दूसरे प्रकार की ही वीणा अधिक लोकप्रिय हुई और धनुर्वीणा पीछे पड़ने लगी। इसी सरल दंडवाली वीणा के और भी नए नए परिष्कृत रूप निकले। आधुनिक काल की सरस्वती वीणा भी उन्हीं में से एक है। मध्यकालीन कला में हमें धनुर्वीणा नहीं दिखलाई पड़ती, इसका यह अर्थ नहीं कि गुप्तकाल के पश्चात् धनुर्वीणा का अस्तित्व ही नष्ट हो गया। ब्रह्मदेश में वह आज भी जीवित है। लखनऊ के संग्रहालय में इस प्रकार की एक ब्रह्मदेशीय वीणा सुरक्षित है। कला के उपरांत अब हम साहित्य की भी इसी दृष्टि से छानबीन करेंगे।

वेदों में वीणा

वैदिक या अन्य साहित्यिक ग्रंथों के आधार पर प्राचीन वीणा के सच्चे स्वरूप का पता पाना कठिन है, क्योंकि वीणा, उसकी वादन-पद्धति या उसके आकार इत्यादि का विस्तृत विवेचन एक ही स्थल पर मिलना असंभव है। अतएव भिन्न-भिन्न स्थलों पर आए हुए उल्लेखों के आधार पर हमें अपनी कल्पना-शक्ति के सहारे कार्य करना होगा। वेदों में हमें वीणा और वाण ये दो शब्द मिलते हैं। मैक्डॉनेल और कीथ के मतानुसार ऋग्वेद और अथर्ववेद में वाण शब्द का अर्थ

१६—शिवराममूर्ति, अमरावती स्कल्पचर्स, फ० १२, सं० ११।

१७—वी० एस० अग्रवाल, "गुप्त आर्ट", फ० ५, आकृति ७।

१८—जी० यजदानी, अजंता, प्लेट १, पृ० १९, तथा फ० २४, २५, २६।

१९—वी० एस० अग्रवाल, "गुप्त आर्ट", फ० १, आकृति १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वादित्र संगीत' या वाद्य होता था, परंतु संहिताओं में इस शब्द से एक प्रकार की वीणा का अभिप्राय है जिसका उपयोग 'महाव्रत-विधि' में किया जाता था।[२०] ऋग्वेद में भी एक स्थल पर 'वाण' शब्द से तंतुवाद्य का ही अभिप्राय लिया गया है।[२१] वाण में सौ तार होते थे। तैत्तिरीय संहिता में इसका निर्माण विस्तार से बतलाया गया है। लाल रंग के बैल के चर्म से मढ़ा हुआ तूंबा इसमें लगाया जाता था। दंड गूलर की लकड़ी का होता था। तार लगाने के लिये तूंबे में दस छेद किए जाते थे। प्रत्येक छिद्र में दर्भ या मूँज से निर्मित दस तार पिरोए जाते थे। इस प्रकार ये सब तार 'घुरुच' की सहायता से भली प्रकार कस दिए जाते थे। इस वाण नामक वाद्य को बजाने के लिये एक धनुही भी बनाई जाती थी। वेतस् या इषिका नामक लता का एक टुकड़ा लिया जाता था जो टेढ़ा होकर धनुष के आकार का हो जाता था। इसी में बाल बाँध कर धनुही बनाई जाती थी जिसका प्रयोग 'वाण' को बजाने के लिये किया जाता था। धनुही को बनाने की एक अन्य विधि भी थी। पत्तों सहित 'वेतस्' की शाखा का प्रयोग इस कार्य के लिये किया जाता था।[२२]

अब इसपर विचार करना होगा कि यह 'वाण' वीणा किस प्रकार की होती रही होगी। परवर्ती काल की कला में प्राप्त सरल-दंडवाली वीणा में या आधुनिक काल की सरस्वती वीणा में एक-सौ तारों का लगना कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि इस प्रकार की वीणा में समानांतर तार कसते समय वीणादंड की चौड़ाई को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। धनुर्वीणा में इस बात को ध्यान में रखने की आवश्यकता इसलिये नहीं होती कि उसमें तार एक के ऊपर एक लगे हुए होते हैं। प्राचीन मिस्र

२०—मैकडॉनेल ऐंड कीथ, वेदिक इंडेक्स, जिल्द २, पृ० २८३

२१—ऋग्वेद १।८५।१०; 'वाण' शब्द के अनेक विद्वानों ने विभिन्न अर्थ किए हैं। सायण ने इसका अर्थ 'वीणा' किया है, किंतु मैक्समूलर के अनुसार इसका अर्थ है 'शब्द'। विलसन के मतानुसार इसका अर्थ 'वंशी' है (द्रष्टव्य पादटिप्पणी पृ० १२८, ऋग्वेद संहिता, वैदिक पुस्तकमाला का प्रकाशन स० १)। परंतु शतपथ ब्राह्मण में वाण का वर्णन 'वाणः शततंतुर्भवति'—इस प्रकार किया गया है। इसे देखते हुए सायणवाला अर्थ ही ठीक प्रतीत होता है।

२२—श्रीधर वेंकटेश केतकर, 'महाराष्ट्र ज्ञानकोश', प्रस्तावना खंड, वेदप्रवेश, पृ० ११२; वहीं उद्धृत तैत्तिरीय संहिता ७।५।९ तथा शांखायन श्रौतसूत्र १७।३।१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भी सौ-तारोंवाला एक तंतु वाद्य होता था जिसका रूप बहुत कुछ धनुर्वीणा के ही समान था।[२३]

इतने अधिक तारों वाले वाद्यों का होना असंभव नहीं है। दक्षिण में तो एक सहस्र तारों वाले वाद्य के अस्तित्व का उल्लेख मिलता है।[२४] इस प्रकार के तंतु वाद्य में एक तार एक ही स्वर के लिये नहीं होता। पाँच या सात तार तो सप्तस्वरों के लिये होते हैं और अन्य, स्वर को निनादित या गुंजित करने के लिये।

इस 'वाण' वीणा के अतिरिक्त सामवेद में पाँच अन्य वीणाओं का भी उल्लेख आता है।[२५] वे हैं अलाबुवीणा, वक्रावीणा, कपिशीर्षा, महावीणा तथा शालवीणा। इन विभिन्न प्रकार की वीणाओं के नामों को छोड़कर हमें उनका कोई विशेष वर्णन प्राप्त नहीं है। स्त्रियों के लिये कुछ विशिष्ट वाद्य बतलाए गए हैं।[२६] उनमें पिच्छोरा और कांड वीणा--ये दो प्रकार की वीणाएँ उल्लिखित हैं।

जातक, पुराण, तथा परवर्ती साहित्य में वीणा

जातक कथाओं में वीणा के बहुत से उल्लेख आते हैं। उनसे तत्कालीन वीणा का रूप बहुत कुछ स्पष्ट होता है। वीणा का तूंबा जिसे 'दोणी' कहते थे, चर्मावगुंठित रहती थी। यह लंबगोल होती थी। वीणा का दंड मुड़ा हुआ, अर्थात् सरल न होकर वक्र होता था। उसमें सात तार होते थे अतः उसे सप्ततंत्री या सत्ततंती कहते थे। वीणा संगीत का एक प्रमुख साधन था। यही नहीं, संगीतज्ञ की योग्यता भी उसके वीणावादन-पटुत्व से आँकी जाती थी। राजा ब्रह्मदत्त के सम्मुख, संगीतज्ञों की श्रेष्ठता निर्णीत करने के लिये, वीणावादन प्रतियोगिता ही हुई थी।[२७] इसी जातक कथा से हमें वीणा के एक तार का शास्त्रीय नाम 'भमरतंती या भ्रमरतंत्री' भी ज्ञात होता है।[२८] मिलिंदप्रश्न में एक स्थल पर यह समझाने के लिये कि सदैव उन्हीं वस्तुओं की उत्पत्ति होती है जिनकी स्थिति

२३—द्रष्टव्य 'हार्प' का वर्णन, इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका।

२४—एन० चेंगलवरायन, 'म्यूजिक ऐंड म्यूजिकल इंस्ट्रुमेंट्स ऑव एंशंट तामिल', जर्नल ऑव द मीथिक सोसायटी, भाग २६ संख्या १ (न्यूसीरीज), पृ० ८४

२५—द्रष्ट० पा० टि० २२

२६—लाट्यायन श्रौतसूत्र, ४।२।८

२७—जातक सं० २४३

२८—वही, 'बोधिसत्तो भमरतंती छिंदि'''।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रवाह पहले से चला आता है, नागार्जुन ने वीणा की उपमा का उपयोग किया है।[२९] वहाँ हमें वीणा के अंगों का उल्लेख मिलता है। अन्य स्थलों पर मिलने-वाले उल्लेखों की सहायता से हमें वीणाओं का निम्नांकित ज्ञान मिलता है—[३०]

द्रोणी, अंभण या भांड—वीणा का तूंबा।

चर्म—तूंबे पर कसा जाने वाला चमड़ा।

छिद्र—तूंबे पर तारों को पिरोने के लिये किए गए छेद।

दंड—वीणादंड।

कोण—वीणा-वादन का उपकरण। यह एक पतला आयताकार लकड़ी का टुकड़ा होता है जिसे अंगुष्ठ और तर्जनी के बीच पकड़कर उससे वीणा के तारों में झंकार उत्पन्न की जाती है। आवश्यकता पड़ने पर वीणा-दंड पर भी कोण द्वारा आघात कर शब्द उत्पन्न किया जाता था।[३१] भरहुत के स्तूप पर एक चित्र में कोण का स्पष्ट दर्शन होता है।[३२]

पट्ट—घुरुच या घोड़ी (ब्रिज)।

शिर—वीणा-दंड का ऊपरी भाग।

तंत, तंती या तंत्री—वीणा के तार।[३३]

२९—मिलिंदप्रश्न ५३।

३०—ए० कुमारस्वामी 'द पार्ट्स ऑव वीना', जर्नल ऑव दि अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी, १९३१, पृ० २४४-२५३

३१—वही।

३२—बरुआ, 'भरहुत', भाग ३, फ० ३९।

३३—प्राचीन वीणा में आजकल-जैसे धातुनिर्मित तार नहीं बाँधे जाते थे। हम देख आए हैं कि वेद-काल में इस कार्य के लिये दर्भ या मूँज का प्रयोग होता था। आगे चलकर रेशम की डोरियाँ, बाल इत्यादि भी काम में लाए जाने लगे। यथा—

केशांत निर्मिता पट्टमयी सूत्रकृताथवा।
समा सूक्ष्मा दृढा तत्र तंत्री देया विचक्षणैः॥

ध्यान देने की बात यह है कि मुसलमानों के प्राचीनतम वाद्य 'रबाब' में भी तार के स्थल पर बारीक रेशमी डोरी ही काम में लाई जाती थी।

इसके सिवा ताँत का भी प्रयोग सर्वमान्य था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त वर्णन प्राचीन धनुर्वीणा की ही पुष्टि करता है। यह जातककालीन वीणा भी भरहुत तथा अन्य स्थलों में प्रदर्शित वीणा के ही समान होती थी।[३४] हाथियों को मोहित करने के लिये जिस वीणा का प्रयोग किया जाता था उसे हत्थिकंथ वीणा कहते थे।[३५]

जैन आचारांग सूत्र में, जो जैनियों के एकादश अंगों में सबसे पुराना माना जाता है (वि० पू० २५०), तंतुवाद्य के वीणा, विपंची, वद्धिसक, तुणक और तुंबवीणा या धंकुण—ये नाम मिलते हैं।[३६] परंतु इनका निश्चित स्वरूप नहीं जाना जा सकता।

रामायण में भी हमें वीणा का उल्लेख मिलता है।[३७] उसमें वीणाएँ संभवतः दो प्रकार की होती थीं--एक तो छः तारवाली और दूसरी सात तार वाली। संगीत में वीणा का उपयोग 'साथ' के लिये भी किया जाता था।

पुराण-काल के देवगण[३८] में ऐसे बहुत से देव हैं जो अपनी वीणा के कारण प्रसिद्ध हैं; जैसे सरस्वती, नारद, शिव इत्यादि। इनकी वीणाएँ भी भिन्न भिन्न मानी गई हैं; यथा--

शिव--लंबी या रुद्रवीणा	सरस्वती--कच्छपी
नारद--महती	गण--प्रभावती
विश्वावसु--बृहती	तुंबरु--कलावती

इसके अतिरिक्त चांडालों की चांडाल या कंडोल वीणा भी बतलाई गई है। हेमचंद्र ने भी वीणा के भिन्न भिन्न अंगों के नाम दिए हैं। इनमें और मिलिंद-प्रश्न की नामावली में, जहाँ तक लेखक का अनुमान है, केवल नाम-भेद है, वस्तु-भेद नहीं। हेमचंद्र के दिए हुए नाम ये हैं--

कोलंबक—वीणा का ढाँचा (फ्रेम)
उपनाह—तारों का निबंधन या खूँटी

३४—रतिलाल मेहता, प्री बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० ३१४।
३५—जातक सं० ५४५।
३६—जैकोबी, इंट्रोडक्शन टु दि आचारांग सुत्त, पृ० ४२
३७—इंडियन कल्चर, भाग ४ (जुलाई-अप्रैल १९३७-३८), पृ० ४५०।
३८—शब्दकल्पद्रुम, भाग ४ पृ०, ४६९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रांतवक्रकाष्ठ—दंड या घुरुच (?), यहाँ 'वक्र' शब्द ध्यान देने योग्य है।

मूल—तूंबे के अंतिम भाग पर बँधा हुआ वह छोटा सा टुकड़ा जिसके कारण वीणा के तार कसे हुए रहते हैं।

कलिका, कूणिका या वादन—कोण।

इसी प्रकार, विभिन्न देवताओं की भिन्न भिन्न वीणाओं के विषय में भी हम निश्चित ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि केवल नामोल्लेख से वस्तु-वर्णन पूर्ण नहीं हो पाता ; तथापि सरस्वती की 'कच्छपी' वीणा के संबंध में विद्वानों ने विभिन्न अनुमान किए हैं। कुछ विद्वान् कच्छपी वीणा को एक भिन्न प्रकार का तंतुवाद्य मानते हैं जिसका अस्तित्व अब भी जावा में है। इस वाद्य में पाँच तार हुआ करते थे। प्राचीन मिस्र में भी इसी प्रकार का एक वाद्य प्रचलित था।[३९]

उपर्युक्त भेदों के सिवा शब्दकल्पद्रुम[४०] हमें कुछ और भी वीणाओं के नाम बतलाता है ; जैसे विपंची, वल्लकी, सात तारोंवाली ध्वनिमाला, परिवादिनी, वंगमल्ली, विपंचिका इत्यादि। संगीतशास्त्र के उपलब्ध ग्रंथों में संगीतदर्पण (वि० सं० दसवीं शती) में कुछ अधिक भेदों का उल्लेख मिलता है।[४१] वे ये हैं—

अलावणी ब्रह्मवीणा किन्नरी लघुकिन्नरी।
विपञ्ची वल्लकी ज्येष्ठा, चित्रा ज्योषवती तथा॥
हस्तिका कूब्जिका कूर्मी शारंगी परिवादिनी।
त्रिशवी शतचन्द्री च नकुलौष्ठी च ढंसवी॥
औडंबरी पिणाकी च ....इत्यादि।❀

३९—शिवराममूर्ति, अमरावती स्कल्पचर्स, पृ० १४५
४०—शब्दकल्पद्रुम, भाग ४, पृ० ३३१
४१—दामोदर, संगीतदर्पण।

❀ रागकल्पद्रुम में इस विषय के उद्धरण इस प्रकार है—

सङ्गीतदर्पणे—

आलावणी ब्रह्मवीणा किन्नरीति निगद्यते॥
विपञ्ची वल्लकी ज्येष्ठा चित्रा घोषवती जया।
हस्तिका कुब्जिका कूर्मा सारङ्गी परिवादिनी॥
त्रिशरी शततन्त्री च नकुलोष्टी च वंसरी।
औडंबरी पिणाकी च निबन्धपुष्कलस्तथा॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संगीतदर्पण दसवीं शताब्दी का ग्रंथ है। अतएव उसके लेखक ने प्राचीन काल से अपने काल तक जितनी भी प्रकार की वीणाएँ ज्ञात थीं उन सबके नाम गिना दिए हैं। उनमें प्राचीन धनुर्वीणा (पिनाकी) का भी नाम है और आधुनिक काल में प्रचलित 'सुरमंडल' का भी। इस उल्लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि दसवीं शताब्दी तक धनुर्वीणा भारत में प्रचलित थी। अब रही वीणा के अन्य प्रकारों की बात। इसके विषय में यह अनुमान है कि कुछ वीणाएँ, जैसे *कपिशीर्षा, नकुलोष्ठी, हस्तिका इत्यादि अपने आकार-भेद के कारण तथा अन्य संभवतः वादन-पद्धति तथा स्वर-समूह की भिन्नता के कारण, एक दूसरे से भिन्न मानी जाती थीं। इस प्रकार के वीणा-भेद प्रचलित अवश्य थे। कालिदास ने भी इनमें से परिवादिनी और वल्लभी, दो का उल्लेख अपने ग्रंथों में किया है।[४२] संस्कृत साहित्य में वीणा के उल्लेख प्रचुरता से मिलते हैं। उनके आधार पर हम निम्नांकित बातें जान सकते हैं। वीणा पर कहीं कहीं सुवर्ण से पच्चीकारी का काम किया जाता था[४३] और उसे सर्वांगसुंदर बनाने का प्रयास किया जाता था। वीणा को गोद में रखकर बजाया जाता था।[४४] यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि कला में भी यद्यपि वीणा का अधिकतर अंक में रखकर बजाया जाना ही दर्शित कराया गया है तथापि कहीं कहीं खड़े होकर भी वीणा-वादन करनेवाली मूर्तियाँ हम पाते हैं।[४५] दूसरी अवस्था में धनुर्वीणाधारी कम दिखलाई पड़ते हैं, सरल दंडवाली वीणाओं के वादक अधिक। साहित्य से भी इस बात का प्रमाण मिलता है कि वीणा का प्रयोग नृत्य में बहुधा होता था।[४६]

---

*सङ्गीतरत्नाकरे—

वीणाघोषवती चित्रा विपञ्ची परिवादिनी।
वल्लकी कुब्जिका ज्येष्ठा नकुलोष्ठी च किन्नरी॥
जया कूर्मी पिनाकी च हस्तिका शततन्त्रिका।
औदम्बरी च पट्कर्णी पीनो रावणहस्तकः॥
सारङ्ग्यालापिनीत्यादेः कुतपास्तत्तवादकाः।

—संपा॰

४२—कालिदास, रघुवंश, ५।२३, ८।३५; ऋतु सं०, १।८
४३—अश्वघोष, बुद्धचरित, ५।४८
४४—कालिदास, मेघदूत, ९१
४५—शिवराममूर्ति, अमरावती०, प्लेट १३, आकृति १।
४६—हेमचंद्र, कुमारपालचरित, २।६९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ तक उत्तर भारत में प्राचीन काल में प्रचलित वीणा के ऐतिहासिक विकास का संक्षिप्त विवेचन पूर्ण हुआ। दक्षिण भारत में भी वीणा का विकास अत्यंत मनोरंजक ढंग से हुआ है, उसका विवेचन भविष्य में किसी समय किया जायगा।[४७]

४७—मैं श्री बी० एस० सिथोले, लखनऊ तथा भातखंडे संगीत-विद्यालय के अध्यक्ष श्री रातंजनकर का चिरऋणी हूँ जिन्होंने यह लेख तैयार करने में समय समय पर मुझे अमूल्य परामर्श दिया। —लेखक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेजी भाषा की व्युत्पत्ति

[श्री नारायण पांडुरंग गुणे]

प्रास्ताविक

इस लेख में भाषाशास्त्र की दृष्टि से अंग्रजी भाषा की उत्पत्ति, व्युत्पत्ति और आर्य (आर्यन्), हिंदी और मराठी भाषा के साथ उसके संबंध पर विचार किया जायगा। अंग्रेजी का साम्राज्य समाप्त होने के साथ साथ हमारी बुद्धि पर आज दिन तक रहा हुआ उसका प्रभुत्व भी हट गया है; अब हम उस भाषा और उसके समृद्ध साहित्य के विषय में स्वतंत्र रीति से, तटस्थ होकर अपने विचार प्रकट कर सकते हैं। अपनी देशभाषाओं के साथ स्वतंत्र रीति से उसका तुलनात्मक अभ्यास कई दृष्टियों से उपयोगी होगा। अब 'सिंहिनी का दूध' आदि गौरवयुक्त विशेषणों द्वारा उसकी प्रशंसा करने की कोई आवश्यकता नहीं है; फिर भी संसार की एक श्रेष्ठ भाषा होने के नाते उसका शास्त्रीय दृष्टि से ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। यदि उसके विषय में हमारे कुतूहल का उपशम हो गया तो बौद्धिक दृष्टिकोण से हमारी कुछ न कुछ तो हानि होगी ही। शास्त्रीय जिज्ञासा अखंड मानसिक युवावस्था का प्रतीक है।

अंग्रेजी भाषा श्रीयुक्त है। उसका शब्द-कोश विशाल है। पृथ्वी के एक विस्तृत भाग पर उसका आधिपत्य है। किंतु उसकी श्रेष्ठता केवल भौगोलिक परिसीमा पर स्थित नहीं है; उसकी आंतरिक श्रेष्ठता भी अपना महत्त्व रखती है। यह सब उस भाषा ने कहाँ से पाया ? क्या इसके लिये केवल राजनीतिक परिस्थिति ही उत्तरदायी है ? या और भी कोई कारण है ? इन बातों पर यदि पूर्वग्रह छोड़ कर सम दृष्टि से विचार किया जाय तो हमें देशभाषा को समृद्ध बनाने का मार्ग मिल सकता है।

जागतिक और अंतर्राष्ट्रीय भाषा

हिसाब लगाया गया है कि युद्ध-पूर्व काल में जागतिक पत्र व्यवहार के पचास प्रतिशत पत्र अंग्रेजी में लिखे जाते थे। शेष पचास प्रतिशत में अन्य सब भाषाएँ थीं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि अंग्रेजी भाषा संप्रति केवल अंग्रेजों की जी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं रह गई है। वह विश्व के अधिकांश लोगों के व्यापारिक और राजनीतिक व्यवहार की भाषा है। संसार में ऐसी कई प्रभावशाली भाषाएँ हैं जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार की भाषा बनने का श्रेय प्राप्त हो चुका है। प्राचीन काल में सुमेरी (सुमेरियन) भाषा इस प्रकार की जागतिक भाषा थी। उस काल के सैनिक, व्यापारिक और राजनीतिक व्यवहार की भाषा यही थी। इतना ही नहीं, अब इस बात का भी प्रमाण मिल चुका है कि आर्यों ने भी उस भाषा की चित्रलिपि अपनाई थी।

मध्य-पूर्व में 'बोघासाकी' में जो ऐतिहासिक महत्त्व के लेख पाए गए हैं उनसे भी इस कथन की पुष्टि होती है। उस काल की प्रमुख घटना है 'हिट्टाइट' नामक आर्यों द्वारा राज्य-संस्थापन का प्रयत्न। उन लोगों ने ही सर्वप्रथम शिक्षा द्वारा जंगली घोड़ों को युद्ध के उपयुक्त बनाने का शास्त्र बनाया। यही शास्त्र आगे चल कर इतिहास में अश्वविद्या कहलाया। यह शास्त्र आज आर्य भाषा में किंतु सुमेरी लिपि में लिखा हुआ उपलब्ध है। सुमेरी के बाद रोमनों की लैटिन भाषा, कम से कम यूरप के लिये, अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक भाषा बनी। शताब्दियों तक वहाँ राज-काज में उसका व्यवहार होता रहा। मध्य युग में व्यावहारिक भाषा का स्थान लैटिन की कन्या फ्रेंच ने लिया। फ्रेंच भाषा कुछ कुछ पैनी है, इसलिये उसमें विचार स्पष्टता और निःसंदिग्धता के साथ प्रकट कर सकने की सुविधा अन्य कई भाषाओं की अपेक्षा कुछ अधिक है। अतः राज्य-विधान, नियम और व्यवस्था तथा भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के बीच के राजनीतिक संबंध एवं अन्य संकेतों की भाषा फ्रेंच बनी और वह अठारहवीं शती के अंत तक बनी रही। फ्रेंच समालोचक कहते थे—'अंग्रेजों का राष्ट्र दूकानदारों का राष्ट्र है, उनकी संस्कृति कमजोर और घटिया है, उनकी भाषा भी ठीक उसी प्रकार की है।' नेपोलियन बोनापार्ट सदर्प अंग्रेजों को दूकानदारों का, बनियों का राष्ट्र कहता और फ्रांस की तुलना में उनको सदा नीचा बताता था, यह बात सर्वश्रुत है। बीसवीं शती के पिछले दो महायुद्धों के बाद इस अवस्था में पूर्णतया परिवर्तन हो गया। अंग्रेजी और फ्रेंच की प्रतियोगिता में फ्रेंच पिछड़ गई और अंग्रेजी की प्रगति जारी रही।

यूरप में अनेक भाषाएँ हैं जिनके अपने अपने विशेष गुण धर्म हैं। सभी भाषाएँ एक सी व्यवहृत नहीं हो सकतीं। कई भाषाओं की जानकारी रखनेवालों के लिये भाषाओं के गुण-धर्म की विभिन्नता जान लेना कठिन नहीं है। उदाहरणार्थ, संगीत और कला में इताली, तत्त्वज्ञान और शास्त्र-संशोधन में जर्मन, तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानसशास्त्र, आलोचना और तर्कशास्त्र में फ्रेंच आदि भाषाएँ अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं रखतीं। फ्रेंच भाषा में व्यंजन मृदु और उच्चारण लयबद्ध होते हैं, इसलिये मानवी बुद्धि के साथ नर्तन करना उसके लिये सहज है। इसके विपरीत जर्मन भाषा है जो स्वभावत: स्थूल है। उसके व्यंजन कठोर होने के कारण तत्त्वज्ञान और युद्धशास्त्र के लिये वह अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई है। अंग्रेजी भाषा में न तो फ्रेंच भाषा का सा स्वरमाधुर्य और मृदु व्यंजनयुक्त शब्द-लालित्य है, और न तो ग्रीक या संस्कृत का सा माधुर्य और लालित्य का अभिजात संगम। ग्रीक और संस्कृत लोक और परलोक की भाषाएँ हैं। उनकी तुलना में अंग्रेजी भाषा ऐहिक व्यवहार के लिये उपयुक्त और जड़त्वयुक्त भाषा है। उसके स्वर मिश्र और व्यंजन कठोर हैं और उसमें 'स्' का शब्द अधिकतर सुना जाता है। 'स्' कार की अंग्रेजी में इतनी अधिकता है कि उसकी समता सर्प के फूत्कार से की जाती है। इस 'स्' कार ने ही उसका माधुर्य नष्ट किया है। किंतु अंग्रेजी में स्वराघात होने से वह कुछ परिमाण में गरिमायुक्त अवश्य कही जा सकती है। स्पेनी भाषा में यह बात नहीं पाई जाती। उसमें आघात का अभाव और स्वर ह्रस्व और तीव्र होने के कारण वह सुननेवालों के कान के पर्दे पर ग्रामोफोन की सूई सी टकराती हुई मालूम होती है। भाषा में घर्षण नहीं होना चाहिए। उर्दू 'खे' का उच्चारण अधिक लोकप्रिय नहीं हो सकता, क्योंकि वह भी कान में खटकता है। चीनी भाषा का प्रत्येक शब्द व्याकरण और उच्चारण की दृष्टि से स्वयं पूर्ण होता है। दो चीनी मनुष्यों की बातचीत सुनते ही या तो चिड़ियों की चहचहाहट की याद आती है या किसी सितार के सधे हुए तार पर उछलकर पड़नेवाले कपूर के गेंद के शब्द की। ग्रीक और संस्कृत में पाए जानेवाले संगीत का अर्वाचीन भाषाओं में अभाव ही है। संपर्क में आनेवाली अन्य भाषाओं से उपयुक्त बातों का स्वीकार करने की अपनी प्रकृति के कारण अंग्रेजी का स्थान भाषा तत्त्वविदों की दृष्टि में बहुत ऊँचा है। विश्व के रंगमंच पर उसका अवतरण अभी नया-नया है। शास्त्रीय दृष्टि से उसकी परीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह न तो एकात्म है न स्वयंभू। वह परपुष्ट, परजीवी भाषा है। उसकी समृद्धि मँगनी की पोशाक है। उसकी सर्वभक्षकता प्रसिद्ध है। यदि हँसी ही उड़ानी हो तो हम कह सकते हैं कि अंग्रेजी भाषा अंग्रजों की नहीं, जर्मनों की है। किंतु इस हँसी में ऐतिहासिक सत्य का अंश भी कम नहीं है।

अंग्रेजी भाषा रूपी महानदी के उद्गम-स्थान की खोज करने का 'अव्यापारेषु व्यापार' करना चाहें तो हम किसी ऋषि के पास पहुँच जायँगे। रूपक हटाकर कहें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो अंग्रेजी भाषा का मूल स्थान आर्य भाषा की एक यूरोपीय उपशाखा जर्मन या पुरानी जर्मन भाषा में पाया जायगा। अंग्रेजी भाषा का आर्य भाषा से जो निकट संबंध है उसे समझने के लिये बड़े बड़े ग्रंथों की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं, केवल 'ऑक्सफर्ड डिक्शनरी' पर एक दृष्टिपात करना उसके लिये पर्याप्त है। अंग्रेजी 'फ्री' शब्द की व्युत्पत्ति इसमें आर्य 'प्री' शब्द से प्राप्त हुई देखी जाती है। इसमें एक बड़े सिद्धांत का भी अंतर्भाव हुआ है। आर्य 'प्री' धातु से संस्कृत 'प्रेमन्' का निर्माण हुआ, और अंग्रेजी 'फ्रीडम' व्युत्पत्ति शास्त्र की दृष्टि से संस्कृत का प्रेमन् ही तो है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के, दूसरों के साथ होनेवाले मेल-जोल और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार का अर्थ अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? आर्य भाषा ने केवल इस एक शब्द में संसार को कैसा मूल्यवान् उपहार दिया है! किंतु दुःख की बात है कि यह जानने के लिये आजतक हमें अंग्रेजी की सहायता लेनी पड़ी और हम समझने लगे कि 'प्रेमन्' के साथ राजनीति चलाना हमने केवल अंग्रेजों से सीखा, 'फ्रीडम' हमें अंग्रेजों ने दी।

कुछ इतिहास

पिछले २०० वर्षों से हमें बताया जा रहा है कि भारत की तरह इंग्लैंड पर दूसरे राष्ट्रों द्वारा आक्रमण नहीं हुआ, पर यह बात मिथ्या है। इंग्लैंड पर लगातार ५००-६०० वर्षों तक बाहरी आक्रमण होते रहे। इन आक्रमणों में आर्य जाति के बहुत से कुलों ने भाग लिया और उनको विजय भी मिली। ये जत्थे जर्मनी में निवास करनेवाले आर्यों के थे। इन्होंने इंग्लैंड के आदिम निवासियों को देश के एक कोने में ढकेल दिया और उस देश पर अधिकार कर वहाँ बसना आरंभ कर दिया।

ये आक्रामक ट्यूटॉनिक जाति के थे। उनकी भाषा ट्यूटॉनिक ने उस काल में उदीच्य सागर के चारों ओर अपना प्रभुत्व जमाया था। इसी भाषा से आगे चलकर जर्मन, डच, फ्रिजियन, अंग्रेजी आदि भाषाओं की उत्पत्ति हुई। कई विद्वानों के मतानुसार ट्यूटॉनिक लोगों की भाषा और जाति आर्य है। आर्य, ट्यूटॉनिक और जर्मन तथा अंग्रेजी भाषा की तुलना की तालिका यह है:

(१) इन भाषाओं की वर्णमालाएँ (स्वर और व्यंजन), कुछ निश्चित अपवादों को छोड़कर, समान हैं। उनका अरबी या अन्य सभी (सेमेटिक) भाषाओं से कोई मेल नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) इन भाषाओं के संबंधकारक के प्रत्यय एक से हैं।

उदाहरण—संस्कृत अस्—स्य; ट्यूटॉनिक और अंग्रेजी स्, इस्, 'स् (s, es, 's)।

(३) क्रिया के मध्यमपुरुष एकवचन रूप समान हैं।

उदाहरण—संस्कृत स्थ; ट्यूटॉनिक और अंग्रेजी स्ट (st); 'सिंगेस्ट' (singest)=तुम गाते हो।

(४) कृदंत के भूतकालिक प्रत्यय समान हैं।

उदाहरण—संस्कृत आन; ट्यू० और अंग्रेजी अन्, बीट्—बीटन् (Beat-Beaten)।

(५) बहुत से शब्दों में भी साम्य है। उदाहरण—

सं०	अं०	सं०	अं०
चक्र	सायकल (Cycle)	धा	डू (Do)
प्री	फ्री (Free)	कन्या	हेन् (Hen)
पशु	पिक्यूनियरी (Pecuniary)	मृत, हिं० मरना	मर्डर (Murder)
नभस्	नेब्युलस (Nebulous)	दाघ	डाएग् डे (Daeg, day)
लुभ्	लव (Love)	जुष्	चूज़ (Choose)
ऊर्णा	वूल (Wool)	बन्ध्	बाइंड (Bind)
ऊर्णवाभ	वेब् (Web)	मधु	मीड (Meed)
दुहितृ	डॉ (घ्) टर (Daughter)	विद्	विट्, विटान् (Wit, Witan)
सद्	सिट् (Sit)		
पूर्ण (फुल्ल)	फुल (Full)	भर्	बार्न (Barn)

यह तालिका केवल उदाहरण के लिये है, यों ऐसे शब्दों की संख्या अगण्य है। उपर्युक्त तालिका और अन्य बातों पर ध्यान देने से संस्कृत और अंग्रेजी का संबंध क्या है और वह किस प्रकार हुआ, यह स्पष्ट हो जाता है। ट्यूटॉनिक भाषा दोनों के बीच का सूत्र है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईसा की छठीं शताब्दी में इंग्लैंड में बसनेवाले ट्यूटॉनिक लोग सूर्य (सन), चन्द्रमस् (मून), थॉर् तथा बुध (वोडेन) आदि देवताओं के उपासक थे। वे लोग धीर, उदार और वीर योद्धा थे। उनको समुद्रपर्यटन बहुत प्रिय था। वे गौर वर्ण के और लंबे-चौड़े होते थे। उनकी मनोवृत्ति और स्वभाव वीरोचित था। शौर्य गुण सबसे बड़ा गुण माना जाता था। इसलिये उनकी स्वर्ग की कल्पनाएँ भी वीरों के योग्य थीं। उसमें प्रेमन् (फ्रीडम) की प्रमुखता होने पर भी शृंगार का अवडंबर नहीं है। उनके स्वर्ग के चित्र में धारातीर्थ में प्राणार्पण करनेवाले वीर (Wiros) पराभूत शत्रु के मस्तिष्क से बनाए हुए सुधाचषक (या कलष—Chalice) में अमृततुल्य मदिरा का सेवन करते हुए दिखाए गए थे। थॉर् (Thor) उनका इंद्र है। वह किसानों का देवता है। थर्सडे (Thor's-day—Thursday) उसका दिन है और मेघों की गर्जना उसका शस्त्र। वेन्स्डे का अर्थ है वोडेन का दिन—बुध का दिन।

किंतु इंग्लैंड पर होनेवाले आक्रमणों का इतिहास यहीं समाप्त नहीं होता। यह बात सर्वश्रुत है कि जुलियस सीजर ने भी उस देश पर आक्रमण किया और उसको रोमन साम्राज्य का एक प्रांत बनाया। ब्रिटेन पर अंतिम आक्रमण हुआ विजयी विलियम का, जो नॉर्मंडी का ड्यूक या नवाब था। इन दोनों आक्रमणों के फलस्वरूप अंग्रेजी में फ्रेंच और लैटिन शब्दों ने प्रवेश किया।

अभ्यासकों की सुविधा के लिये इस इतिहास को कई कालखंडों में विभाजित किया गया है। प्रथम कालखंड को *पुरानी अंग्रेजी* का और द्वितीय को *अर्वाचीन अंग्रेजी* का कालखंड कहा जाता है। पुरानी अंग्रेजी (Anglo-Saxon = Old English) शुद्ध, स्वयंभू, संहित और प्रत्ययसुलभ है। इसमें समास पाए जाते हैं और इसका स्वरूप संस्कृत ही का सा है। अर्वाचीन अंग्रेजी ने प्रत्ययों का त्याग कर दिया है और वह व्यवहित बन गई है। अर्वाचीन अंग्रेजी का एक विशेष गुण है उसकी सर्वभक्षकता। पानी का शोषण करनेवाले स्पंज के समान इस भाषा ने अन्य भाषाओं के पूरे शब्द-समूह आत्मसात् किए और इस प्रकार अपनी शब्द-संपत्ति बढ़ाई। संसार में शायद ही कोई भाषा ऐसी हो जिससे अंग्रेजी ने एक भी शब्द न लिया हो। उसने मानव-जीवन के किसी भी क्षेत्र को अछूता नहीं छोड़ा। इसलिये पिछली तीन शताब्दियों में अंग्रेजी भाषा का विस्तार क्रमशः बढ़ता रहा है। हारूँरशीद के 'जादुई डेरे' के समान वह छोटे और कम महत्त्व के विषयों के लिये जितनी चलती-फिरती है, उतनी ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्त्वपूर्ण और गंभीर विषयों के लिये उदात्त और विशाल। योग्य शब्द किसी भी भाषा से लिए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ चाकलेट (Chocolate) शब्द को लीजिए। वह विलासिनी स्त्रियों को बहुत ही पसंद आनेवाली एक मिठाई है। किंतु उसका वाचक यह चाकलेट शब्द मेक्सिको की आदिम विलासिनियों के शब्दकोश से पहले फ्रांसवालों ने लिया और उनके यहाँ से अंग्रेजी में आकर जम गया। ब्रिटेन के भूतपूर्व रणमंत्री विंस्टन चर्चिल के मुँह में सर्वदा विराजनेवाले 'चिरुट' की उत्पत्ति तामिल के 'शुरुट्टु' (=तमाकू के पत्तों में लपेटी हुई चीज) से हुई। इस प्रकार अंग्रेजी ने अन्य भाषाओं से सैकड़ों शब्द लेकर अपनी शब्द-संपत्ति में वृद्धि की।

फिर भी अंग्रेज अपनी भाषा से बहुत प्रेम करते हैं। उनके यहाँ के बड़े बड़े विद्वान् भाषा-शुद्धि की ओर काफी ध्यान देते हैं। शुद्ध अंग्रेजी भाषा में ऐंग्लो-सैक्सन भाषा और उसके शब्दों का ही व्यवहार किया जाता है। बारीकी से देखने पर मालूम हो जायगा कि अंग्रेजी के सब सर्वनाम शुद्ध हैं। उपसर्ग, शब्दयोगी अव्यय, कालदर्शक क्रियाएँ और अपश्रुति के नियमानुसार बननेवाले विशेषण शुद्ध ही हैं। कई संज्ञाएँ और क्रियाएँ परकीय—फ्रेंच, जर्मन, इटैलियन, लैटिन, ग्रीक—भाषाओं से ली गई हैं। फिर भी नित्य के सामान्य व्यवहार में खेती के काम में आनेवाले पशुओं और औजारों के लिये शुद्ध अंग्रेजी शब्दों का ही प्रयोग किया जाता है। शुद्ध अंग्रेजी शब्दों की पहचान है उनका एकस्वरी और उच्चारण-सुलभ स्वरूप। एक से अधिक स्वरवाले और उच्चारण-क्रिया में एक मात्रा से अधिक काल की अपेक्षा रखनेवाले शब्द सरलता से परकीय कहे जा सकते हैं।

अंग्रेजी भाषा पर लैटिन भाषा का भी बहुत प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव का काल दो खंडों में विभाजित होता है। पहले खंड में लैटिन से राजनीति, सेना और कानून में व्यवहृत किए जानेवाले शब्द तथा गुरुता वा गांभीर्य वाचक शब्द आत्मसात् किए गए और दूसरे में धर्म, भक्तिमार्ग और अध्यात्म के। प्रथम खंड सीजर के रोमन साम्राज्य का काल है और द्वितीय संत आगस्टाइन का।

संत आगस्टाइन ब्रिटेन में ईसाई धर्म का प्रसार करना चाहता था। उसने राजा एथेलबर्ट को ईसाई धर्म की दीक्षा दी। इसी काल में सेंट (=लैटिन Sanctus), चैलिस (Chalice = कलश = चषक = लैटिन Calix) और 'ख्रिस्तमस्' के मस् (Mas L. Missal = I go) आदि शब्दों ने अंग्रेजी में स्थान पाया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जित और जेता

अंग्रेजी में सामान्यतः पशुओं के नाम ऐंग्लो-सैक्सन से लिए गए हैं। उदा०-बुल्, काउ (सं० गौः), डीअर (Deer), ऑक्स (उक्षन्)। किंतु मांस से बनी हुई मसालेदार और स्वादु वस्तुओं तथा मिठाइयों के नाम नॉर्मन-फ्रेंच भाषा से लिए गए हैं—

बुल (O. E. Bull)	बीफ् (N. F. Beef)
डीअर (Deer)	वेनिज़न् (Venison)
स्वाइन् (Swine)	पोर्क (Pork)

इस बात से हम पता लगा सकते हैं कि नार्मन राज्यकाल में जित सैक्सन प्रजाजनों के हिस्से में कृषि और पशुपालन आया, जेता नॉर्मन वैभव-निदर्शक मिठाइयों के भागी बने। सपर, डिनर, लंच, फीस्ट (Supper, Dinner, Lunch, Feast), इन शब्दों की उत्पत्ति नॉर्मन् और फ्रेंच भाषा से हुई है। उस काल में प्रजा के भाग्य में अधभूखा रहना ही बदा होने से अर्धाशन का द्योतक ब्रेकफास्ट् (Break-fast) उनकी भाषा में से अंग्रेजी में आया।

नॉर्मन लोगों ने राजनीतिक और सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन किया। सैक्सन भाषा पिछड़ गई। सैक्सन भाषा के केवल 'किंग' (=राजा) और 'क्वीन' (=रानी) शब्द बच गए। किंतु सेना, राजनीति और धर्म-व्यवस्था के काम में आनेवाले शब्द नॉर्मन से लिए गए। 'थीऑड' (=लोक) शब्द के स्थान पर 'पीप्ल्' शब्द आया। इसी प्रकार 'गुथ' (आर्य 'युध्') के स्थान पर वार् (war) शब्द आया। न्याय और कानून में प्रयुक्त होनेवाले अन्य शब्द फ्रेंच हैं। यथा, जज (judge), जस्टिस (justice), ज्यूरी (jury), अस्साइज़ (assize), मैरेज (marriage)। कौन कह सकता है कि नागरिक जीवन में हलचल का सस्ता साधन 'बस्' (bus) अंग्रज़ी, परिच्छद में संस्कृत संप्रदानकारक का अनेकवचन का रूप भ्यस् है (Omni + bus = सर्वे + भ्यः; Virgini + bus = कुमारियों को)?

अस्तु। नॉर्मनों के हिस्से में आए फल-फूल, और सैक्सनों के केवल घास और कटीली झाड़ियाँ। फिग (फल्गु), पेअर्, लिलि, ये लैटिन से आए हुए शब्द हैं; पर बेरी, गूज़बेरी और स्ट्रॉबेरी पुरानी अंग्रज़ी से आए हैं। ऑरेंज शब्द अरबी और फारसी का है। अमरकोश में उसको 'नागरङ्ग' कहा गया है। अरबी नारंज्, फारसी नारिंग, अंग्रेजी ऐन् ऑरेंज = अ नारंज।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्लेजर, डिलाइट्, जॉय् आदि शब्द नॉर्मनों के हैं। बेचारे सैक्सनों के लिये केवल आशा (होप) बच गई।

भाषा के मूल स्थान

क्षुधा, भावना और विचार, इन तीन रेखाओं से बने हुए किसी घन त्रिकोण की कल्पना की जाय तो यह स्पष्ट होता है कि अंग्रेजी भाषा की शब्द-संपत्ति तीन उद्गमों से आई है। देहकर्मानुसारी चित्तवृत्तियों और क्रियाओं-इच्छा, आकांक्षा, क्षुधा, तृष्णा आदि—और जड़ वस्तुजात के निर्देश के लिये ऐंग्लो-सैक्सन (Anglo. Saxon) शब्दों का व्यवहार किया जाता है। धर्मभावनाएँ हिब्रू में प्रकट की जाती है) संस्कृति और मनन अथवा बौद्धिक जीवन के लिये आवश्यक शब्द-संपत्ति ग्रीक भाषा से ली जाती है। कायदा-कानून और फैशन के शब्द लैटिन और फ्रेंच से लिए जाते हैं। अंग्रेजों के जीवन में डबलरोटी और अंडे का जो स्थान है वही उनकी भाषा में स्कैंडिनेवियन और जर्मन शब्दों का। अंग्रेज फूलता-फलता है तो स्कैंडिनेवियन शब्द में (Thrive); बीमार होता है तो उसी भाषा के शब्द में (ill) और मर जाता है तो भी है उसी भाषा के शब्द में (Die)!

ऑट्टो येस्परसन् नामक अंग्रेजी वैयाकरण भी डेनिश (Dane) है। संस्कृत में 'वस्त्र' (Lvest) और 'कर्पट' में जो भेद है वही अंग्रेजी में 'कॉस्ट्यूम' (Costume, Drapery) तथा 'क्लोदिंग' (Clothing) में। आंग्ल कवि चॉसर (Chaucer जिसको अर्वाचीन अंग्रेजी कविता का पिता कहते हैं) की रचनाओं में वस्त्रों के लिये आए हुए सब शब्द नॉर्मन-फ्रेंच के हैं। किसान, गड़रिए और गुलामों के वस्त्रों के लिये सैक्सन शब्दों का व्यवहार होता है (Thrall, Villein, Shepherd)। उच्च कला और विद्याओं के वाचक शब्द नॉर्मन-फ्रेंच हैं। उदा०—आर्ट (Art), कलर (Colour), ऑर्नमेंट (Ornament), ब्यूटी (Beauty)। महलों के 'आर्च' (Arch मेहराब) और 'पिलर' (Pillar स्तंभ) तथा वास्तुकला के विविध प्रकार के वाचक शब्द (Palace, Caster, Cloistor) भी अन्य भाषा के हैं। हलवाई, लोहार, चर्मकार, पशुपाल, मछुए आदि के घरेलू उद्योग तथा शिल्प के लिये पुराने अंग्रेजी (Old English) शब्द हैं, किंतु जिन कारीगरों का राज्यकर्त्ताओं से संबंध था उनको फ्रेंच नामाभिधान प्राप्त हुआ। जैसे—बेकर (Baker), मिलर (Miller), शू-मेकर (Shoemaker), टेलर (Tailor), बुचर (Butcher)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि अंग्रेजी और ट्यूटॉनिक भाषाएँ नॉर्मन और फ्रेंच भाषाओं से उपकृत हुई हैं फिर भी अंग्रेजी के साथ उनका संबंध दलाल का है। मूलतः ग्रीक और लैटिन शब्द इन भाषाओं द्वारा अंग्रेजी में आए। अंग्रेजी ने अपने प्रत्ययादि से इनका संस्कार कर इन्हें अपने परिचित रूपों में अपनाया। जिस प्रकार भारतीय दरजी द्वारा सिले हुए यूरोपीय पद्धति के कपड़े पहननेवाला व्यक्ति 'देशी साहब' कहलाता है उसी प्रकार ग्रीक शब्दों का रूप भी अँगरेजी संस्कार द्वारा पलट जाता है। भाषाओं के आदान-प्रदान में यह बात प्रायः होती ही है। मुहावरों, वाक्प्रचारों में भी परिवर्तन होता ही रहता है। उदाहरणार्थ, संस्कृत 'हस्तामलक' मराठी में 'हाथ का मेल' हो जाता है।

अंग्रेजी व्यवहित भाषा है

एक दृष्टि से *चीनी* और *अंग्रेजी* भाषा की समानता की जाती है। भाषा के दो भेदों—संहित (Synthetic or agglutinative) और व्यवहित (Analytical)—में से चीनी भाषा व्यवहित है और उसी के समान अंग्रेजी भी। येस्परसन ने अपने ग्रंथ में एक चीनी द्वारा किया हुआ जहाज का वर्णन दिया है जिससे व्यवहित भाषा का रूप सरलता से समझ में आ सकता है—

'थ्ली पीस् बाँबू, टू पीस् पफ् पफ्, वॉक् अलाँग् इनसाइड् नो कैन् सी।'

(Thlee piece bamboo, two piece puff puff, walk along inside, no can see.)

उपर्युक्त वर्णन में अंग्रेजी शब्दों के स्थान पर हिंदी शब्द रखने से दोनों के बीच का भेद स्पष्ट हो जाता है—

'तीन टुकड़े बांबू, दो भाग पफ् पफ्, चलो अंदर, और न सकता देख।'

कारक-प्रत्यय, क्रिया-प्रत्यय, वचन आदि के प्रयोग से बननेवाले सामान्य रूपों का बिल्कुल अभाव होने पर भी चीनी भाषा में अर्थाभिव्यक्ति हो सकती है। इसका दूसरा प्रमाण मुझे बंबई में ताजमहल होटल के पास साँप और नेवले का खेल दिखाकर पेट पालनेवाले सँपेरे की बोली से मिला है। दोनों के झगड़े में साँप बहुत घायल हो गया। ताजमहल के कक्षों से यह दृश्य देखनेवाली गौरांगनाओं ने उत्तेजनार्थ कई सिक्के नीचे डाले। सँपेरे ने उनको 'सलाम' किया और अपनी अंग्रेजी भाषा की जानकारी दिखाने के लिये कहने लगा—'अच्छा साब, थँक् यू, स्नेक पुट वाटर' ('क्या साँप को पानी में डाल दूँ'?)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भविष्य की भाषाएं

भाषा व्याकरण-शुद्ध होनी चाहिए, किंतु उसे व्याकरण के नियमों से बोझिल न बनाना चाहिए। उसके प्रवाह में रुकावट लाकर छोटे-मोटे गड्ढे बनाना ठीक नहीं। येस्परसन ने अपने ग्रंथों में लिखा है कि भाषा के व्यवहार में यदि तर्कशुद्धता और व्याकरण में संदेह हो तो तर्कशुद्धता को प्रथम स्थान देना चाहिए; 'व्याकरण के लिये व्याकरण' मानना ठीक नहीं है। आज के संसार की श्रेष्ठ भाषाओं की उत्क्रांति पर दृष्टि डालने पर यह कथन अनुचित तो नहीं प्रतीत होता। व्याकरण के लिये भाषा नहीं बनाई जाती, भाषा के लिये व्याकरण बनाया जाता है। विचार चलती हुई प्रवाहपूर्ण भाषा में व्यक्त किए जा सकते हैं। विचार-प्रवाह में बाधा डालनेवाला व्याकरण त्याज्य समझा जाना चाहिए। क्लिष्टता, अनियमित शब्दनिर्मिति और दुरूहता को हटाकर संसार की भाषाएँ सुलभता और तर्कशुद्धता की ओर वेग से प्रगति कर रही हैं।

जिन लोगों ने बच्चों को साबुन के पानी से बुद्बुद् बनाते हुए देखा होगा वे जानते होंगे कि उस खेल में दो प्रकार या विभाग हैं। प्रथम वह जिसमें नली द्वारा फूँकने से एक दूसरे से लगे हुए बहुतेरे रंगीन विविधाकार बुद्बुद् बनते हैं। ये बुद्बुद् गतिमान नहीं होते। द्वितीय, जिसमें बड़े बच्चे नली में छोटी-छोटी बूँदें लेकर धीरे धीरे फूँकते हैं; तब उससे तरह तरह के, अलग अलग हवा में तैरते हुए रंगीन गोले बन जाते हैं। शब्दों की अवस्था ठीक इन्हीं गोलों की सी है।

अर्वाचीन जगत् में भाषा और वाक्य-रचना में यही परिवर्तन होने से वह सुलभ बन रही है। क्लिष्ट और दुरूह गद्य साहित्य का भविष्य अंधकार में ही है। लंबे-लंबे वाक्य और समास-प्राचुर्य ने संस्कृत के गद्य साहित्य की कैसी बुरी दशा कर दी, यह कोई एंट्रेंस का विद्यार्थी भी जान सकता है।

भविष्य में सभ्य भाषाएँ अधिकाधिक सुलभ और व्यवहित बनेंगी। उन की गति मंदाक्रांता नहीं, द्रुतविलंबित होगी। सरलता से समझ में आनेवाले शब्द और छोटे छोटे, प्रायः जिनका उच्चारण एक साँस में हो सके ऐसे, वाक्य व्यवहृत किए जायँगे। सरल और एक स्वर युक्त शब्द जनसाधारण को अधिक प्रिय होने के कारण, इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रजातंत्र में ज्ञान-प्रसार के लिये उनका ही प्रयोग किया जायगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेघदूत—एक दृष्टि

[श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल]

इस संसार में मेघ को कौन नहीं जानता ? निर्जन अरण्य के एकांत नीड़ में बैठे हुए पक्षि-शावक से लेकर राज-राज कुबेर के अनुचर गुह्यकों तथा सिद्धों तक में मेघ के लिये स्वागत और सम्मान है। स्थूल और सूक्ष्म, दृश्य और अदृश्य, निरिंद्रिय और सेंद्रिय—सभी पदार्थ मेघ के आगम से प्रभावित होते हैं। कवि ने उसे *साधु*[1], *सौम्य*[2], *सुभग*[3] और *आयुष्मान्*[4] कहा है। मेघ का आशीर्वाद सबके लिये एक सा है। उसके प्रसाद में सब भाग पाते हैं। उसका संचय त्याग के लिये होता है। प्रजाओं का पालन करने से मेघ *प्रजापति* है। उसका यज्ञ-द्वार सबके लिये खुला है, उसके सर्वस्वदक्षिण वितरण से सब लोग पुष्ट होते हैं। नीलाभिराम विष्णुरूप मेघ वर्षाॠतु में जितना अधिक सौभाग्य धारण करता है, लोकों की लक्ष्मी उतनी ही अधिक संपन्न होती है। मेघ की आयु सृष्टिकल्प के समान सनातन है। प्रजाओं के उद्भव, स्थिति, संहार—तीनों में उसका भाग है। मेघ अमर ब्रह्मचारी[5] है, इसलिये पुरातन होते हुए भी वह नित्ययुवा है। प्रति संवत्सर में वह अपना कायाकल्प कर लेता है। इस प्रकार सौम्य-सुभग-साधु-आयुष्मान् मेघ को यक्ष ने प्रीतिप्रमुख वचनों[6] से जो बड़ाई दी है, वह सर्वथा उसके योग्य है। मेघ जीवन-जल को अपने अंदर बद्ध रखता है, इसलिये वह *जीमूत* है। मेघ-जल से ही वनस्पति-जगत् पुष्ट होकर प्राण या विश्वव्यापी जीवन-शक्ति को अपने भीतर संचित करता है। पय ही सब औषधियों का सारभूत

१—एभिः *साधो* हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथाः। मेघदूत २।१७
अर्थात् हे साधु मेघ, हृदय में रखे हुए इन लक्षणों से उसे जान लेना।

२—श्रोष्यत्यस्मात्परमवहितासौम्य सीमन्तिनीनां। मेघ० २।३७

३—सौभाग्यं ते *सुभग* विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती। मेघ० १।३९

४—तामायुष्मन् मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुम्। मेघ० २।३८

५—ब्रह्म नाम उदक का है (निघंटु १।१२)। उसके साथ विचरण करनेवाला मेघ ब्रह्मचारी है। ऋग्वेद में उषा को भी 'अमर्त्या पुराणी युवती' कहा है। ऋक् ३।६१

६—प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनैः स्वागतं व्याजहार। मेघ० १।४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रस है।[७] कृष्टपच्य और अकृष्टपच्य ओषधियाँ ही पशुओं का संवर्धन करती हैं। विराट् प्रकृति में मनुष्य भी एक अन्नाद पशु हैं। इसलिये जीमूत मेघ सब प्रजाओं का स्वामी है। वह जल का सर्वत्र वहन करता है इस कारण अंबुवाह या *वारिवाह* नामवाला है। जल का मेहन करने के कारण उसे *मेघ* कहते हैं।[८] सौदामिनी तड़ित् उसकी कलत्र है, इससे यह *तड़ित्वान्* है। अर्धनारीश्वर शिव के समान अपनी प्रिया को अंक में लिए हुए वह नित्य व्योमविहारिणी विद्युत् के साथ स्फुरण करता देश-देश में घूमता है। वृष्टि का कारण मेघ नहीं, विद्युत् है। वृष्टियज्ञ में विद्युत् का ही यजन किया जाता है, क्योंकि वही जल और अन्नादि देने का सामर्थ्य रखती है—

वृष्टिर्वैयाज्या विद्युदेव, विद्युत् हीदं वृष्टिमन्नाद्यं संप्रयच्छति। (ऐ० ब्रा० २।४१)

बिना लक्ष्मी के विष्णु और बिना पार्वती के शिव से किस कल्याण की आशा हो सकती है? मेघ की संज्ञा धूमयोनि भी है क्योंकि वह नित्य धूम से उपचित वपु[९] होता है। लिखा है—

अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिः। (शतपथ० ५।३।५।१७)

वायु के प्रहार को जो धैर्य से सहता है वही *घन* है। उसके अंदर जलराशि भरी हुई है, इसलिये कवि ने उसे '*स्तम्भितान्तर्जलौघ*'[१०] कहा है। सृष्टि का उपकार करनेवाले मेघ वे ही हैं जिनकी कुक्षि में अथाह जल के अर्णव भरे हैं। जल की संज्ञा वृष होती है। जिन मेघों में वृष नहीं, उनका जन्म निष्फल है। पुरुष शरीर में जल का रूप वीर्य है।[११] जिनके पास पुष्कल वृष का संचय है उन्हीं में गौरव है। आगे चलकर कवि को घन के गौरव से एक पुण्य-साधन कराना है। प्रभूत जलराशि वाले अनंत वृषशक्तिमय मेघ के ही सोपान पर पैर रखकर शिव

७—एष हवै सर्वासामोषधीनां रसो यत्पयः। कौषीतकी ब्रा० २।१

८—मेघः कस्मात् मेहतीति। निरुक्त।

९—धूम ज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः। मेघ० १।५

और भी

जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपैः। मेघ० १।३२

१०—भंगीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः'। मेघ० १।६०

११—आपः रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्। ऐतरेय उपनिषद्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मणितट[१२] पर आरोहण करते हैं; निचुड़े हुए मेघों का वहाँ कुछ प्रयोजन नहीं। इंद्र-शक्ति से शून्य इंद्रियोंवाले पुरुषों में संयम और तप भी कृतकार्य नहीं होते। बलाका-मिथुन[१३] गर्भाधान का उत्सव मनाने के लिये मेघोपस्थान अर्थात् मेघ की सेवा करते हैं, इसलिये इंद्र के प्रधान पुरुष की एक संज्ञा *बलाहक* भी है। इस प्रकार *जललवमुच् पयोद* का नामकरण उत्सव कोषकारों ने मनाया है।

निरुक्तकार यास्क भी इस संस्कार के एक ऋत्विज हैं (निघंटु, अध्याय १ खंड १०)। उनके अनुसार मेघ की एक संज्ञा *वृषंधि* है। कालिदास ने इंद्र को वृषा कहा[१४] है और मेघ मघवा इंद्र का प्रतीत पुरुष है[१५], इसलिये उसे वृषंधि होना ही चाहिए।

उक्त आचार्य ने मेघ को *वराह* भी कहा है—

अद्रिः······पर्वतः गिरिः······वराहः······इति मेघनामानि।

(निघंटु १।१०)

पौराणिक कहते हैं कि वराह भगवान् ने हिरण्याक्ष दैत्य का संहार करके सलिलार्णव से पृथिवी का उद्धार किया था। देखना चाहिए कि सृष्टि की खोज करने वाले पंडितों ने मेघ के वराह रूप को कैसे समझा था। वराह शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

वरम् आहन्ति इति वराहः

अर्थात् जो वर का आहनन करे वह वराह है। वर नाम सूर्य का है। उसके तेज का जो प्रतिबंधक हो वही वराह नाम से पुकारा गया। सृष्टि के आदि में तपते हुए सूर्य की संज्ञा हैमांड, हिरण्यगर्भ या हिरण्याक्ष थी। सूर्य जब तक अप्रतिहत भर्ग से चमकता रहा तब तक लोक-लोकांतरों की कल्पना असंभव थी। अलंकार रूप से मानो उसने पृथिवी आदि लोकों का अपनी कुक्षि में संहार कर लिया था। उसके तैजस वपु से सृष्टि-प्रक्रिया आगे चलाने के लिये वराह की आवश्यकता

१२—कालिदास का मणितट ही योग का मणिपद्म, मणिकर्णिका अथवा ऊर्ध्व मस्तिष्क है।

१३—गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः।
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः। मेघ० ११९

१४—तपः कृशामभ्युपपत्स्यते सखीं, वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम्। कुमार सं० ५।६१
वृषा वा इन्द्रः। कौषीतकी ब्राह्मण २०।३

१५—प्रकृतिपुरुषं मघोनः। मेघ० ११६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई। उस सूर्यमंडल को चारों ओर से तैजस वाष्पीय मेघों ने परिवृत कर लिया था। कालांतर में जब ऊष्मा का ह्रास हुआ तथा सूक्ष्म तैजस वाष्प स्थूल जल आदि के रूप में परिणत हुई, तब क्रमशः गुरु तत्त्वों के संयोग से पृथिवी का जन्म हुआ। वैज्ञानिकों के मतानुसार युरेनियम आदि विद्युत्स्फुलिंगी[१६] तत्त्वों को जो सूर्य में पाए जाते हैं, क्रमशः अपना रूप परिवर्तन करके स्थूल धातुमयी आकृति ग्रहण करने में हजारों-लाखों वर्षों का समय लगा होगा। यही हमारी सृष्टि का वाराह कल्प था। भारतीय दर्शन में पिंडगत चेतना की तुरीय, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् ये चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं। इन्हीं से मिलती हुई ब्रह्मांडव्यापी चेतना की चार अवस्थाएँ हैं—ब्रह्म, ईश, हिरण्यगर्भ और विराट्। हिरण्यगर्भ दशा से विराट् दशा में आने के लिये ही वराह की आवश्यकता हुई। हिरण्यगर्भ दशा में प्रकृति तत्त्व संचित था। विराट् होने के लिये, अर्थात् देश में व्यापक होने के लिये उसका उप-बृंहण स्वयंभू ब्रह्मा ने किया[१७]। उस विद्युत् के महार्णव में अपने-आपको विस्तारित करने की शक्ति अपने भीतर से ही उद्भूत होती है। उसके कारण परमाणु बहिर्मुख होकर विकीर्ण होने लगते हैं और उनसे क्रमशः लोक-लोकांतरों की सृष्टि होती है। इस जगत् में सामान्य मनुष्य से लेकर बड़े से बड़े ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और कवि तक, सभी मेघ का ज्ञान प्राप्त करते हैं। किसी वैज्ञानिक के पास जाकर पूछो, "मेघ क्या है ?" उसका यही उत्तर होगा—

"धूम ज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः मेघः"

अर्थात् मेघ केवल धुएँ, आग, पानी और हवा का जमघट है। अपने हिसाब से उसे बड़ा संतोष है कि प्रकृति के गूढ़ नियमों के पांडित्य द्वारा केवल उसने ही सत्य को खोज पाया है। वायु में धुएँ के रूप में सूक्ष्मातिसूक्ष्म रजःकण छाए रहते हैं। मरुत् के संघर्ष से ये कण विद्युत् से परिगृहीत हो जाते हैं। तब वाष्प-रूप से

१६—विद्युत्स्फुलिंगी = रेडियो ऐक्टिव

१७—तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥ मनु०

इसी में नारी और पुरुष दो भेद हुए, अर्थात् इलेक्ट्रोन और प्रोटोन कहलानेवाली दो प्रकार की शक्ति हुई जो मूल में एक ही है। सारा जगत् इन्हीं दो में बँटा है—प्राण, अपान; स्त्री, पुरुष; रयि, प्राण; दो अश्विनी; मित्रावरुण; अग्नीषोम आदि। धन और ऋण विद्युत् का भेद कार्यकाल समुत्पन्न है, वस्तुतः विद्युत् एक ही है। शिव और शक्ति भी मूल में एक हैं; वे द्विधा भिन्न प्रतीयमान होकर कार्य करते हैं, जैसे चुंबक के दो ध्रुव होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंतरिक्ष में व्याप्त जल को वे अपने ऊपर आकृष्ट कर लेते हैं। इस प्रकार मेघ बन कर जल वृष्टि के योग्य हो जाता है। कल्पना अक्षरशः सत्य होते हुए भी कितनी नीरस है। वैज्ञानिक प्रकृति को ऐसी ही अवस्था में देखता है। प्रकृति के विभूतिमय गुणों पर मुग्ध होकर मनुष्य में आश्चर्य करने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है, वैज्ञानिक अपने रहस्य-विवरण द्वारा उसका मानमर्दन करना चाहता है। उसके लिये मनो-भावों का अस्तित्व जैसे है ही नहीं, मानो भरद्वाज पक्षी के विज्ञानात्मक वर्णन में निरत विद्याव्यसनी उन अनंत लोकों को भूल जाता है जिनके नित्य नित्य पर्यटन में ही पखेरू का जीवन है। केवल मात्र सत्य की खोज में भावना से हाथ धो बैठना ही वैज्ञानिक के भाग्य में बदा है। यदि सच पूछा जाय तो आज तक निरपेक्ष सत्य की उपलब्धि किसे हुई है? इसी लिये कवि लोग संभावित सत्य को मनोभाव और कल्पना के वर्णव्यंजक छंद-पात्रों में भरकर मानवी हृदय को आनंद प्रदान किया करते हैं। रससिद्ध कवि को भी यदि विज्ञानानुगत विमर्ष से ही शांति मिल सकती होती तो मेघदूत जैसे काव्य का जन्म ही न होता।

'धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः'

की समालोचना जब कवि ने की, तो यह वर्णन उसे अत्यंत फीका मालूम हुआ। उसने उसके आगे अपनी संमति के दो पद रख दिए—क्व मेघः?

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः?

अर्थात् हे वैज्ञानिक, तेरा मेघ—धुएँ, आग, पानी का विच्छिन्न टुकड़ा—कितना हेय और निकृष्ट है। 'क्व' पद की व्यंजना अत्यंत तीव्र है। कविता और विज्ञान के संदर्भ में अथवा सत्य और कल्पना के द्वंद्व में कवियों ने सब देशों और सब कालों में अपने विपक्षियों के प्रति जो तिरस्कार का भाव प्रगट किया है, वह कालिदास के 'क्व मेघः' इन दो शब्दों में सरलता और तेजस्विता से व्यक्त हुआ है। अचेतन प्रकृति को भी मनोभावों के संपर्क से चेतन बना देने में ही कवि का महान् कौशल है, इसी लिये घाम, धूम, नीर और समीरों के संनिपात में अनंत विश्व की कल्पना कालिदास कर सके।

और ऐतिहासिक?—ऐतिहासिकों के लिये मेघ क्या हो सकता है?

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानाम्। (१।६)

अर्थात् पुष्कर और आवर्तक मेघों के विश्वविश्रुत वंश में तुम उत्पन्न हुए हो। वंशावली निर्माण करके उसे भुवनविदित सिद्ध करने के लिये गुणगाथाओं का गान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते करते ही इतिहास के पंडितों की आयु निःशेष हो जाती है। अपने पूर्व गौरव का परिचय पाकर जो प्रसन्नता होती है वही इतिहास का आनंद है। परंतु इतिहास की जड़ीभूत घटनावली और काव्य की अमर कल्पना में क्या संबंध है? नव-नवोन्मेषवाली प्रज्ञा इतिहास के जड़ अभ्यास से अपने-आपको कुंठित क्यों करने लगी? कवि-कल्पना का अवतार तो किसी अन्यतम आनंद की व्यक्ति के लिये होता है।

हमारा यक्ष याचक[१८] की हैसियत से मेघ के सामने आता है। मेघ का मागध बनकर वह अपने दाता को प्रसन्न कर लेना चाहता है। उसने अपने मनोनीत दूत को कुलीनता का प्रमाणपत्र दिया। कुल के साथ शील है और शील[१९] का एक लक्षण शरणागतरक्षा या शरण्यता है[२०]। यक्ष पुष्करावर्तक वंश की बड़ाई जानता था—

आवर्तके महावर्तः संवर्तो बहुतोयदः।
पुष्करे चित्रिता वृष्टिर्द्रोणेऽपि बहुवारिदः ॥[२१]

अर्थात् *आवर्तक* मेघों में बड़े बड़े भँवर पड़ते हैं, *संवर्त* में जल-संचय होता है, *पुष्कर* में चित्र-विचित्र वृष्टि होती है तथा *द्रोण* संज्ञक मेघ अपरिमेय जलराशि के स्वामी होते हैं[२२]।

१८—तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं। १।६

१९—संतप्तानां त्वमसि शरणं। १।७

२०—हारीत के अनुसार शील के तेरह गुण हैं—
ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्तता, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयता, मृदुता, अपारुष्य, मैत्रता, प्रियवादित्व, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्य, प्रशांति।

२१—बृहज्ज्योतिःसार।

२२—विज्ञान के अनुसार मेघों के चार भेद हैं। उनके अंग्रेजी नाम इस प्रकार हैं—
'सिरस', 'क्युमुलस', 'स्ट्रेटस,' 'निंबस'। इन्हीं के परस्पर संमिलन से और अवांतरभेद हो जाते हैं। सिरस मेघ पाँच से दस मील की ऊँचाई पर सबसे ऊपर रहते हैं। इनमें छोटे हिमकणों के समुदाय की परतें फैली रहती हैं। क्यूमुलस मेघ त्रिकोण रूपवाले होते हैं। इनकी ऊँचाई भूमि से एक मील ऊपर होती है। इनमें हवा की भाप ठंडी होकर फिर जलीय रूप ग्रहण करने लगती है। स्ट्रेटस मेघ बहुत नीचे और फैले हुए होते हैं। ये नीहारात्मक होते हैं और इनके उदय से दिशाएँ प्रसन्न और ऋतु सौम्य समझी जाती है। निंबस मेघ घने, काले, जलराशि से भरे होते हैं। इन्हीं से वृष्टि मूसलाधार होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और भी,

यज्ञजास्तु घना घोराः पुष्करावर्तकादयः[२३]

अर्थात् पुष्करावर्तक मेघों की महिमा उनके यज्ञ-समुद्भूत होने के कारण है। वैज्ञानिक को मेघ का निर्माण करने के लिये केवल धुआँ चाहिए, परंतु सहृदयजन उसे यज्ञधूम कहते हैं। संभव है प्राचीन लोगों ने वायु के सूक्ष्म धूलिकणों को हव्य वनस्पतियों के सूक्ष्म विकरण द्वारा विद्युत्परिगृहीत करके वृष्टिलाभ करने में सफलता प्राप्त की हो। पर कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि यज्ञ में अनेक सदाशाओं और दाक्षिण्ययुक्त भावनाओं का सन्निवेश होता है। उन पुण्य अभिलाषाओं को लेकर यज्ञ-धूम ऊपर उठता है और धूमयोनि मेघ में मिल जाता है। प्रकृतिरूपी वेदी में नव मास तक सूर्य की रश्मियाँ जिस यज्ञ का विधान करती हैं उसी के दाक्षिण्य फल से युक्त पुष्करावर्तक मेघ सर्वस्वदक्षिण व्रत लेकर विश्व भर को जीवन-जल प्रदान करते फिरते हैं।

वैज्ञानिक और ऐतिहासिक के अतिरिक्त किसी गाँव में जहाँ कृषि ही जीवन का आधार हो, जाकर मेघ का रहस्य पूछो तो कुछ ऐसा उत्तर मिलेगा—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः।
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः॥ (१।१६)

हे ग्रामवासी जीवो, तुम्हारा मेघ के साथ कौन सा प्रेम है? वे कहते हैं—हमारी वधुओं के लोचन मेघ के अभिराम रूप का इसलिये पान करते हैं कि मेघ ही कृषि का प्रवर्तक है। मेघ के आने में कदाचित् एक मास की भी देर हो जाय तो सारी वन-प्रकृति आँखें फाड़कर आकाश की ओर निहारने लगती है। मेघ का सुधावर्षण उसके नेत्रों के लिये अमृतद्रव है। अतः मेघ को गाँवों में जो स्वागत मिलता है वह कहीं अधिक स्वाभाविक, सरल और प्रीति-स्निग्ध होता है। पौरांगनाएँ तो कटाक्षों से मेघ के साथ विलास करती हैं। उज्जयिनी की उन्मादिनियों के पास मेघ को इसके सिवा और क्या मिलेगा—

विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां।
लीलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि॥ (१।२७)

उद्दाम नागर रमणियों और पुरुषों के लिये मेघ वासना को बढ़ानेवाली सामग्री

२३—शब्दार्णव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। मेघ के रस-निषिंचन के साथ उनका भी परिमलोद्गिरण होने लगता है।[२४] पर गाँववाली वधुएँ भ्रूविलासों की वक्र गति से नितांत अनभिज्ञ होती हैं। वे पूज्य और परोपकारी अभ्यागत के योग्य प्रेम से सने भावों से मेघ का स्वागत करती हैं। वे उसके दर्शनों से पुलकित होकर उसे सौ-सौ बार असीसती हैं—'हे बरस-बरस दिन आनेवाले यात्री, तुम्हारी बड़ी आयु हो, तुम सदा इसी भाँति हमारे घरों में आते रहो।' यदि यह पूछा जाय कि वृष्टि किनकी शुभ कामनाओं का अनुकूल फल है, तो हमारी उँगली इन्हीं भोली भाली ग्राम-वधूटियों की ओर उठेगी। भ्रूविक्षेपकुशल पौरांगनाओं के उच्छृंखल उद्दीपन की अस्थिर कामना पर मेघ-मालाओं का आकाश में एकत्र होना निर्भर नहीं है। जिन जनपदों का जीवन संयम-सूत्र में दृढ़ता के साथ बँधा हुआ है, उन्हीं के घनगात्र निवासियों पर राष्ट्र की संपत्ति की अभिवृद्धि निर्भर है। वहीं के स्त्री-पुरुषों को मेघागम के रहस्य का गहरा अनुभव प्राप्त होता है। वनस्पति जगत् और पशु-जगत् में मेघ के कारण जो परिवर्तन होते हैं, उनके साक्षी कृषक ही हैं। कृषि को ब्राह्मण-ग्रंथों में सर्व-देवतामयी[२५] कहा गया है। सूर्य, मरुत, मेघ या इंद्र, पशु, पक्षी, राजा, प्रजा—ये सभी जब वीणा के तारों के समान एक स्वर में अनुकूल हो जाते हैं तभी कृषि या राष्ट्रकृत् अन्न की संप्राप्ति होती है।

उपर्युक्त विशेषज्ञों के अतिरिक्त सामान्य पुरुष जब ऊपर आँख उठाकर देखते हैं, तब उन्हें सरसरी तौर पर मेघ के केवल वर्ण और परिमाण ही दिखाई देते हैं। उनके लिये कवि ने कहा है—

आषाढ़स्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं।
वप्रक्रीडा परिणतगज प्रेक्षणीयं ददर्श॥ (१।२)

अर्थात्, मेघ क्या है, केवल एक काले भीमकाय हाथी के समान ढूँसा मारने और धुंध मचानेवाला जीव है। मेघ और हाथी का संबंध बहुत पुराना है। प्रकृति में वृष्टि करनेवाले नियमों का ही समुदित नाम इंद्र है। इस इंद्र का वाहन ऐरावत हाथी है। हमारा *अभ्रमातंग* मेघ भी इंद्र का प्रधान पुरुष कहा गया है (मेघ० १।६)।

२४—यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि। मेघ० १।२५

२५—सर्व देवत्या वै कृषिः। शतपथ० ७।२।२।१२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत में 'इरा' जल को कहते हैं। इरा का जो अक्षय भंडार है, उस जलधि की ही संज्ञा इरावान् है। उस इरावान् में जो जन्म ले, वही ऐरावत है—

इरा आपः, इरावान् समुद्रः, तत्र भवः ऐरावतः अभ्रमातङ्गः।[२६]

यह ऐरावत हाथी हमारा अभ्रमातंग मेघ है, क्योंकि दूर से इसका आकार मातंग के सदृश लगता है। पुराणों के अनुसार भी इंद्र का हाथी ऐरावत मेघों के साथ विचरता है। मेघ को अभ्र इसलिये कहते हैं कि इसमें जल का भस्म वाष्परूप में जमा होता है। यथा—

अभ्रं वा अपां भस्म। (शत० ७।५।२।४८)
धूमो भूत्वा अभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति।
(छांदोग्य उपनिषद् ५।१०)

अर्थात् सूर्य-ताप के संयोग से जल भस्म होता है। उसकी पहली आकृति वाष्पधूम की होती है जिसे अभ्र कहते हैं, क्योंकि वह जल को अपने अंदर धारण करता है। यही अभ्र जब अंतरिक्षगामी होता है, तब सांघातिक रूप में *मेघ* की उपाधि ग्रहण करता है। मेघ होने से इसे मेहन या सिंचन की योग्यता प्राप्त होती है। इरावान् समुद्र में जन्म लेने के कारण *ऐरावत* और जलों को अपने अंदर धारण करने से *अभ्र*—एक ही अर्थ दो रूपों में सुंदरता के साथ व्यक्त हुआ है। वर्ण, परिमाण और क्रिया में सादृश्य के कारण[२७] मेघ का सबसे अच्छा उपमान हाथी ही है। इसी अभ्रमातंग ऐरावत का जन्म अन्यत्र पुराणों में समुद्र-मंथन के समय उदधि से बताया गया है। अपने अभ्र-वाहन का आश्रय लेकर इंद्र समुद्र से उठकर आकाश में आते हैं। वहाँ जब पुष्करावर्तादि मेघ खड़े होकर मठारते और गरजते हैं, तब सामान्य जन प्रायः कहा करते हैं कि आज इंद्र अपने वाहन पर चढ़कर आए हैं, इससे वृष्टि होगी। इस देश के इंद्र का वाहन ऐरावत पूर्वी दिशा का अधिपति दिग्गज है। पूर्वी दिशा का नाम ही ऐंद्री दिशा है, क्योंकि भारत-

---

२६—मल्लिनाथ, रघुवंश की संजीवनी टीका, १।३६
और भी, अमरकोष—'ऐरावतोऽभ्रमातंगः'।

२७—गजैश्च घनसन्निभैः—रघुवंश, ४।२९
इसपर 'संजीवनी'—वर्णतः क्रियातः परिमाणतश्च।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माता का श्यामल अंचल प्राची के अनिलों से ही विकंपित होता है। यहाँ की वृष्टि का अधिकांश भाग बंग महोदधि से उठनेवाली हवाएँ ही लाती है। हमारा आधिदैविक इंद्र और उसका वाहन ऐरावत दोनों ही अंततः मेघ के नाम हैं।

कोश में ऐरावत की पत्नी का नाम अभ्रमु है। अभ्रमु की व्याख्या कई प्रकार से की जाती है। अभ्र की जो सौंदर्य-श्री उसके प्रकृति-सुभग शरीर में व्यापक है, जो उसकी स्तनितच्छवि है, किंवा जो जल-निर्भर मेघ की मंथरता है, वही अभ्रमु है।[२८] अन्यत्र, ऐरावत की पत्नी अभ्रमु विद्युत् का ही एक नाम है। इस प्रकार विद्युत्कलत्र[२९] या विद्युत्वंत[३०] मेघ और ऐरावती-प्रिय ऐरावत एक ही पदार्थ हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि जिन मेघों में विद्युत् नहीं है वे पानी नहीं बरसा सकते। विद्युत् रूप शक्ति से ही मेघों में विद्योतन और गंभीर गर्जन का सामर्थ्य उत्पन्न होता है—

विद्युद्वा अपां ज्योतिः। (शत० ब्रा०)

वियोगी यक्ष ने चलते-चलते मेघ को यही आशीर्वाद दिया है कि क्षण भर के लिये भी तुम्हारा अपनी सहचरी विद्युत् से वियोग न हो।

मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः। (मेघ० २।५१)

अर्थात् हे मेघ, जिसे तुम अंक में धारण किए रहते हो उस विद्युत् से कभी बिलग मत होना। उससे विप्रयुक्त होकर तुम्हारी श्री, तुम्हारा 'मेघ' सब शून्य में विलीन हो जायगा। मेरे समान कांता-विश्लेषित तुम जिस देश में जाओगे, वहाँ दुःख ही दुःख पाओगे। सुसमय और संपत्ति की जगह दुष्काल देखोगे। वहाँ तुम्हारा अपना सौंदर्य भी तिरोहित ही रहेगा। फिर प्रीति-स्निग्ध नयनों से तुम्हारा स्वागत कौन करेगा? तुम्हें देख-देख प्रमुदित होने के स्थान में लोग रोएँगे और तुम्हारी उस प्रिया सौदामिनी को याद करेंगे।

यह सुदामा पर्वत की पुत्री कभी वलयाकार में चमक पड़ती है,[३१] तो कभी

---

२८ अभ्रे खे माति, न भ्राम्यति वा मन्थरगामिनीत्वात् इति अभ्रमुः। अमरकोष रामाश्रमी टीका।

२९—विद्युत्कलत्र। मेघ० १।३८

३०—विद्युत्वन्तम्। मेघ २।१

३१—विद्युद्दाम स्फुरित चकितैः। मेघ १।२७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेत्रों को चकाचौंध करनेवाला क्षणप्रभा का चंचल तेज चमकता है और कभी वही खद्योतों की पंक्ति के समान अल्पाल्पभास से विलसित होती है—

अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम् । (२।१८)

मेघ का वर्ण—वर्षा-काल के मेघों की उपमा कज्जल के पहाड़ों से दी जाती है। हमारा मेघ भी चिकने घुटे अंजन की आभावाला है (स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे, १।५९)। वह अत्यंत सुंदर है।[३२] वर्षा ऋतु में तो उसकी शोभा और भी द्विगुणित हो जाती है।[३३] मेघ ही क्या, पुरुष, स्त्री, वृषभ, अश्व सभी जब वृष-शक्ति से भर जाते हैं तो उनका वर्ण स्निग्ध श्याम और परम अभिराम हो जाता है। मेघ की शोभा को पूर्णतया कह सकना असंभव है, इसलिये कवि ने उसकी उपमा शिव के कंठ की छवि से दी है—

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः । (१।३३)

अपने स्वामी की शोभा के दर्शनाभिलाषी शिव-गण प्रकृति में जिस पदार्थ को उस श्री से श्रीमान् देखते हैं उसी के रूप का जी भरकर पान करते हैं। जिनके नेत्रों में शिव के कंठ की वर्ण-विभूति समाई है वे जहाँ उसका आभास भी पाते हैं, उसपर निछावर रहते हैं। आदित्य, चंद्रमा और विद्युत् की प्रभा जहाँ भासमान नहीं होती, उस शिव की बहुल ज्योति की एक रश्मि के दर्शन भी यदि मेघ में भक्तों को प्राप्त हों तो मेघ के सौभाग्य और तेज का क्या कहना? मेघ है ही क्या, केवल एक नामरूपात्मक विकार है। वह यदि परमशिव तत्त्व की झलक का दर्शन करा देने में प्रतीक मात्र बन सके, तो भी उसका जन्म सफल हो गया, मानो उसने समस्त लोकों के कल्याण का उपार्जन कर लिया।

कालिदास की कला में इष्ट वस्तु के सौंदर्य की पराकाष्ठा दिखाने की एक अद्भुत युक्ति है। रघुवंश के तेरहवें सर्ग में कवि गंगा और यमुना के मिले हुए प्रवाह-संगम की छटा का वर्णन करने लगा। जब एक, दो, तीन, चार आदि उपमाओं का अंत ही होता न दिखाई पड़ा, तब कवि ने उस शोभा की शिव के शरीर से

३२—प्रकृति सुभगः आत्मा। मेघ० १।४०

३३—प्रावृषा संभृतश्रीः। मेघ० २।५२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपमा दे डाली; मानो सौंदर्य को सांत की सीमा से निकालकर अनंत के हाथों में सौंप दिया—

क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः॥ (रघु० १३।५७)

कृष्ण सर्पों से विभूषित और भस्मागंराग से विलेपित[३४] जो ईश्वर का शरीर है, उसके समान सुंदर गंगा और यमुना के संगम को, हे अवदात सीते, तुम देखो। उस शरीर से भी प्रशस्यतर किसी उपमान की कल्पना का विचार यदि भारतीय कवि अपने मन में लाए, तो मानो वह इस देश की कला के सनातन आदर्शों का तिरस्कार करता है। मदन का जो निग्रह कर चुके हैं, ऐसे अरूपहार्य शिव की शोभा निःसीम है। उससे परे शोभा कहाँ? अनंत से परे अनंतता कैसे संभव है? सौंदर्य का तो शिव के साथ तादात्म्य ही है। त्रिभुवनगुरु चंडीश्वर की कंठच्छवि का प्रतीक मात्र दिया जा सकता है, समग्रतया उसका वर्णन कौन करेगा? बस, मेघ की शोभा भी ऐसी ही उपमा पाकर अनंत हो गई है। उस सौंदर्य का प्रयोजन भोग नहीं, ईश्वर-समर्पण है। इसी स्थिति में पहुँच कर हम कहते हैं—'स्त्री, तेरा नाम ही पवित्रता और सौंदर्य है'। कवि चाहता है कि मेघ अपने सायाह्न तेज को शिव की नृत्य-सामग्री में चढ़ा दे, अपनी इस क्षणभंगुर छवि को वह नटराज के अविनाशी नृत्य की शोभा बढ़ाने में अर्पित कर दे।[३५] मेघदूत में आदि से अंत तक यह स्मरण रखने की बात है कि मेघ को अलका के उस लोक में जाना है जहाँ धनपति के सखा शिवजी साक्षात् निवास करते हैं, जिन्होंने काम को भस्मावशेष कर दिया था। इसलिये मेघ उस लोक में अपना चाप चढ़ाने से डरता है।

मेघ के साथ इंद्रधनुष का साहचर्य है। सातप मेघ के अग्रभाग में रंग-बिरंगा धनुष चमकता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि जब आकाश की बाष्प जल-बिंदु का रूप ग्रहण कर लेती है और ऐसा मेघ सूर्य की किरणों के रास्ते में पड़ जाता है,

३४—शिव, काम, कुमार, वृष, मयूर, भस्म, विष, सर्प आदि की व्याख्या 'शिव-स्वरूप' नामक लेख में हमने की है ('कल्याण' शिवांक में प्रकाशित)।

३५—पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः।
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः॥
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां।
शान्तोद्वेगास्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या॥ मेघ० १।३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब प्रकाश की रश्मियों को विभिन्न घनत्व की सतहों में से निकलना पड़ता है, जिसके कारण किरणें बिखर जाती हैं और सूर्य के सातों रंग अलग-अलग दिखाई पड़ने लगते हैं। कवि को इस प्रकार सप्त-पाताल से सत्य की कौड़ी निकालने की आकांक्षा नहीं। उसके लिये इंद्रधनुष में अद्भुत जादू है। विद्यमान पदार्थों में जब उस शोभा की उपमा न मिली तब उसने 'रत्नच्छाया व्यतिकर' की कल्पना की। परंतु इस नई सूझ से भी उसे संतोष नहीं हुआ। तब द्वापर युग के एक गोप के शृंगार का ध्यान आया और 'भर्तुः कंठच्छविरिति' के समान अनंत सौंदर्य की व्यंजना के लिये उसने लिखा—

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेशस्य विष्णोः।

जिस समय विष्णु क्षीरसागर में शेष-शय्या पर योगमाया के समाश्रय से चातुर्मास्य मनाते हैं, उसी समय मानो मेघ बाहरी संसार को उनके अभिराम रूप का पान कराते हैं।

मेघ को कालिदास ने इच्छानुसार रूप रखनेवाला (कामरूपं) कहा है। वैज्ञानिक भी उसकी सर्वत्रविहारक्षमता को स्वीकार करता है। आकाश में कभी वह तिरछा शोभित होता है, कभी लंबा पड़ जाता है और कभी पिछले भाग से लटकता हुआ, जल पीने के लिये झुके हुए हाथी के समान जान पड़ता है। इस तिरश्चीन और दीर्घप्रसारित रूप में उसे पृथिवी की ओर उतरने में आसानी होती है। कभी तोयोत्सर्ग के कारण वह हलका होकर द्रुतगति से आकाश में रपटता चलता है।[३६] कभी अंतर्घनत्व के कारण मंथर गति में मंद-मंद विचरता है। मेघदूत के मंदक्रांता छंद और मेघ की मंद गति में प्राकृत संबंध है। यक्ष हृदय से चाहता है कि देश और काल दोनों का अत्यंत अभाव हो जाय, अर्थात् उसका दूत क्षणमात्र में ही अलकापुरी में पहुँच जाय। किंतु देशकाल से परिच्छिन्न मर्त्यों को इन दोनों की नियति का अनुशासन मानना ही पड़ता है। मेघ को आकाशमार्ग से जाते हुए न जाने कितने पर्वतों का व्यवधान पड़ेगा।

उत्पश्यामि द्रुतमपिसखे मत्प्रियार्थं यियासोः।
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते॥ (मेघ० १।२२)

३६—तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः। मेघ० १।१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् कितने भी शीघ्र चलनेवाले तुम हो, मार्ग में जितने पर्वत तुम्हारा मार्ग रोकने को खड़े हैं उनके पास बिना समय बिताए आगे बढ़ना संभव न होगा। किंतु एक उपदेश हृदय में रख लेना—

मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थ कृत्याः। (१।२८)

भौतिक व्यवधान चाहे जो हों, अपने मन में तुम मंदोत्साह कभी मत होना।

यह देखी हुई बात है कि हल्के मेघों को हवा उड़ाकर तितर-बितर कर देती है। जिन मेघों में गंभीर जलराशि भरी होती है वे ही हवा के सामने डटकर बरसते हैं। थोथे और हल्के आदमी को गौरव नहीं मिलता। घने बरसनेवाले मेघों से ही, जिस संदेश की व्यंजना यक्ष चाहता है वह संभव है।

अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां।
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय॥ (१।२०)

अर्थात् हे घन, तुम जल से भरे होगे तो आँधी तुम्हारा क्या बिगाड़ सकेगी? बलवान् का लोहा सब मानते हैं। हलकों के लिये तो काल के अप्रतिवार्य वेग से बहनेवाले प्रवाह में बह जाने के सिवा और गति नहीं है। 'अन्तःसारं' की व्यंग्य ध्वनि बड़ी सुंदर है। मेघ की संज्ञा वृष कही जा चुकी है। वृष नाम रेत[३७] या वीर्य का है। जो ब्रह्मचारी है, अर्थात् वृषसंपन्न होने से अन्तःसारवान् है, वही प्राणायामरूप अनिल के धक्के को सह सकता है। वृष से रिक्त जनों को विषय-वात सदा घुमाया करता है, उनमें कुंभक कृतकार्य नहीं होता। एक बात और भी जानने योग्य है। इंद्र की संज्ञा ओकःसारी है[३८] अर्थात् वह जिसके ओक अर्थात् घर में सार भरा है।[३९] अलका का नाम वस्वोकसारा[४०] पुरी है, अर्थात् वह जिसके भवनों में वसुरूप सार है। मेघ इंद्र का प्रधान पुरुष है, उसे अंतःसारी

३७—रेतो वै वृष्ण्यम् (शतपथ ७।३।१।४६)। आपो मे रेतसि श्रितः (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।८।६), अर्थात् शरीर में जल की स्थिति रेत रूप से है।

३८—ओकःसारी वा इंद्रः। ऐतरेय ब्राह्मण ६।१७।३७

३९—गृहा वा ओकः (ऐ० ब्रा० ८।२६)।

४०—रघुवंश १६।१०; वसतिं वसुसम्पदां। कुमार संभव ६।३७; वसु ओकःसारी। मेघदूत में कहा है कि यक्षों के भवनों में अक्षय्य निधियाँ हैं (अक्षय्यान्तर्भवननिधयः)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होकर ही अलका में पदार्पण करना चाहिए। इंद्र का ही नाम वसु है।[४१] इंद्र शक्ति का जहाँ निवास है वहीं वस्वोकसारा पुरी है। मेघ विराट् प्रकृति के लिये वृषशक्ति का कोष इंद्र है, अतः उसके लिये अंतःसार विशेषण साभिप्राय ही है।

वृष्टि की आवश्यक परिस्थिति के लिये अनुकूल पवन भी आवश्यक है।[४२] प्रतिकूल वायु जल भरकर चले हुए मेघों की धज्जियाँ उड़ा देती है। मेघ कैसे भी अभ्रत्वविशिष्ट हों, किंतु बिना अनुकूल पवन की प्रेरणा के वे वृष्टि नहीं कर सकते। अतएव यक्ष के मेघ को मंद मंद पवन प्रेरित कर रहा है—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां। (१।९)

वृष्टि के लिये दूसरी आवश्यकता हरियाली है। वनों और जंगलों में वाष्प फिर जल्दी ही जल रूप में आ जाती है। कवि ने इस ओर भी संकेत किया है—

स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहुर्तं,
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः।

अर्थात् आम्र-काननों के सघन कुंज में जब तुम ठहरोगे तब वाष्परूप में संचित तुम्हारा जल वहाँ बरस जायगा। इससे तुम हलके और द्रुतगामी हो जाओगे। रेवा के जंबू कुंजों में भी तुम वांतवृष्टि हो जाओगे।

वृष्टि का तीसरा रहस्य यह है कि जब मेघ को ऊँचाई पर चढ़ना पड़ता है तब उसका तापमान घट जाता है, फलतः जल बरसता है। माल-क्षेत्र के वर्णन में ध्वनि द्वारा इसी तत्त्व की ओर संकेत है —

सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण। (१।१६)

यहाँ आरोहण के अनंतर वृष्टि, और फिर फलस्वरूप लघुगति की ओर ध्यान दिला कर प्रच्छन्न रीति से उपयुक्त प्रकार के अभिवर्षण[४३] का ही वर्णन किया गया है।

४१—स इन्द्रो वै देवानां वसुर्वीरो ह्येषाम् ; शतपथ (१।६।४।२)। अर्थात् इंद्र देवों के वसु हैं।

४२—वृष्टि अनुकूल वायु के अधीन है—यां दिशं वायुरेति तां दिशं वृष्टिरन्वेति (श० ८।२।३।५)

४३—सद्यस्तत्कालमेव सीरैः हलैः उत्कषणेन कर्षणेन सुरभि घ्राणतर्पणं यथा तथा आरुह्य। तत्र अभिवृष्य इत्यर्थः। (मल्लिनाथ)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृष्टि के बाद भूमि में से सोंधी सुगंध निकलने लगती है—

दग्धारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः। (१।२१)

दावानल से जले हुए वनों में जब मेघ अपने जल से पृथिवी की तपन बुझाता है तब भूमि में से सुरभि गंध का प्रादुर्भाव होता है। दावाग्नि से न जाने कितने सुगंधित काष्ठ और हविष्य वनस्पतियाँ भस्म होकर पृथिवी में मिल जाती हैं। ऐसे स्थान पर वृष्टि करके मेघ भी उच्छ्वासित गंध से तृप्ति का अनुभव करेगा। दावानल को शांत करने का पुरुषार्थ अकेले मेघ में ही है—

त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना,

वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।

वास्तव में मेघ समस्त संतप्त सृष्टि को शांति देनेवाला है (संतप्तानां त्वमसि शरणं, १।७)।

कालिदास मेघ की यात्रा में सर्वत्र पानी के ही बरसने का वर्णन करते गए हैं, पर पहाड़ में पहुँचकर अवस्था दूसरी हो जाती है। जहाँ थोड़ी वर्षा हुई, सर्दी बढ़ी और आकाशस्थ जल हिम के आकार में बदल जाता है। इस कारण कर-कर ओले पड़ने लगते हैं। इसलिये कनखल के बाद ज्यों ही फिर वृष्टि का अवसर आया, जल ओलों के रूप में बदल गया—

ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मिन्

मुक्ताध्वानः सपदि शरभा लंघयेयुर्भवन्तम्।

तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्

के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः॥ (१।५४)

अर्थात् यदि शरभ मृग ऊपर कूदकर तुम्हें लाँघने का प्रयत्न करें तो उन्हें ओलों की मार से दल देना। इस श्लोक का आध्यात्मिक अर्थ बड़ा मनोहर है। मेघदूत में जिस वृषशक्ति की मीमांसा है उसकी दुर्धर्षता का इसमें प्रतिपादन है। काम को योग-संयम द्वारा वश में करके साधना में अग्रसर होने का जो मार्ग है उसका निरादर करके, काम को बिना जीते, जो लोग दूसरे मार्गों का अवलंबन करते हैं और सपाटे के साथ सिद्धि पर पहुँच जाना चाहते हैं, वे अंत में वृषशक्ति के अधोमुख पतन द्वारा अवकीर्णी अर्थात् खंडित ब्रह्मचर्यवाले हो जाते हैं। उनके सारे प्रयत्न निष्फल हैं। श्लोक का 'अवकीर्ण' पद दीपक की तरह सारे अर्थ का प्रकाश करता है। जो ब्रह्मचारी अपने व्रत से पतित हो जाते हैं वे अवकीर्णी कहलाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी भी प्रकार जो सप्तम धातु ओज का स्कंदन करे वह अवकीर्णी है।[४४] मनुष्य को वाजसंपन्न (वाजी) बनने के लिये अर्थात् अपनी वाज (वृष) शक्ति को भीतर ही भर लेने के लिये एकरेत अर्थात् केवल ऊर्ध्वरेत ही होना चाहिए। यदि वह अपने समस्त पांसुओं[४५] या रेणु को स्वात्मा में ही नहीं पी लेता, तो वह पांसुल या द्विरेता हो जाता है (शतपथ ब्राह्मण ४।५।१।१९)।

मेघ के आगम से जिस प्रकार वनस्पति और औषधियाँ ऊर्ज के साथ बढ़ती और वीर्यवती होती हैं, वैसे ही पशु भी आनंदोद्रेक को प्राप्त होते हैं। चेतना की दृष्टि से वनस्पति, पशु, मनुष्य सब एक ही विश्वव्यापी महाप्राण के पर-अवर भेद हैं। विराट् मेघ का प्रभाव सर्वत्र पड़ता है। चर-अचर जैसी काल्पनिक सीमाओं को पार करके एक ही चैतन्य के दर्शन कर लेने पर मेघ का संदेश सब के लिये चरितार्थ हो जाता है।

४४—अवकीर्णी भवेद्गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम् (याज्ञवल्क्य)। ब्रह्मचारी योषाभिगमन करने से अवकीर्णी हो जाता है।
ब्रह्मचारी उपकुर्वाणको नैष्ठिकश्चेति योषितं गत्वा अवकीर्णं, तत्तु यस्यास्ति सोऽवकीर्णी (विज्ञानेश्वर)।
स्त्री सम्पर्काद्विप्लुतब्रह्मचर्यः अवकीर्णी (मनु, कुल्लुक)।

४५—पांसु = रेत = रेणु = वीर्य = वाज = वृष।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसविवेक

[श्री मुकुंदशास्त्री खिस्ते]

संसार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के उपायों की शिक्षा देनेवाले षडंग वेद और उनके उपबृंहणरूप पुराण, उपपुराण, स्मृति, इतिहास आदि सहस्रों प्रकार के शास्त्र उपलब्ध हैं, पर बहुत अधिक समय तक कठिन श्रम से उपसेवन करने पर ही इनसे उक्त पुरुषार्थों की प्राप्ति हो सकती है। परंतु वेद, पुराण आदि के साररूप काव्य द्वारा 'गुड़जिह्विकान्याय' से (मीठी वस्तु खिलाने के पश्चात् कड़वी दवा देने की तरह) बड़ी सुगमता से चतुर्वर्ग की सिद्धि होती है। साहित्यदर्पण में लिखा है—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥

अर्थात् काव्य ही के द्वारा साधारण बुद्धिवालों को भी सुगमता से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस कारण जिस विषय का वर्णन करना होता है उसके वास्तविक रूप की अपेक्षा न करते हुए भी कवि अपनी प्रतिभा के बल से सरस वर्णन द्वारा जिज्ञासुओं के चित्त को उल्लसित करता हुआ उन्हें उचित कार्य में प्रवृत्त करता है (कवि की वाणी लोगों को चाहे जिस किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं करती)।

काव्य में वर्णनीय वस्तु का रूप जैसा भी हो, रसवत्ता सदा वक्ता के अधीन होती है। आसक्त व्यक्ति जिसकी प्रशंसा करता है, उसी की विरक्त निंदा करता है और इन दोनों से भिन्न व्यक्ति उससे तटस्थ रहता है।

यथा तथा वास्तु वस्तुनोरूपं वक्तृप्रकृतिविशेषायत्ता तु रसवत्ता तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यमस्तु तत्रोदास्ते। (काव्यमीमांसा)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्वज्जन उक्तिवैचित्र्य द्वारा जिस विषय का वर्णन करते हैं उसकी वास्तविकता नियत नहीं रहती—

वस्तुस्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रो गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये।
स्तुवन्ति बध्नात्यमृतांशुमिन्दुं निन्दँस्तु दोषाकरमाह धूर्तः॥

अर्थात् काव्य में वर्ण्य विषय का स्वरूप कवि के वर्णन के अधीन रहता है। वह चाहे तो किसी वस्तु को गुणयुक्त कह सकता है और उसी को गुणहीन भी। चंद्रमा की स्तुति के प्रसंग में उसके लिये 'अमृतांशु' शब्द का प्रयोग मिलता है और निंदा करते समय वही चंद्रमा 'दोषाकर' के रूप में सामने आता है।

जो कवि के पद को शीघ्र प्राप्त करना चाहें उन्हें सभी श्रुतियों और शास्त्रों का उसी प्रकार आसेवन करना चाहिए जिस प्रकार रोग दूर करने की इच्छा करनेवाले औषध का सेवन करते हैं। काव्यमीमांसा में कहा गया है—

श्रुतीनां साङ्गशाखानामितिहासपुराणयोः।
अर्थग्रन्थ कथाभ्यासः कवित्वस्यैकमौषधम्॥

परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रुति आदि का वर्णन करने की शक्ति से संपन्न व्यक्ति भी यदि शुष्क वर्णन करता है तो वह वस्तुतः कवि नहीं है, उतना कार्य तो इतिहास आदि से भी हो जाता है। साहित्यदर्पण के शब्दों में—

न हि कवेरितिवृत्तमात्रवर्णनेन आत्मपदलाभः इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः।

अर्थात् केवल इतिवृत्त का वर्णन करने से किसी कवि की रचना सरस नहीं कही जा सकती, इतिवृत्त मात्र का वर्णन तो इतिहास आदि में ही प्रस्तुत रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि रस ही काव्य का जीवन तत्त्व है।

काव्य में रस की ही परम शोभा होती है इसलिये भरत ने नाट्यशास्त्र में रस की ही प्रधानता बतलाई है। आदिकवि वाल्मीकि की वाणी *रसमयी* होकर ही आविर्भूत हुई थी—

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद्भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

अर्थात् महर्षि ने समान अक्षरवाले चार पदों द्वारा जिसका गान किया, वही शोक बाद में श्लोकत्व को प्राप्त हुआ। आनंदवर्धनाचार्य ने भी ध्वन्यालोक में इसी की पुष्टि की है—

१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

यहाँ यह शंका उठती है कि शोक तो चित्त की एक वृत्ति है, अतः यह शब्दार्थ रूपी श्लोक में परिणत नहीं हो सकती। बात ठीक है। सांख्यवादियों के मतानुसार जिस प्रकार मिट्टी आदि पदार्थ अपने मूल रूप को न छोड़ते हुए घट आदि के रूप में परिणत हो जाते हैं, उस प्रकार यहाँ शोक का श्लोक में परिणत होना अभिप्रेत नहीं है। यहाँ परिणाम का अर्थ कुछ और ही है। परिणाम यहाँ कार्यरूप है, जैसे वृक्ष का फल के रूप में परिणत हो जाना। शोक के आस्वाद के अनंतर आदिकवि के हृदय में एकाएक श्लोक का आविर्भाव हुआ। अर्थात् 'यो यदनन्तरः स हि तदुदितः' (जो जिसके उपरांत होता है वह उससे उत्पन्न होता है) इस न्याय से शोक श्लोक के रूप में परिणत हुआ।

भरत आदि आचार्यों द्वारा उपस्थापित लक्षणों और वाल्मीकि आदि के काव्यों से ज्ञात होता है कि वाक्य में रस से उत्पन्न होनेवाला या रसरूप चमत्कार ही उत्कृष्ट वस्तु है। भामह ने भी रस की विशेषता स्वीकार की है, पर रसवत् अलंकार के रूप में। वे रस की प्रधानता नहीं मानते, क्योंकि वे अलंकार संप्रदाय के अनुयायी हैं। उनके मतानुसार रस अलंकार है। दंडी का भी रस के संबंध में यही मत है। रीतिवादी वामनाचार्य औचित्यरूप कांति नामक गुण में ही रस का अंतर्भाव मानते हैं। रस को अलंकार माननेवाले भामह आदि की अपेक्षा वामन के के अनुसार रस की अंतरंगता अधिक सिद्ध होती है; क्योंकि अलंकार शब्द और अर्थ में रहने के कारण बहिरंग पदार्थ हैं, और गुण रस में रहने के कारण अंतरंग।

रस की निष्पत्ति के विषय में चार प्रसिद्ध मत हैं। लोल्लट उत्पत्तिवादी, शंकुक अनुमितिवादी, भट्टनायक भुक्तिवादी और अभिनवगुप्त व्यक्तिवादी हैं। सांप्रदायिकों का मत है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अभिनवगुप्त का ही मत अधिक प्रामाणिक है।

भरत का सूत्र है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'। धनंजय के मतानुसार इस सूत्र का अर्थ यह जान पड़ता है कि दृश्य एवं श्रव्य काव्य में प्रतिपादित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का, सामाजिकों में वासनारूप से रहनेवाले स्थायी भाव से संयोग होने पर, सामाजिकों में ही रस की निष्पत्ति होती है। इसीलिये धनंजय ने कहा है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्ष्यमाणस्वरूपैः विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैः काव्योपात्तैः अभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः। तेन रसिकाः सामाजिकाः। काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवत् आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशवत्।

अर्थात् वाक्य में वर्णित अथवा अभिनय द्वारा प्रकटित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव द्वारा श्रोताओं तथा दर्शकों के हृदय में विशेष परिणाम को प्राप्त होकर अतिशय आनंदरूप आस्वाद को प्राप्त होता हुआ स्थायी भाव (रति आदि) रस है। इसी से रस का आस्वादन करनेवाले सामाजिक *रसिक* कहलाते हैं और उक्त प्रकार की आनंदानुभूति का कारण काव्य *रसवत्* कहा जाता है। यहाँ रसवत् प्रयोग 'आयुर्घृतम्' की भाँति है।

अभिनवगुप्त, धनंजय और रसगंगाधर का मत है कि जिनका अभिनय किया जाता है उनको लौकिक रस का आस्वाद होता है, और सामाजिकों को अलौकिक रस का। नायक-नायिका के शृंगार के हेतुरूप विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी का वर्णन सुनकर या अभिनय देखकर रसिकों के हृदय में साधारणीकरण नामक व्यापार द्वारा, व्यक्ति की भावना से परे, केवल आनंदरूप जो परम रसपरिपाक प्रतीत होता है वही *अलौकिक रस* कहा जाता है। इससे यही प्रतीत होता है कि रस-दशा में काव्य में प्रतिपादित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी तथा रसिकों के हृदय में रहनेवाले स्थायी भाव गृहीत होते हैं। जिस प्रकार नायक आदि की चित्तवृत्ति में विद्यमान रति आदि स्थायी भावों के उद्दीपन के लिये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार सामाजिकों के चित्त में स्थित स्थायी भावों के उद्दीपन के लिये भी विभाव आदि आवश्यक हैं। दोनों प्रक्रियाओं में भेद इतना ही है कि नायक-नायिका में विद्यमान रति आदि को उद्दीप्त करने के लिये कारणरूप विभाव आदि प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होकर यथार्थ प्रतीत होते हैं, और रसिकों के विभाव आदि का, कल्पना से उपस्थापित होने के कारण साधारणीकरण हो जाता है। इसी से वे असत्य प्रतीत होते हैं। काव्यगत नायक-नायिका अपने चित्त में स्थित रति आदि के उद्दीपन के लिये अपने परिमित ज्ञान से अपने ही उपभोग के लिये विभाव आदि का ग्रहण करते हैं। उनके ज्ञान के परिमित और लौकिक होने के कारण उनसे संबद्ध रस *लौकिक* कहा जाता है। नायक-नायिका में रस उत्पन्न करनेवाली जितनी भी रस-सामग्री होती है वह कल्पना से साधारणीकरण द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिकों को प्रत्यक्ष रूप से उपस्थापित प्रतीत होती है। अतः सामाजिक जिस रस का आस्वाद करते हैं वह *अपरिमित* और *अलौकिक* कहा जाता है।

धनंजय ने कहा है कि काव्य में वर्णित नायक के विभाव आदि और सामाजिक के स्थायी भाव रस-निष्पत्ति के कारण हैं। कुछ लोग इसे नहीं मानते। उनका अभिप्राय इस प्रकार है कि प्रत्येक स्थल में अनुभाव और व्यभिचारी भाव काव्य में वर्णित व्यक्ति के नहीं हो सकते।

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ।*

इस पद्य में बीभत्स रस व्यंग है। यहाँ निष्ठीवन, वमन आदि के घृणा आदि अनुभाव प्रेतरंक में नहीं प्रकट होते, अपितु सामाजिकों में उत्पन्न होते हैं। इसका कारण यह है कि सड़े हुए, कृमिसंकुल और उत्कट दुर्गंध से युक्त शव का भक्षण करनेवाले पिशाच को देखकर सामाजिकों में ही जुगुप्सा उत्पन्न होने पर उक्त अनुभावों तथा आवेग आदि व्यभिचारी भावों का आविर्भाव होता है। उक्त प्रकार के शव का भक्षण करनेवाले पिशाचों को तो आनंद की ही अनुभूति होती है। इससे यह अर्थ निकला कि बीभत्स रस में विभाव आदि सामाजिक के ही होते हैं, काव्य में वर्णित व्यक्ति के नहीं।

हास्य का प्रकरण भी ऐसा ही है। अपने को वीर माननेवाला कोई व्यक्ति जब घने अंधकार में रस्सी को साँप समझ बैठता है, तब डर के मारे जोरों से चिल्लाता है और अपना वस्त्र छोड़ कर भाग खड़ा होता है। इस प्रकार का वर्णन

---

* उतिन उतिन चाम फेरि ताहि काढ़त हैं,
लोथि को उठाइ भखैं ऐसे बे अतंक हैं।
सन्यो माँस कंधों जाँघ पीठ औ नितंबनु कौ
सुलभ चबाइ लेत रुचि सों निसंक हैं॥
रौंथि डारैं नाड़ी नेत्र आँत औ निकारैं दाँत
लिथरे सरीर जिन सोनित की पंक हैं।
अस्थिनु पै ऊँचौ नीचौ और तिन बीचहू कौ
धीरे धीरे कैसे मास खात प्रेत रंक है॥
(मालती माधव, सत्यनारायण कविरत्न कृत अनुवाद, ५।१६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुनकर सामाजिक हँसते हैं। यहाँ काव्यगत व्यक्ति के लिये भयानक रस के विभाव आदि होते हैं और सामाजिकों के लिये हास्य रस के विभाव आदि। यही सब विचार कर पंडितराज ने लिखा है कि रति, क्रोध, उत्साह, भय, विस्मय और निर्वेद में जिस प्रकार आलंबन और आश्रय का ज्ञान होता है उस प्रकार हास और जुगुप्सा में नहीं होता। हास और जुगुप्सा में आलंबन मात्र की प्रतीति होती है। यदि यह कहें कि रस के आस्वाद के अधिकरण रूप में पद्य का श्रोता लौकिक हास और जुगुप्सा का आश्रय नहीं हो सकता, तो ठीक ही होगा। उसके लिये एक द्रष्टा पुरुष का आक्षेप करना पड़ेगा। आक्षेप न करने पर अपनी कांता के वर्णन से संबंध रखने वाले पद्य को सुनकर श्रोता में रस का उद्बोध नहीं होगा--

ननु रतिक्रोधोत्साहभयनिर्वेदेषु प्रागुदाहृतेषु यथालम्बनाश्रययोः सम्प्रत्ययः न तथा हासे जुगुप्सायां च तत्रालम्बनस्यैव प्रतीतेः पद्यश्रोतुश्च रसास्वादाधिकरणत्वेन लौकिक हास जुगुप्साश्रयत्वानुपपत्तेरिति चेत् सत्यं तदाश्रयस्य द्रष्टृपुरुषविशेषस्य तत्राक्षेप्यत्वात् तदनाक्षेपे तु श्रोतुः स्वीय कान्तावर्णनपद्यादिव रसोद्बोधे बाधकाभावात्।

रस की चर्वणा का आश्रय कौन, किस प्रकार होता है, इसका विचार हो चुकने के बाद अब यह देखना चाहिए कि चर्वणा की प्रक्रिया क्या है। पहले पदों का ज्ञान होता है। यह ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक तो पदार्थ का स्मरण और दूसरे उसका श्रवण। इसके अनंतर व्यवहार आदि की साधनभूत अभिधा से अनेक अर्थों की उपस्थिति होती है, और संयोग से लेकर स्वर तक जितने अर्थनियामक * हैं उनसे तात्पर्य का ज्ञान होता है। इसके पश्चात् अभिधा वृत्ति से प्रतिपादित पदार्थों के संबंध का बोध होता है और जहाँ इस संबंध से अर्थ की उपस्थिति में बाधा होती है वहाँ लक्षणावृत्ति से पदार्थों के संबंध का अनुभव होता है। तब सहृदयों को सहृदयता के उद्रेक और काव्य-वासनारूप प्राक्तन संस्कार आदि की सहायता से व्यंजना वृत्ति द्वारा वस्तु, अलंकार और रति आदि व्यंग्य का अनुभव होता है। व्यंग्यार्थ के बोध में अभिधा या लक्षणा द्वारा प्रतिपादित अर्थ का ज्ञान कारण होता है। यदि उक्त अर्थ सहायक न हो तो सहृदयता, व्यंजना वृत्ति और काव्य-संस्कार के रहते हुए भी व्यंग्यार्थ का ज्ञान पहले नहीं होगा।

---

* संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार व्यंग्यार्थ संबंधी बोध हो चुकने के बाद जब रजोगुण और तमोगुण का तिरोधान हो जाता है और सत्य का प्रकाश होता है तब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के साधारणीकरण रूप व्यापार से विभाव आदि से मिश्रित रति आदि के आकार को प्राप्त अंतःकरण वृत्ति उदित होती है। इस अवस्था में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भाव के सामान्य धर्म और राम, सीता आदि नायक-नायिका के विशेष धर्म का ज्ञान उसी प्रकार नहीं रह जाता जिस प्रकार दही में परिणत होने की स्थिति में दूध के धर्म का ज्ञान नहीं होता। आवरण-भंग के बाद वृत्ति में स्वप्रकाश रूप आनंदात्मक चित् का प्रतिबिंब पड़ता है। यह क्रिया उसी प्रकार होती है जिस प्रकार ढालू भूमि पर रोका गया पानी विलासपूर्वक इधर-उधर फैलता है। इसके बाद ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है जिसमें चित् और चैतन्य का अभेद प्रतीत होता है और उक्त वृत्ति चिन्मयी हो जाती है। यदि ऐसा न हो, तो विभाव आदि के आधार को प्राप्त हुई वृत्ति की स्वप्रकाशता किसी प्रकार उपपन्न भी हो जाय तो भी उसकी आनंदात्मकता सिद्ध नहीं हो सकती। चर्वणा मात्र होने से उक्त वृत्ति को सुखात्मक कहना इस बात को किसी प्रभु के आदेश और शपथ लेकर सिद्ध करने के समान है।

चित् का प्रतिबिंब ही आभास कहा जाता है और इसी से उसका अनुमान होता है। एतावता वह साक्षिभास्य कहा जाता है। इस दृष्टि से कवियों द्वारा किए गए वर्णन पर विचार करने पर रस के विषय में यह निश्चय होता है कि—

क—वह चित् के प्रतिबिंब से भासित होनेवाले विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव से मिश्रित रति आदि स्थायी भाव के आकार को प्राप्त चित्तवृत्ति है।
ख—या, उक्त प्रकार की वृत्ति से उपहित अथवा विशेषित चित् है।
ग—या, चित्त को विशेषित करनेवाली तथा उसकी उपाधिभूत वृत्ति है।
घ—या, उक्त प्रकार की चित्तवृत्ति के रूप को प्राप्त रति आदि स्थायीभाव है।

उक्त वृत्ति कुछ कारणों से उत्पन्न होती है अतः रस को भी उत्पाद्य कहा जा सकता है। उक्त प्रकार की वृत्ति से अभिव्यक्त, उपहित या विशेषित चित् ही वस्तुतः रस है। एतावता अभिव्यक्ति के आधार पर उसे गौण रूप से जन्य भी मान सकते हैं। चित् के अंश के आधार पर उसमें प्रधान रूप से नित्यता, स्वप्रकाशता और आस्वादरूपता का व्यवहार होता है। यद्यपि चिदानंदरूप रस एक है तथापि उसकी उपाधिरूप उक्त वृत्ति के विभिन्न प्रकार के विभाव, अनुभाव, संचारी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थायी भावों से उत्पन्न होने के कारण रस में भी अनेकता आ जाती है। इस प्रकार 'रसो वै सः', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति' इत्यादि श्रुतियों के विरोध का परिहार भी हो जाता है। 'रसो वै सः' में 'रस' पद से 'चिदात्मक रस' अर्थ लिया जायगा और 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति' में इससे 'वृत्तिरूप रस' का बोध माना जायगा। इसीलिये ग्रंथकारों ने भरत के सूत्र में आए हुए 'निष्पत्ति' पद का अर्थ 'उत्पत्ति' और 'अभिव्यक्ति' दोनों किया है।

इस प्रकार सहृदयों, सामाजिकों और कवियों के लिये रस का आस्वाद ब्रह्मास्वादरूपी नगर में प्रवेश के लिये गोपुर के समान है, क्योंकि उतने ही तक पहुँचने से ब्रह्मास्वादरूपी नगर में प्रवेश नहीं हो सकता। ब्रह्मास्वादरूपी नगर में शुद्ध सच्चिदानंदरूप अद्वितीय आत्मा का ही प्रकाश रहता है। यह भूमिका 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों के उपदेश से 'नेति नेति' का अनुभव होने और समस्त प्रपंचों के नाश के बाद प्राप्त होती है। साहित्य के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से होनेवाला रसास्वाद *ब्रह्मानंदसहोदर* मात्र है, *ब्रह्मास्वादरूप* नहीं। अतः कविगण कोमल मतिवाले राजकुमारों आदि को ब्रह्मास्वादरूपी नगर के गोपुर तक ही पहुँचाते हैं; प्रवेश तो औपनिषद विद्या द्वारा ही हो सकता है। यह मार्ग कल्याणकर और सर्वसम्मत है। साहित्यदर्पणकार ने लिखा भी है—

मोक्षप्राप्तिश्च मोक्षजनकशास्त्रेषु व्युत्पत्त्याधायकतया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंधकारयुगीन कौशांबी

[श्रीपरमेश्वरीलाल गुप्त]

मौर्य साम्राज्य के पतन और गुप्त साम्राज्य के उदय के बीच का काल भारतवर्ष के इतिहास में अंधकार युग समझा जाता रहा है। इस काल का इतिहास प्रायः लुप्त था। पिछली कुछ शताब्दियों के अनुसंधान के फलस्वरूप इस काल का इतिहास अंधकार से बाहर आया है और उसका कुछ शृंखलाबद्ध इतिहास भी तैयार हो सका है; फिर भी इस युग को अभी तिमिरमुक्त नहीं कह सकते। ऐसे ही तिमिराच्छन्न इतिहास के पृष्ठों में कौशांबी का इतिहास छिपा हुआ था।

कौशांबी की स्थिति महाभारत काल से है। बौद्धकालीन साहित्य में उसकी अत्यधिक चर्चा है। मौर्यों के पहले वह वत्स महाजनपद की राजधानी थी और उसकी गणना देश की छः महानगरियों में होती थी। उन दिनों वह व्यापार और यातायात का केंद्र थी और उसकी यह स्थिति बहुत दिनों तक बनी रही। यमुना-तट पर स्थित होने के कारण तक्षशिला, श्रावस्ती, बाराणसी, राजगृह और वैशाली की तरह वह समृद्ध थी। वहाँ के राजा उदयन के प्रेमपरायण जीवन ने साहित्यस्रष्टाओं को अपनी ओर आकृष्ट किया और लगभग आधे दर्जन काव्य और नाटक उसके विषय में लिखे गए। कलाकारों ने भी उसकी कथा को मृत्फलकों पर बड़ी कुशलता के साथ अंकित किया है।

उदयन के मगध और अवंती के साथ होनेवाले संघर्षों के अतिरिक्त यदि कुछ अधिक ज्ञात है तो इतना ही कि इलाहाबाद दुर्ग में स्थित स्तंभ पहले कौशांबी में था। उसपर अशोक के धर्मलेख और समुद्रगुप्त की प्रशस्ति अंकित है और इन दोनों के बीच लगभग छः शताब्दी का अंतर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी हाल में प्रयाग विश्वविद्यालय ने वहाँ के ध्वंसावशेषों के कुछ अंशों की खुदाई की है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस खुदाई में प्राप्त सामग्री से गंगा की घाटी का ई० पू० दो सहस्र शताब्दियों का इतिहास प्रकाश में आएगा। काली रेखाओं से युक्त लाल रंग की मिट्टी के कुछ ऐसे बर्तन खुदाई के निम्न स्तर से प्राप्त हुए हैं जो हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो के बर्तनों से बहुत सादृश्य रखते हैं। बहुत संभव है कि उनके अध्ययन से गंगाघाटी की, सिंधु-घाटी की सभ्यता के साथ न केवल समकालीनता ज्ञात हो, वरन् यह भी पता चले कि उन दोनों का पारस्परिक संबंध भी था।

इस खुदाई से कौशांबी के इतिहास का कितना अंश सामने आएगा यह अभी कहना कठिन है। किंतु वहाँ से समय समय पर जो सिक्के प्राप्त होते रहे हैं और जिनका एक बहुत बड़ा भाग प्रयाग संग्रहालय में संगृहीत है, उनसे मौर्यों के पतन और गुप्तों के उदय के बीच के ६०० वर्षों का इतिहास विगत कुछ वर्षों में अद्भुत रूप से सामने आया है। सिक्कों द्वारा भारत के अज्ञात इतिहास पर प्रकाश पड़ना सर्वथा नूतन तो नहीं है, क्योंकि सिक्कों के सहारे ही हम पंजाब के उन यवन शासकों से परिचित हो सके थे जो ई० पू० कई सौ वर्षों तक वहाँ शासन करते रहे; किंतु जिस प्रकार का शृंखलाबद्ध इतिहास कौशांबी के ये सिक्के प्रस्तुत करते हैं वह अन्यत्र प्राप्त नहीं है। प्रस्तुत लेख में सिक्कों के आधार पर शासकों का जो क्रम सुझाया जा रहा है। वह सिक्कों पर अंकित लिपि के सहारे ही है। इस क्रम में काफी उलट-फेर की गुंजाइश नये प्रमाणों के मिलने पर हो सकती है। इसलिये इस वंशक्रम को हम संभावित रूप में ही उपस्थित कर रहे हैं।

घोष वंश

कौशांबी के अब तक जो प्राचीनतम अभिलेखयुक्त सिक्के प्राप्त हुए हैं उनसे हमें वहाँ के दो शासकों, *अश्वघोष* और *ववघोष* के नाम ज्ञात होते हैं। ववघोष के सिक्कों की लिपि से जान पड़ता है कि वह ई० पू० तीसरी शताब्दी के अंतिम भाग में किसी समय प्रचलित किया गया होगा।[1] अश्वघोष उसके बाद हुआ, किंतु यह कहना कठिन है कि वह तत्काल ववघोष के बाद हुआ, क्योंकि उसके सिक्के की लिपि ई० पू० दूसरी शताब्दी के आरंभ की नहीं जान पड़ती।

१—भारतीय मुद्रातत्त्व परिषद् की पत्रिका, भाग ४, पृ० २–४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह कुछ बाद की है।[२] अश्वघोष के सिक्कों की भाँति के *पर्वत* नामक शासक के सिक्के प्राप्त हुए हैं जो भारतीय संग्रहालय[३] कलकत्ता और बिब्लियोथिक नैशनेल (फ्रांस)[४] में हैं। इन सिक्कों से अनुमान होता है कि पर्वत अश्वघोष का तात्कालिक पूर्वाधिकारी अथवा उत्तराधिकारी रहा होगा। बहुत संभव है कि अश्वघोष के साथ उस वंश का, जिसे हम घोष वंश कह सकते हैं, अंत हो गया हो और एक नए वंश का उदय हुआ हो जिसका शासक पर्वत रहा हो। पर्वत के उत्तराधिकारी के रूप में सुदेव के सिक्के प्राप्त होते हैं।[५] जिनके संबंध में कनिंघम का मत है कि वे ई० पू० दूसरी शताब्दी के पूर्वार्ध के बाद के नहीं हो सकते। संभवत: यह वंश भी अधिक दिनों तक अधिकारारूढ़ न रहा। उसका स्थान एक नए वंश ने ग्रहण किया, जिसे हम *मित्र* वंश कह सकते हैं।

मित्र वंश

मित्रवंश का प्रथम शासक संभवत: *मित्र* था। इसका अभी तक केवल एक ही सिक्का ज्ञात हो सका है।[६] इसके बाद संभवत: *राधमित्र* हुआ। इसके सिक्कों की बनावट के आधार पर डाक्टर अल्तेकर का मत है कि वह दूसरी शताब्दी ई० पू० के आरंभ में हुआ होगा। उसका उत्तराधिकारी संभवत: *बृहस्पति मित्र प्रथम* था। सन् १९१२ में मथुरा से सात मील पश्चिम मोरा नामक स्थान से कुछ अभिलेखयुक्त ईंटें मिली थीं। उस अभिलेख में उक्त राजा की पुत्री द्वारा, जो मथुरा के शासक से विवाही थी, मंदिर बनवाने की बात लिखी है।[७] विद्वानों ने इस बृहस्पति मित्र को कौशांबी का शासक अनुमानित किया। उसी शासक के ये सिक्के कौशांबी में काफी पाए जाते हैं।

एलन ने *अग्निमित्र*, *ज्येष्ठमित्र* और *बृहस्पतिमित्र द्वितीय* के सिक्कों का समय द्वितीय शताब्दी का अंत और प्रथम शताब्दी ई० पू० अनुमानित किया है।[८]

२—कनिंघम कृत कॉयन्स ऑव एंशंट इंडिया, फलक ५, १४
३—भारतीय संग्रहालय की मुद्रा सूची, भाग १, फलक २०, ४
४—ब्रिटिश संग्रहालय की प्राचीन भारतीय सिक्कों की सूची, भूमिका पृ० ९६
५—कनिंघम, फलक ५, १०
६—ना० प्र० प०, भाग ८, पृ० ७—८
७—वोगल, जरनल ऑव रायल एसियाटिक सोसाइटी (१९१२), पृ० १२०
८—ब्रि० सं० प्रा० भा० सि० सू०, पृ० ५६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बृहस्पतिमित्र द्वितीय का नाम कौशांबी के निकट पभोसा के एक अभिलेख में अंकित है। यह लेख *उदाक* नामक एक किसी शासक के दसवें बरस का है और उसमें उसके चचा द्वारा बनवाई हुई गुफा की चर्चा है। डाक्टर जायसवाल ने इस लेख के उदाक की पहचान शुंगवंश के पांचवें शासक से की है। पुराणों के आधार पर यह समय १२० ई० पू० होगा। अतः एलन के मतानुसार बृहस्पतिमित्र द्वितीय का समय १२५ से १०० वर्ष ई० पू० होना चाहिए।[९]

ई० पूर्व की प्रथम शताब्दी में *सुरमित्र*[१०], *वरुणमित्र*[११] और *पीठमित्र*[१२] नामक तीन शासकों को रखा जा सकता है। ये शासक किस क्रम से अधिकारारूढ़ हुए, आज बता सकना कठिन है। *पीठमित्र* के सिक्के बहुत कुछ अग्निमित्र और बृहस्पतिमित्र द्वितीय के सिक्कों से मिलते जुलते हैं, इसलिये हो सकता है कि उपर्युक्त तीनों शासकों में वह पहले हुआ हो। डाक्टर अमरनाथ झा को कौशांबी से एक अधूरा अभिलेख मिला था जो आजकल प्रयाग संग्रहालय में है और जिसमें पीठमित्र का नाम पढ़ा जाता है। डाक्टर अल्तेकर उस अभिलेख के पीठमित्र को सिक्के के पीठमित्र से भिन्न मानते हैं, यद्यपि लिपि के आधार पर भिन्नता जैसी कोई बात ज्ञात नहीं होती। प्रयाग संग्रहालय में एक दूसरा अभिलेख है जिसपर *राज्ञो गोतिपुतस वरुणमितस पुतस राज्ञो कोहडी (?) पुतस पुत्तेन* ..लिखा है।[१३] यह लेख प्रथम शताब्दी ई० पू० का है। इस कारण इसकी पहचान सिक्के के *वरुणमित्र* से सरलता से की जा सकती है। इस *वरुणमित्र गोतिपुत्र* के एक पुत्र था जिसकी माता कोहडी थी, ऐसा उक्त शिलालेख से ज्ञात होता है। किंतु उसके सिक्के अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं, इसलिये यह कहना कठिन है कि वह अपने पिता के बाद शासनाधिकारी हुआ या नहीं। यदि उसने शासन किया होगा तो अपने पिता के बाद ही, अतः किसी अन्य शासक को रखने के पूर्व उसके लिये कुछ समय देना होगा। *सुरमित्र* के विषय में कुछ कहना कठिन है। डाक्टर अल्तेकर बृहस्पतिमित्र द्वितीय के बाद ही किसी समय उसके होने की बात सोचते हैं। यदि ऐसा हो तो उसका स्थान पीठमित्र अथवा वरुणमित्र के पहले होगा। मैं उसको वरुणमित्र के पहले रखता हूँ।

९—वही, पृ० ५८

१०—भा० मु० प० प० भाग ४, पृ० ५

११—वही, पृ० ६

१२—वही, पृ० १३३-३४

१३—इंडियन कल्चर, भाग १, पृ० ६९२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ई० पू० प्रथम शताब्दी के अंत और प्रथम शताब्दी के आरंभ में *सर्पमित्र* का स्थान होगा[१४] उसके बाद शताब्दी के प्रथम पचीस वर्षों में किसी समय *प्रजापतिमित्र* हुआ होगा[१५] और उसके बाद *राजमित्र*[१६] शासनारूढ़ हुआ होगा। इस शताब्दी का अंतिम शासक *सतमित्र* या *सत्यमित्र* रहा होगा।[१७] प्रयाग संग्रहालय में जो सिक्का इस शासक का है, उसमें पहले अक्षर का अभाव है इसलिये ठीक नाम बताना कठिन है। इस वंश का अंतिम शासक, जो अभी तक ज्ञात हो सकता है, *रजनीमित्र* था।[१८] उसका समय दूसरी शताब्दी में किसी समय हो सकता है।

कौशांबी से मिले हुए सिक्कों में *नाविक*[१९] और *नव* अंत वाले नाम के कुछ सिक्के[२०] पाए जाते हैं। इनका समय भी प्रथम और द्वितीय शताब्दी अंकित किया जाता है। इनके संबंध में कुछ अधिक कहना कठिन है।

मघ वंश

मित्रवंश के अंत के पश्चात् कौशांबी में *मघ* नामक एक नए वंश का उत्थान हुआ। पुराणों में मित्र वंश की कोई चर्चा नहीं है, पर मघ वंश में नौ शासक होने की बात लिखी है। इस वंश के सर्वप्रथम शासक *भीमसेन* का ज्ञान हमें उसके शिलालेखों से होता है। किंतु उसका कोई भी अभिलेख इलाहाबाद से चालीस मील दक्षिण स्थित गिंजा नामक स्थान के उत्तर प्राप्त नहीं हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि उसका शासन बघेलखंड तक ही सीमित था और कौशांबी पर उसका कोई अधिकार न था। उनकी ज्ञात तिथि शक संवत् ५१ और ५२ है।[२१] इस प्रकार

१४—भा० मु० प्र० प० भाग ४, पृ० १३५

१५—वही, पृ० ७

१६—वही, पृ० १

१७—वही, पृ० १३४-३५

१८—वही, पृ० १०

१९—भा० मु० प० प०, भाग ४, पृ० ११

२०—भा० स० मु० सू०, भाग १, फ० २३, १५-१६; ब्रि० सं० प्र० भा० मु० सू० फ० २१, ४

२१—इस वंश के शिलालेखों की तिथि के संबंध में विद्वानों में घोर मतभेद है। कुछ उसे चेदि संवत् और कुछ गुप्त संवत् मानते हैं; पर मार्शल, कोनो और डाक्टर मोती-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका समय १२० ई० के लगभग होगा। ऊपर हम देख चुके हैं कि द्वितीय शताब्दी के आरंभ में कौशांबी में *रजनीमित्र* का शासन रहा होगा। अतः यह वस्तुस्थिति के सर्वथा अनुकूल है। उसके बेटे *महाराज कौत्सीपुत्र पीठश्री* का पता उसके छः अभिलेखों से लगता है जो बघेलखंड में पाए गए हैं। उनकी तिथि शक संवत् ८६, ८७ और ८८ है। अतः उसका शासनकाल १४० ई० के लगभग हुआ। एक बहुत ही विकृत सिक्के की चर्चा पुरातत्त्व विभाग के सन् १९११-१२ के वार्षिक विवरण में है। वह सिक्का प्रयाग जिले के भीटा नामक स्थान से मिला था और उसपर *प्रस्थ* पढ़ा गया था। वह सिक्का इस शासक का हो सकता है, पर इसकी कोई भी वस्तु कौशांबी के प्रदेश में नहीं मिली है। अतः संभवतः उसका भी कौशांबी पर अधिकार नहीं था।

उसके बेटे *भद्रमघ* अथवा *भट्टदेव* ने संभवतः अपने राज्य का विस्तार उत्तर की ओर किया। हमें उसके शक संवत् ८१ के अभिलेख कौशांबी में प्राप्त होते हैं। वहाँ से मिलनेवाले उसके अन्य अभिलेखों की तिथि शक संवत् ८६ और ८७ है। शक संवत् ९० का उसका एक अभिलेख बांधवगढ़ से मिला है जिसपर उसका नाम *भद्रदेव* और *मददेव* अंकित है। डाक्टर अल्तेकर ने हमारा ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया है कि पिता पीठश्री को बांधवगढ़ में १६६ ई० तक शासन करते देखते हैं, साथ ही पुत्र भद्रमघ को १५९ ई० से ही कौशांबी में पाते हैं; अतः बहुत संभव है कि युवराज भद्रमघ ने अपना शासन बघेलखंड के बाहर अपने पराक्रम अथवा कूटनीतिज्ञता से विस्तृत कर लिया हो और उसके पिता ने उसे उस प्रदेश पर स्वतंत्र रूप से शासन करने दिया हो।[२२] किंतु मेरी दृष्टि में एक दूसरी संभावना जान पड़ती है। वह यह कि उसने कौशांबी का राज्य किसी वैवाहिक संबंध के आधार पर मित्रवंश के निर्वंश होने पर मित्रों से प्राप्त किया होगा। कदाचित् वह मित्रवंश का दत्तक रहा हो और अपने पिता से स्वतंत्र कौशांबी का शासन करता रहा हो और पिता की मृत्यु के बाद उसके प्रदेश का भी शासनाधिकारी हो गया हो।

चंद उसे शक संवत् समझते हैं और अपनी धारणा के पक्ष में पुष्ट प्रमाण उपस्थित करते हैं। डाक्टर अल्तेकर ने भी इसपर गंभीरता से विचार किया है और हम उन्हीं का मत ठीक समझते हैं।

२२—न्यू हिस्ट्री ऑव दि इंडियन पीपुल, भाग ६, पृ० ४३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके और इसके उत्तराधिकारी तीन शासकों *शिवमघ*, *वैश्रवण* और *भीमवर्मन* के सिक्के फतहपुर जिले के सताँव हँसवा नामक स्थान से मिले दफीने से ज्ञात हुए हैं।[२३] *शिवमघ* उसका उत्तराधिकारी था। भीटा की खुदाई में *महाराज गौतमीपुत्रस्य शिवमघस्य* अंकित मुहर मिली थी। यह मुहर उस मुहर से मिलती-जुलती है जिस पर *राज्ञ वससु वसिष्ठीपुत्रस्य श्रीभीमसेनस्य* अंकित है। दोनों मुहरों पर एक से चिह्न इस बात के द्योतक हैं कि *शिवमघ* और *भीमसेन* का संबंध बहुत निकट का था। *भीमसेन* की पहचान ऊपर उसी नाम के एक शासक से की जा चुकी है और उसके तत्कालीन उत्तराधिकारी *पीठश्री* और *भद्रमघ* थे, इसलिये *शिवमघ* का स्थान उनके बाद हो सकता है। किंतु उसका स्थान और भी अधिक पीछे होना संभव है। शक संवत् १०७ का एक अभिलेख है जिसमें वह *महासेनापति भद्रबल* का पुत्र बताया गया है। *भद्रबल* की पहचान लोग *भद्रमघ* से करते हैं। यदि उसे ठीक माना जाय तो *वैश्रवण भद्रमघ* का उत्तराधिकारी रहा होगा और उसके बाद *शिवमघ* हुआ होगा।

वैश्रवण और *शिवमघ* के बाद, उन दोनों के उत्तराधिकार-क्रम के विषय में बिना किसी भी प्रकार की धारणा बनाए, कहा जा सकता है कि *भीमवर्मन* शासक हुआ। उसके दो अभिलेख प्राप्त हुए हैं। एक पर तिथि शक सं० १३० और दूसरे पर १३९ है।

पुराणों में मघ वंश के नौ शासकों के होने की चर्चा है। किंतु प्रयाग संग्रहालय में *शातमघ*[२४], *विजयमघ*[२५], *पुरमघ*[२६] और *युगमघ*[२७] चार और शासकों के सिक्के हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर इस वंश में दस शासक हो जाते हैं। जान यह पड़ता है कि पुराणकारों ने या तो आरंभ के शासक को नहीं गिना है, अथवा पुराणों की रचना उस समय हुई जब यह वंश अभी शासन कर ही रहा था। *भीमवर्मन* के बाद इन चार शासकों का शासन-क्रम किस प्रकार रहा होगा, यह कहना कठिन है। पर धारणा यह होती है कि पहले *शातमघ* और *विजयमघ* हुए होंगे, उनके बाद *पुरमघ* और *युगमघ* हुए होंगे।

२३—भा० मु० प० प० भाग २ पृ० ९५–१०८
२४—वही भाग ५, पृ० १०–१०
२५—वही भाग ४, पृ० ११–१२
२६—वही भाग ८, पृ० ८
२७—वही भाग ८, पृ० ९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मघ वंश का अंत *युगमघ* के साथ हो जाता है या नहीं, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। प्रयाग संग्रहालय में यहाँ के शासक *पुष्पश्री* या *पुष्पश्री* का सिक्का प्राप्त है जो चतुर्थ शताब्दी के आरंभ का अनुमान किया जाता है।[२८] अभी हाल में लखनऊ संग्रहालय के संग्रह में कौशांबी का एक सिक्का आया है जिसपर रुद्र लिखा हुआ है।[२९] संभवतः उसे ही *समुद्रगुप्त* ने विजित करके अपने साम्राज्य का विस्तार किया। दक्षिण विजय के पश्चात् जब *समुद्रगुप्त* अपनी राजधानी को लौटा तो उसे अपने चारों ओर शत्रु ही शत्रु दिखाई दिए, अतः उसने उनका उच्छेदन आरंभ किया। आर्यावर्त के जिन शासकों को इस बार उसने पराजित किया उनमें रुद्रदेव का नाम सर्वप्रथम है। रुद्रदेव नामक किसी अन्य शासक के ज्ञान के अभाव में लोगों का अनुमान रहा है कि वह *वाकाटक* वंश का *रुद्रदेव प्रथम* था। समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा मध्यभारत और पश्चिम की ओर नहीं हुई थी। उसका एरण वाला शिलालेख ही एक ऐसा लेख है जो उसके पश्चिम में किसी सीमा तक जाने का संकेत देता है। किंतु वाकाटक रुद्रसेन के पुत्र *पृथिवीशेण प्रथम* के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उसके अधीन यमुना के दक्षिण से लेकर विंध्य के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश था। इन दोनों का समन्वय करते हुए विद्वानों की यह धारणा रही है कि समुद्रगुप्त ने वाकाटक रुद्रसेन प्रथम से उसके प्रदेश का पूर्वी भाग अर्थात् यमुना और विदिशा के बीच का भाग छीन लिया था। किंतु अब कौशांबी के शासक रुद्र के सिक्के के मिल जाने पर यह कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि *समुद्रगुप्त* की प्रशस्ति में उल्लिखित *रुद्रदेव वाकाटक रुद्रसेन* था। उसकी पहचान कौशांबी के इस रुद्र से करना ही अधिक उचित और वस्तुस्थिति के अनुकूल होगा।

इस प्रकार से कौशांबी के राजनीतिक इतिहास का ६०० वर्षों का पूरा चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाता है, जो इस बात को व्यक्त करता है कि कौशांबी के शासक इन ६०० वर्षों में स्वतंत्र रूप से राज्य करते रहे और उनका ह्रास गुप्त शासकों के उदय होने पर ही हुआ। इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि *कुषाण साम्राज्य* का विस्तार इस राज्य को पार कर काशी अथवा पाटलिपुत्र तक नहीं हुआ था। यदि हुआ होता तो यह स्वतंत्र राज्य इतने काल तक अक्षुण्ण न बना रहता, कुषाण शासकों ने उसे कुचलकर कभी का नष्ट कर दिया होता; क्योंकि

२८—वही भाग ४, पृ० १३६

२९—संग्रहाध्यक्ष से प्राप्तसूचना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काशी अथवा पाटलिपुत्र के लिये जानेवाले राजमार्ग में वह प्रमुख स्थान रखता था। कुषाण शासन में हमें करद अथवा अधीन राजाओं के होने अथवा उनके सिक्के प्रचलित किए जाने का उदाहरण अब तक प्राप्त नहीं है। सारनाथ की बुद्धमूर्ति पर कुषाण तिथि का जो अभिलेख है, उससे यह ज्ञात नहीं होता कि कुषाण क्षत्रप और महाक्षत्रप कभी काशी पर शासन करते थे। उस मूर्ति का दाता एक यात्री था और तीर्थयात्रा के निमित्त आया था। यदि उसने उसपर वनस्फर का नाम अंकित कराया है तो वह केवल अपने प्रदेश के, जहाँ से वह आया था, क्षत्रप के प्रति भक्ति प्रदर्शित करता है, जो स्वाभाविक है। उसे कुषाण शासन का प्रमाण स्वीकार करना उचित न होगा। नए शोधों के प्रकाश में यह प्रश्न नये सिरे से विचारणीय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देवगिरि के यादवों का शासन-प्रबंध

[श्रीविशुद्धानंद पाठक]

प्राचीन भारतीय, विशेषतया दक्षिण-भारतीय इतिहास में देवगिरि के यादवों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद) में अपनी राजधानी स्थापित करने के पहले यादव नृपति श्रीनगर (बंबई प्रांत के नासिक जिले में स्थित आधुनिक सिन्नार[1]) से अपना शासन चलाया करते थे। शासन-प्रबंध की दृष्टि से दोनों राजधानियों को यहाँ एक माना गया है परंतु ऐतिहासिक पुस्तकों में देवगिरि की प्रमुखता होने के कारण उसी के नाम से विषय की चर्चा की गई है। उपर्युक्त दो स्थानों से एक ही यादव वंश ने राज्य किया और उसके उत्कर्ष के दिनों में उसकी शक्ति दक्षिण-भारत के एक प्रमुख तथा सुविस्तृत भाग (मैसूर के उत्तरी-पश्चिमी भाग से लेकर उत्तर में ताप्ती नदी के किनारे तक बंबई प्रांत का आधा निचला भाग—प्रायः सारा आधुनिक मराठी भाषाभाषी प्रांत) पर स्थापित थी। इतने बड़े भूखंड पर शासन करने के लिये यादवों ने निश्चय ही अपनी एक विशिष्ट शासन-पद्धति प्रचलित की होगी। उसी पद्धति का एक विवेचन प्रस्तुत करने का इस लेख में प्रयत्न किया जायगा।

समय के राजनीतिक प्रचलन के अनुसार देवगिरि के यादवों के शासन का स्वरूप भी राजतंत्रीय ही था। प्रत्येक प्रकार की शक्ति अथवा अधिकार का निवास राजा में था और वही राज्य का सर्वोच्च अधिकारी था। देवगिरि के सुविस्तृत राज्य में उन सामंतों का भी सन्निवेश था, जिन्होंने यादवों की अधिसत्ता को स्वीकार कर लिया था। कदंबनृपति सोवदेव को सिंहण द्वितीय (१२१० ई० से १२४६ ई० तक) के दक्षिणस्थ मंडलेश्वर (सूबेदार) ने हराया था, परंतु कालांतर में कदंब राज्य पुनः सोवदेव के वंशज षष्ठवर्मन् को लौटा दिया गया[2]

१—जर्नल ऑव् इंडियन हिस्ट्री (मद्रास), जिल्द ५ पृष्ठ १९८

२—इंडियन ऐंटीक्वेरी, जिल्द १४, पृष्ठ २८८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उसने सामंत के रूप में शासन आरंभ किया। आधुनिक धारवाड़ जिले पर शासन करनेवाले गुत्त (गुप्त) लोग भी हराए गए थे, परंतु उन्हें भी अपने क्षेत्र पर शासन करने की आज्ञा यादवों से प्राप्त हो गई थी।[3] ये उदाहरण यादव राज्य में सामंत तत्त्व की स्थिति के पक्ष में अलं हैं।

केंद्रीय शासन —

राजा ही शासन का प्रधान होता था। सिद्धांततः तो उसकी शक्ति अमर्यादित थी, परंतु कार्यतः ऐसी बात नहीं थी। राजधर्म के नियमों, ब्राह्मणों एवं संन्यस्त यतियों के उपदेशों तथा साधारण जनता की इच्छाओं की अवहेलना साधारणतया नहीं होती थी। राजा के मुख्य कर्त्तव्य तीन हुआ करते थे—(१) शासन-संबंधी (२) न्याय-संबंधी तथा (३) सैनिक। वह राज्य की संपूर्ण कार्यकारिणी का प्रधान होता था और न्याय की दृष्टि से सर्वोच्च न्यायाधीश समझा जाता था। पर सबसे मुख्य तो था उसका सैनिक कर्त्तव्य। यादवों ने देवगिरि को केंद्र बनाकर उस समय शासन किया था जब भारतवर्ष सैनिक तथा शासन की दृष्टियों से अनेक टुकड़ों में विभक्त था। नर्मदा से उत्तर के भारतवर्ष पर प्रायः मुसलमान आक्रमणकारियों का शासन स्थापित हो चला था एवं उसके दक्षिण भी अनेक प्रतिद्वंद्वी हिंदू राजाओं की राजनीतिक तथा सैनिक होड़ चल रही थी। भारतीय इतिहास में राष्ट्रकूटों एवं प्रतिहारों के समय से जिस सैन्य युग का प्रारंभ हुआ, उसका अभी अंत नहीं हुआ था। ऐसे युग में यादव नृपतियों में सैनिक योग्यता तथा तत्संबंधी कर्त्तव्यों को निभा सकना ही राज्य के लिये सबसे बड़ा प्रमाणपत्र हो सकता था। वस्तुतः ये गुण उन राजाओं में थे भी। उन्होंने सेना का पूर्ण संघटन ही नहीं किया, अपितु अवसर उपस्थित होने पर उसे युद्धक्षेत्र में ले जाकर अपने रण-कौशल का परिचय भी दिया।

दुर्भाग्यवश हमें राजदरबार के अधिकारियों का विशेष विवरण नहीं प्राप्त होता, पर उस समय की प्रथाओं तथा द्वारसमुद्र के हयसालों के लेखों के आधार पर अनुमान से तद्विषयक एक चित्र खींचा जा सकता है। राजा के अंगरक्षक होते थे तथा प्रतिहारों की भी व्यवस्था थी। अंतःपुर के अधिकारी को 'अन्तपयासित'[४] कहते थे। देवगिरि के यादवों से संबंधित कुछ लेखों में इस प्रकार के

३—रायल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका, बंबई शाखा, जिल्द १५, पृष्ठ ३८९

४—मैसूर विश्वविद्यालय की पत्रिका, जिल्द ३, भाग १, पृष्ठ ९७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ और अधिकारियों का भी वर्णन है। सिंहण द्वितीय (१२१० ई० से १२४६ ई०) के एक दानपत्र[५] में दामोदर नामक पुरोहित, केवदी नामक तांबूल-वाहक एवं देवधर नामक दंडाधिकारी का वर्णन है। कृष्णदेव (१२४६ ई० से १२६० ई०) के एक दूसरे लेख[६] में सर्वेश्वरदेव नामक पुरुष को राजगुरु बतलाया गया है, पर यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि यह पद कोई दरबारी पद था अथवा मंत्रिमंडल में से ही एक था।

मंत्रिपरिषद्—

प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति में मंत्रिपरिषद् का एक अविच्छेद्य स्थान था। यादव राज्य भी इस नियम का अपवाद नहीं था। कृष्ण यादव (१२४६ से १२६० ई०) के एक लेख में देवगिरि में राजसभा की चर्चा प्राप्त होती है।[७] उसी शासक के एक लेख में मंत्री की तुलना स्वयं राजा की जिह्वा तथा दाहिने हाथ से की गई है।[८] ऐसा प्रतीत होता है कि राजा अलग अलग मंत्रियों की राय से ही संतुष्ट नहीं हो जाता था, अपितु सारा मंत्रिमंडल ही एक इकाई था। आजकल की तरह संयुक्त उत्तरदायित्व की कल्पना तो उन दिनों के शासन के संबंध में नहीं की जा सकती, परंतु मंत्रिमंडल में किसी समान नीति का अवलंबन तो अवश्य ही होता रहा होगा। विशेष विषयों पर राय देना ही इस मंत्रिमंडल का कार्य होता था और राजा बिना उनकी राय के कोई भी कार्य नहीं करता था। किसी धार्मिक संस्था को एक दूकान की आय का दान करने जैसे साधारण कार्य के लिये भी सेउणचंद्र द्वितीय को अपने मंत्रिमंडल की राय लेनी पड़ी थी।[९] भिल्लम पंचम ने भी इसी प्रकार का एक दान अपने मंत्री जैत्रसिंह के कहने पर किया था।[१०] दानपत्र में उपर्युक्त मंत्री राजा का 'दाहिना हाथ' कहा गया है। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि यादव राजाओं ने मंत्रिमंडल का भरपूर आदर किया तथा उनमें से किसी ने भी मंत्रियों की राय की कभी अवहेलना नहीं की। यही नहीं, कभी कभी तो सारा राज्य-संचालन भी योग्य मंत्रियों के हाथ में चला

५—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का लेख सं० ३९१

६—रायल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका, बंबई शाखा, जिल्द १२ पृष्ठ ३८

७—वही, पृष्ठ ४४, "राजसदसिदेवगिरौ"।

८—इंडियन ऐंटीक्वेरी, जिल्द १४ पृ० ६९

९—वही, जिल्द १२, पृष्ठ १२६

१०—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ३, पृष्ठ २१९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता था। थाना दानपत्र में रामचंद्र के मंत्री हेमाद्रि को 'समस्त हस्तिचालकों का पर्यवेक्षक, मंत्रियों का मणिमुकुट, समस्त राज्यकोष का विधायक एवं उनकी (हेमाद्रि की) कृपा से प्राप्त समस्त राज्य का शासक' कहा गया है।[११] वे रामदेव के श्रीकरणाधिप अर्थात् पटल विभाग के मुख्य अधिष्ठाता भी थे। पुनः इसी प्रकार रामचंद्र के एक दूसरे मंत्री की योग्यता तथा पद का वर्णन प्राप्त होता है। एक लेख में कहा गया है, 'जैसे अनुव राम के लिये थे, उसी प्रकार मंत्री तिप्प रामचंद्र (यादव) के लिये हैं—भरपूर स्वर्णयुक्त एवं खेतिहरों की सभा में सर्वप्रधान। मेरा धन नष्ट नहीं होगा, आठों दिशाओं से भेंट आती जायगी तथा राज्य वृद्ध नहीं होगा। ऐसा कहकर रामचंद्र ने समस्त राज्य को तिप्परस के हाथों सौंप दिया।'[१२]

मंत्रियों की योग्यता का उनकी नियुक्ति के अवसर पर अवश्य ध्यान रखा जाता होगा। महादेव के दो मंत्रियों, छत्तराज और कुम्मराज को 'ब्रह्म, क्षत्र और धीरता' के गुणों से पूर्ण बताया गया है।[१३] अनेक प्रकार की योग्यताओं में सैनिक योग्यता का भी प्रधान स्थान था और कुछ लेखों से ज्ञात होता है कि यादवों ने नायकों, महाप्रचंड नायकों तथा प्रधानों एवं महाप्रधानों को अपने मंत्रिमंडल में स्थान दिया था।[१४] इन नियुक्तियों में कौटुंबिक संबंध, शासनसंबंधी योग्यता, वीरता तथा राजभक्ति का कुछ कम स्थान न रहा होगा। वंशपरंपरागत मंत्रित्व का भी वर्णन प्राप्त होता है। कवि जल्हण-रचित सूक्तिमुक्तावली से ज्ञात होता है कि जल्हण का परिवार वंशपरंपरा से यादवों की हस्तिसेना का संचालन करता रहा।[१५]

यादव-राज्यकालीन मंत्रिमंडल के सदस्यों की संख्या नहीं निश्चित की जा सकती। यह आवश्यकतानुसार घटती-बढ़ती रहती थी। श्रीनगर के यादव राजा सेउणचंद्र द्वितीय, जिनके वंशजों ने आगे चलकर देवगिरि को अपनी राजधानी बना ली, के समय में यह संख्या सात थी। बेसीन लेख में[१६] उन मंत्रियों के नाम और पद निम्नलिखित प्रकार से दिए गए हैं—

११—वहीं, जिल्द १३, पृष्ठ १९८
१२—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ११, देवनगेरी तालुका का लेख सं० ७० तथा ७० ब
१३—वही, जिल्द ७, चन्नगिरि तालुका का लेख सं० २१
१४—इंडियन ऐंटीक्वेरी, जिल्द १२, पृष्ठ ११९
१५—सूक्तिमुक्तावली, गायकवाड़ सिरीज, भूमिका, श्लोक १५-२५
१६—इंडियन ऐंटीक्वेरी, जिल्द १२, पृष्ठ ११९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) श्रीधर—महाप्रचंड दंडनायक (महासेनापति)
(२) वासुदेवैय—महामात्य (महामंत्री)
(३) भभियाक—महाप्रधान नायक (मंत्रियों के प्रधान)
(४) श्रीनायक—सांधिविग्रही (संधि एवं युद्ध मंत्री)
(५) भैवैयनायक—पाटलकरणश्री (पटल अर्थात् कागज़-पत्रों के मंत्री)
(६) श्रीऔपायक—राजाध्यक्ष (विदेश मंत्री)
(७) आमादित्य—महत्तम श्री (जिले का प्रधान अफसर)

उपर्युक्त दानपत्र राजकीय शिक्षक (गुरु) के नाम है और यह कहना बड़ा कठिन है कि वह मंत्रिमंडल में था तथा प्राचीनकालीन पुरोहित के समान था अथवा नहीं। 'महाप्रधान' मंत्रिमंडल का प्रधान होता था। आगे चलकर उसी पद को 'सर्वाधिकारिन्' नाम से संबोधित किया जाने लगा।[१७] हेमाद्रि रामचंद्र के सर्वाधिकारी अर्थात् मुख्य मंत्री थे।[१८] इन मंत्रियों के उत्तरदायित्व में अलग अलग विभागों का बँटवारा होता था। हेमाद्रि[१९] 'श्रीकरण' अर्थात् पटल विभाग, हस्तिचालकों तथा कोष विभाग के लिये भी उत्तरदायी थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मुख्य मंत्री के हाथों में कभी कभी संपूर्ण राज्यसत्ता सौंप दी जाती थी। सिंहण-द्वितीय के एक लेख से ज्ञात होता है कि उसने अपने सर्वाधिकारी राय नायक नारायण मायिदेव पंडित से परामर्श करके तथा उसके हाथों में राज्य-कार्य की सभी चिंता छोड़कर पारिवारिक सुख एवं ऐश्वर्य का भोग किया।[२०] उसी लेख से यह भी पता चलता है कि उक्त मंत्री ने राज्यशासन प्रजा के इच्छानुकूल स्थिर किया, राज्य के सभी शत्रुओं का नाश किया तथा सारी पृथ्वी का भार वहन किया। समस्त राज्य-कार्य का संचालन करना इस बात का प्रमाण है कि उपर्युक्त मुख्य मंत्री ने राजा पर अपना पूर्ण प्रभाव जमा लिया था। आगे चलकर रामदेव के समय में हेमाद्रि ने भी इन अधिकारों का भोग किया था।

यादव राजाओं ने समय और आवश्यकतानुसार मंत्रियों की संख्या में हेर-फेर करना उचित समझा। अमात्य नामक मंत्री माल के शासन का उत्तरदायी होता

१७—वही, जिल्द ७, पृष्ठ ३०४
१८—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १३, पृष्ठ १९८
१९—वही।
२०—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ७, शिकारपुर तालुका का लेख सं० ९५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था।[२१] कोष का उत्तरदायित्व वहन करनेवाले मंत्री को कोषाधिकारी कहते थे।[२२] राज्यशासन में युवराज का स्थान भी प्रमुख होता था। कृष्ण यादव के १२५० ई० वाले लेख से ज्ञात होता है कि उसका छोटा भाई एवं युवराज महादेव उसके लिये उसी तरह था जैसे राम के लिये लक्ष्मण अथवा युधिष्ठिर के लिये अर्जुन।[२३] ऐसा प्रतीत होता है कि युवराज भी शासन-संबंधी महत्त्वपूर्ण पदों का अधिष्ठाता होता था और संभवतः राजा की अनुपस्थिति में गद्दी का भी मालिक होता था।

केंद्रीय शासन के नित्यप्रति के शासन-संबंधी किन्हीं अन्य संघटनों का ज्ञान हमें नहीं प्राप्त होता। पर उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर राज्य और शासन की महत्ता को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि एक सुबृहत् कार्यकारिणी की व्यवस्था रही होगी।

शासन संविभाग—

किसी भी बड़े राज्य की सुस्थिति, शासन की कुशलता, दृढ़ता तथा शीघ्रकारिता पर निर्भर होती है। परंतु उपर्युक्त बातों के लिये शासन का विकेंद्रीकरण आवश्यक है। प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति में विकेंद्रीकरण के सिद्धांत का भरपूर पालन होता था। यादव राज्य भी शासन की सुविधा के हेतु अनेक छोटे बड़े भागों में विभक्त था और प्रायः प्रत्येक छोटा भाग शासन की दृष्टि से तत्समान बड़े भाग का प्रतिरूप सा होता था और आवश्यकतानुसार शासन के संपूर्ण आडंबरों से युक्त होता था।

राष्ट्रकूटों का साम्राज्य, जो दक्षिण-भारतीय इतिहास में एक प्रमुख स्थान रखता है, प्रांतों में विभक्त था, जिन्हें राष्ट्र कहते थे। परंतु यादव राज्य के प्रांतों को 'मण्डल' कहते थे। सिंहण द्वितीय का गवर्नर—महामंडलेश्वर—बल्लालदेव १२१८ ई० में मसवादि देश पर शासन करता था।[२४] इस अवसर पर इन प्रांतपतियों के विरुद 'महामण्डलेश्वर' शब्द पर टीका करते हुए डा० अनंत सदाशिव अल्तेकर का कथन सत्य प्रतीत होता है कि वे लोग सामंतविरुदों का

२१—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २, पृष्ठ २२५
२२—जर्नल ऑव इंडियन हिस्ट्री, जिल्द ५, पृष्ठ २०२
२३—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १९, पृष्ठ १९
२४—बंबई गजेटियर, जिल्द १ भाग २।२, पृष्ठ ५२३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने लिये प्रयोग करने में अधिसत्ताप्राप्त यादवों द्वारा स्वतंत्र छोड़ दिए गए थे।[२५] इसका कारण यह था कि अधिकांश मंडलेश्वर प्रायः उन स्थानीय सामंतों के वंशज थे जिनको देवगिरि के यादवों ने जीतकर अपने राज्यांतर्गत कर लिया था तथा पुनः अपने परंपराप्राप्त क्षेत्रों पर शासन करने की आज्ञा दे दी थी। सिंहण द्वितीय के एक दूसरे प्रांतपति वीरविज्जरस को नगरों में सर्वश्रेष्ठ माहिष्मती का अधीश्वर कहा गया है।[२६] यादवकालीन शासन में प्रांत के लिये दूसरा नाम था 'देश'। सिंहण द्वितीय के ही एक दूसरे लेख में मायिदेव को वनवासी देश का सर्वाधिकारी कहा गया है।[२७] यह कहना बड़ा कठिन है कि यादव राज्य का कितने प्रांतों में विभाजन हुआ था, पर देवगिरि राज्य के बृहदाकार को देखकर यह आसानी से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रांतों की संख्या काफी रही होगी। 'मण्डल' अथवा 'देश' के सिवा प्रांत की एक तीसरी संज्ञा 'नाद' भी थी। कृष्ण यादव (१२४६ ई० से १२६० ई०) के समय एक प्रांत को नाद कहा गया है।[२८]

शासनयंत्र में प्रांत से छोटी इकाई 'विषय' की होती थी। इसकी समानता आजकल के जिले से की जा सकती है। महादेव यादव (१२६० ई० से १२७० ई०) के एक लेख से ज्ञात होता है कि उसके दक्षिणस्थ मंडलेश्वर देवराज ने वासुरा-विषयस्थ चांगुरा नामक ग्राम का दान किया।[२९] विषय के अफसर का नाम प्राप्त लेखों से हमें ज्ञात नहीं होता, परंतु यह कल्पना की जा सकती है कि राष्ट्रकूट शासन की नाईं उन्हें विषयपति कहा जाता होगा।[३०] यादवों का कोई भी ऐसा लेख नहीं प्राप्त होता जिसमें शासन की सुविधा के हेतु विषयों का गाँवों से बड़े किसी अन्य भाग में बँटवारा हुआ हो। पर राष्ट्रकूटों के समय में प्रत्येक विषय भुक्तियों में बँटा हुआ था जिनके प्रधान अधिकारियों को भोगपति[३१] कहते थे। यह संभव प्रतीत होता है कि इस प्रकार के शासन संविभाग यादवकाल में भी वर्तमान रहे हों। कारण, उपर्युक्त

२५—राष्ट्रकूटों का इतिहास (अंग्रेजी में, प्रकाशित १९३४ ई०), पृष्ठ १७४

२६—बंबई गजेटियर, जिल्द १ भाग २।२, पृष्ठ ५२३

२७—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का लेख सं० १३५

२८—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का लेख ४२६

२९—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १३, पृष्ठ १८९

३०—द राष्ट्रकूटज ऐंड देयर टाइम्स, अ० स० अलतेकरकृत, १९३४, पृष्ठ १३६

३१—वही, पृष्ठ १३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों वंशों के राज्य लगभग एक ही प्रदेश पर फैले हुए थे और शासन की दृष्टि से प्राचीन भारतवर्ष में परिवर्तन बहुत कम हुआ करते थे। प्रसंगवश यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि तत्कालीन उत्तर-भारतीय शासन में प्रदेश-संविभाजन की दृष्टि से भुक्ति विषय से बड़ी इकाई होती थी।[३२]

शासनगत व्यवस्था में ग्राम सबसे छोटी इकाई होता था। कभी कभी कई छोटे छोटे गांवों को मिला देते थे और उनकी कार्य-व्यवस्था उनमें से सर्वमुख्य गाँव के नाम चलाते थे। रामचंद्र (१२७१ से १३१२ ई०) के एक लेख से ज्ञात होता है कि वनवल्ली (एक गाँव) जिसे लक्ष्मीनारायणपुर कहते थे, पृथ्वी पर स्वर्ग के समान था तथा उसमें इलेबत्ती, हलेहली तथा जिंगुली नामक तीन पुरवे (छोटे गाँव) सम्मिलित थे।[३३]

प्रदेशों एवं विषयों का शासनयंत्र—

यादव शासन के बहुत ही कम देशों अर्थात् प्रांतों एवं उनके शासकों की चर्चा हमें प्राप्त होती है। दक्षिण का प्रांत प्रायः सभी प्रांतों में सर्वमुख्य था। द्वारसमुद्र के हयसालों की सीमा से लगे रहने के कारण तथा उन राजाओं से यादवों के सर्वदा युद्ध होते रहने के कारण देवगिरि राज्य के दक्षिणस्थ प्रांत का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान था और वहाँ प्रायः कोई सैनिक अधिकारी ही मंडलेश्वर बनाकर भेजा जाता था। सिंहण द्वितीय (१२१० ई० से १२४६ ई०) के समय में विचन नामक एक योग्य सेनापति को इसका प्रांतपतित्व सौंपा गया था[३४] तथा उसके पुत्र चौंडराज ने कृष्ण यादव (१२४६ से १२६० ई०) के समय में उस भार को निभाया।[३५] महादेव के समय में (१२६० ई० से १२७० ई० तक) यह पद देवराज नामक सेनानी के द्वारा अलंकृत होता रहा[३६] तथा रामचंद्र (१२७१ से १३१२ ई०) के समय में सालुव टिक्कमराज को इसका भार सौंपा गया था।[३७] इसकी राजधानी मैसूर-स्थित वेट्टूर नामक स्थान में थी। यादवों का दूसरा प्रांत अथवा

३२—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ४, पृष्ठ २०८

३३—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ११, देवनगेरी तालुका का लेख ७० तथा ७० ब

३४—रा० ए० सो० पत्रिका, बंबई शाखा, जिल्द १५, पृष्ठ ३८६ तथा ३८७

३५—वही, जि० १२, पृ० ४३

३६—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १३, पृष्ठ १८९

३७—लेविस राइस कृत, माइसूर ऐंड कुर्ग इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ १०९-११०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंडल था कोंकण। कृष्ण और रामचंद्र के समय में इस प्रांत का भार अच्युत नायक नामक अधिकारी को सौंपा गया था।[३८] इनके सिवा कुहुंद प्रांत में सिंहणल्ली से विचन का बड़ा भाई मल्ल अथवा मल्लिसेट्टी शासन करता था।[३९] यह प्रांत संभवतः आधुनिक बेलगाँव जिले में स्थित था। इन प्रांतों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रांत का हमें पता नहीं चलता। यादव राज्य का शेष भाग कदाचित् देवगिरि से ही शासित होता रहा हो।

प्रांतों के गवर्नरों को मांडलिक अथवा मंडलेश्वर कहते थे और वे प्रायः सैनिक पुरुष हुआ करते थे। उन्हें अपने अधिपतियों की ओर से युद्ध भी करने पड़ते थे। विचन ने सिंहण द्वितीय की ओर से हयसालों के विरुद्ध युद्ध किया था।[४०] प्रांत में राज्यसत्ता के विरुद्ध उठ खड़े हुए विद्रोहों को भी शांत करना उनका कार्य था।[४१] इन कार्यों में वे अपने नीचे के अफसरों से सहायता लेते थे। इस प्रकार प्रांत के शासकों को अपनी सीमा के भीतर शांति-स्थापना के अतिरिक्त यदि वे राज्य की सीमा पर हुए तो सीमा की रक्षा भी करनी होती थी। राजा की आज्ञा से वे स्थानांतर को भी भेजे जा सकते थे।

प्रांतों में माल का शासन भी उपर्युक्त मंडलेश्वरों के द्वारा ही चलता था। कर-प्राप्ति के वे ही उत्तरदायी थे।[४२] इससे प्रतीत होता है कि प्रांतीय शासन प्रायः संपूर्णतः उनकी देखरेख में था। परंतु ये राजाज्ञा के बिना न तो लगान में कोई छूट दे सकते थे और न किसी भूमि का दान ही कर सकते थे।[४३] प्रांत के सैनिक शासन की भी देखरेख इन्हीं प्रांतपतियों द्वारा होती थी। राष्ट्रकूट राज्य में शासन के इन सभी कार्यों में सहायता पहुँचाने तथा राय देने के लिये प्रांतों में राष्ट्रमहत्तरों की एक समिति होती थी।[४४] राष्ट्र के प्रतिष्ठित लोग एवं संभवतः कुछ अधिकारी भी इसके सदस्य होते थे और मांडलिकों को गंभीर प्रश्नों पर इनसे राय लेनी होती थी।

३८—रायल एशियाटिक सोसायटी पत्रिका, जिल्द २, पृष्ठ २८८; एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ११, देव० तालुका का ७० तथा ७० ब लेख।

३९—रायल एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका, बंबई शाखा, जिल्द १२, पृष्ठ २७

४०—वही, जिल्द १५, पृष्ठ ३८

४१—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का २१७ वाँ लेख।

४२—वही, जिल्द ११, देवनगेरी तालुका का ७० और ७० ब लेख।

४३—इंडियन ऐंटीक्वेरी, जिल्द ७, पृष्ठ ३०३

४४—द राष्ट्रकूटज ऐंड देयर टाइम्स, अ० स० अलतेकरकृत, १९३४, पृष्ठ १७६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यादव राज्य में भी शासन के हेतु ऐसी परामर्शदात्री संस्था की कल्पना की जा सकती है। प्रांत के पूरे शासनयंत्र में केंद्रीय शासनयंत्र की प्रायः पूरी नकल पाई जाती थी। प्रायः प्रत्येक विभाग का संगठन केंद्र के आदर्श पर ही होता था।

विषयों का शासन संभवतः विषयपतियों के अधीन चलता था। जिले के ये अधिकारी प्रांतों के अधिकारियों के छोटे रूपमात्र थे। कभी कभी केंद्रीय शासन के विरुद्ध उनके विद्रोह कर देने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनके हाथों में भी कुछ सैनिक शक्ति रहती थी। सिंहण के एक लेख[४५] से ज्ञात होता है कि तरावुर इदुगुलोथान में नियुक्त सिंहण के ठक्कुर नामक एक नायक ने अपनी शक्ति बढ़ा ली थी और उसने राजाज्ञाओं का उल्लंघन करना प्रारंभ कर दिया था, तथा इंदुनिधि में नियुक्त नालप्रभु कानेय को आक्रमण करके उसका दिमाग सीधा करना पड़ा था। प्रांतों की नाईं जिलों के अधिकारी भी अपने क्षेत्र के भीतर न्याय, माल तथा सैनिक सुशासन के लिये उत्तरदायी होते थे। सीमा पर नियुक्ति होने पर राजाज्ञा से परवर्त्ती क्षेत्रों में लूटखसोट के लिये आक्रमण भी करते थे। करों का उगाहना भी उनका कर्त्तव्य था। जिले के उपर्युक्त अधिकारियों का वेतन उनकी शासन-सीमा से प्राप्त होनेवाले करों का राज्य द्वारा निर्धारित कुछ अंश होता था, जिसे वे वस्तुओं के रूप में ही लेते थे।[४६]

स्थानीय शासन—

यादव नृपतियों के प्राप्त लेखों से हमें उनके नगर-शासन का कुछ विशेष पता नहीं चलता। ऐसी परिस्थिति में हमें अनुमान तथा दूसरे समसामयिक या पूर्ववर्त्ती राज्यों के नगर-शासन से अपनी सामग्री प्राप्त करनी होती है। यहाँ हमें राष्ट्रकूटों के लेखों से कुछ सहायता मिलती है और हमारा अनुमान है कि संभवतः यादव राज्य में भी उसी प्रकार का नगर-शासन प्रचलित रहा; क्योंकि बहुत काल तक तो यादव लोग राष्ट्रकूटों के सामंत रहे और स्वतंत्र होने पर भी उन्होंने उन्हीं के प्रदेशों पर शासन किया। प्राचीन भारत में राज्यों के परिवर्तन के साथ स्थानीय शासनयंत्र में बहुत परिवर्तन नहीं होता था। अतः राष्ट्रकूटों के शासन के आधार पर हम कह सकते हैं कि यादवों के समय में भी

४५—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का २१७ वाँ लेख।

४६—अल्तेकर कृत हिस्ट्री ऑव दि विलेज कम्यूनिटीज इन वेस्टर्न इंडिया, पृष्ठ १०-११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नगर का शासन पुरपतियों या नगरपतियों के द्वारा चलाया जाता रहा होगा।[४७] उनकी सहायता के लिये नगर के कुछ बुद्धिमान् तथा मान्य लोगों की समिति भी अवश्य रही होगी। प्राचीन भारत में इस प्रकार की नगर-समितियाँ प्रायः सर्वदा पाई जाती रही हैं।

ग्राम-शासन का मुख्य अधिकारी प्राचीन भारत में कई नामों से पुकारा जाता था। जैसे ग्रामिक, ग्रामणी, ग्रामकूट तथा ग्रामभोजक आदि। वह ग्राम-शासन का प्रधान होता था तथा स्थानीय सैन्यशक्ति की सहायता से किसी भी आक्रमण के समय ग्राम की रक्षा करना उसके अनेक कार्यों में से एक था। उसका दूसरा मुख्य कर्त्तव्य कर वसूल करना।[४८] ग्रामवासियों के बीच उठ खड़े हुए अनेक झगड़ों को निपटाने में वह न्यायाधीश का भी कार्य करता था।[४९] उसे राज्य की ओर से वेतन के रूप में करमुक्त भूमि प्रदान की जाती थी। गाँव की समस्याओं को सुलझाने में उसका मुख्य हाथ होता था और केंद्रीय सरकार के द्वारा नियुक्त किए जाने पर भी वह प्रायः जनता का विश्वासपात्र मनुष्य होता था। गाँव का दूसरा मुख्य अधिकारी कोषाधिकारी होता था।[५०] परंतु प्रत्येक ग्राम में यह पदाधिकारी नहीं होता था, क्योंकि कई छोटे छोटे ग्राम कभी कभी शासन की सुविधा के लिये बड़े ग्रामों से संबद्ध कर दिए जाते थे। वह ग्रामिक की देखरेख में अपना कार्य करता था और प्रतिष्ठा में उससे कम था।

ग्राम-समिति ग्राम की सर्वमुख्य संस्था होती थी। ग्राम के सरकारी पदाधिकारियों की मदद तथा उनके कार्यों पर दृष्टि रखने के लिये गैरसरकारी एवं मुख्य लोगों की यह संस्था प्राचीन भारतीय शासन-प्रणाली की सर्वदा एक विशेष अंग रही। यादवों के लेखों में भी इसका वर्णन प्राप्त होता है।[५१] इसके सदस्यों को महत्तर और अधिकारिक महत्तर कहते थे। यह संख्या ग्रामवृद्धों से बनी होती थी।[५२] ग्राम के सभी लोगों के इसमें होने की कल्पना नहीं की जा सकती। ग्रामिक तथा ग्रामसभा को माल के शासन में अनेक अधिकार प्राप्त थे और वे मुकदमों में

४७—द राष्ट्रकूटज एंड देयर टाइम्स, पृष्ठ १८१
४८—हिस्ट्री ऑव दि विलेज कम्यूनिटीज, पृष्ठ ५
४९—वही, पृष्ठ ७
५०—वही, पृष्ठ ११
५१—वही, पृष्ठ २०
५२—वही, पृष्ठ २२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझौता कराने के अतिरिक्त उनका निर्णय भी करते थे। याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका से यह ज्ञात होता है कि उस समय पूग, श्रेणी और कुलों के विभिन्न न्यायालय होते थे।[५३] अतः यह कहा जा सकता है कि यादव राज्य में ग्रामों को न्याय प्राप्त करने का अपने ही पास अधिकार होता था। गाँव का मुख्य न्यायालय 'पूग' कहलाता था और कभी कभी यहाँ से राज्य के बड़े न्यायालयों को अपीलें भी जाया करती थीं। पूगों का निर्माण ग्राम-महत्तरों से होता था। फौजदारी के मुकदमों में गाँव के इन न्यायालयों का अधिकार बड़ा सीमित था और वे छोटे-मोटे मारपीट के मामलों को ही देख सकते थे।

केंद्र की ओर से गाँवों के लिये समुचित पुलिस की व्यवस्था रहती थी। यादवों के अनेक लेखों से ज्ञात होता है कि उन दिनों लुटेरों तथा पार्श्ववर्ती दूसरे राज्यों के लोगों द्वारा प्रायः लूट-खसोट मची ही रहती थी।[५४] गाँव की संपत्ति तथा गायों की चोरी हुआ करती थी। इन उपद्रवों से रक्षा के लिये राज्य की ओर से पुलिस का अवश्य प्रबंध रहा होगा।

माल का शासन—

"अर्थानर्थौं वार्त्तायाम्"[५५] एवं "वार्त्तया धार्यते सर्वम्"[५६] आदि क्रमशः कौटिल्य और महाभारत की उक्तियों को, ऐसा प्रतीत होता है, यादव नृपतियों ने खूब समझा था। उन्होंने अर्थ को राज्य की रीढ़ मानकर इसे संग्रह करने का पूरा प्रयत्न किया था। मुसलमान इतिहासकारों ने रामचंद्र यादव पर विजय पाने के पश्चात् अलाउद्दीन खिलजी के जिस अपार धनराशि को दिल्ली ले जाने का वर्णन किया है[५७] उससे देवगिरि के विपुल राज्यकोषों की सहज ही कल्पना की जा सकती है।

५३—वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर द्वारा संपादित तथा पांडुरंग जावजी (बंबई) द्वारा प्रकाशित, १९२६ ई०, पृष्ठ १४२। यहाँ पूग भिन्न व्यवसायों में लगे हुए परंतु एक ही स्थान पर निवास करनेवाले लोगों के समूह को कहा गया है और श्रेणी उसी संघात को नाम दिया गया है जिसमें एक ही व्यवसाय के लोग हों।

५४—एपि० कर्ना०, जिल्द ८, सोराब तालुका के लेख ३३९, ५०७, ५२३, ३०८, २५०, २६९

५५—अर्थशास्त्र, भाग १, प्रो० उदयवीर द्वारा हिंदी में अनूदित, लाहौर १९२५, विनयाधिकारिक अधिकरण १, अध्याय २, पृष्ठ ९

५६—महाभारत, वनपर्व ३–५०

५७—फरिश्ता, ब्रिग्सकृत अंगरेजी अनुवाद, जिल्द १ पृष्ठ ३०४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौटिल्य ने राज्य की आय के लिये सात स्रोत गिनाए हैं—(१) दुर्ग (२) राष्ट्र (३) सेतु (४) वन (५) व्रज (६) खनि और (७ वणिक्पथ। यद्यपि यादवों के किसी भी लेख से इन स्रोतों का वर्णन हमें नहीं प्राप्त होता, पर हम यह कह सकते हैं कि प्रायः इन सभी स्रोतों से राज्यकोष में धन आता रहा होगा। रामचंद्र के एक लेख से कुछ वस्तुओं पर लगाए गए करों का ज्ञान प्राप्त होता है।[५८] उन वस्तुओं में चावल, पान के पत्ते, इलायची तथा कसैली मुख्य थीं। इनमें से हम चावल तथा पान पर लगे हुए करों को 'राष्ट्र' अर्थात् भूमि से प्राप्त कर कह सकते हैं तथा इलायची और कसैली पर बैठाए हुए करों को 'वन' अथवा 'सेतु'[५९] से प्राप्त तालिका में रख सकते हैं। सिंहण द्वितीय के एक दूसरे लेख से ज्ञात होता है कि अन्न रेशमी वस्त्र और जवाहिरों आदि का व्यापार होता था और तेल पेरनेवाली मिलें भी थीं।[६०] इन वस्तुओं के आयात और निर्यात पर अवश्य कर लगाए गए होंगे। महादेव के एक तीसरे लेख से कपिलसिद्ध मल्लिकार्जुन देव को दान दिए हुए एक गाँव का वर्णन मिलता है जिसमें गाँव से प्राप्त खनिज, जुर्माने तथा शुल्कों आदि की आय भी दान कर दी गई है।[६१] इससे खानों से होनेवाली आय का ज्ञान प्राप्त होता है। शहरों तथा राज्य के अन्य भागों से इस प्रकार की और अतिरिक्त आय राज्य को अवश्य होती रही होगी। उपर्युक्त करों या आय को हम राज्य की निश्चित आय कह सकते हैं। पर इसके अतिरिक्त कुछ सामयिक आय भी होती थी जो कभी कभी विशेष कार्यों के हेतु लगाए हुए करों से आती थी। इस प्रकार का एक महत्त्वपूर्ण कर था 'राजसेवकानां वसतिदण्ड'।[६२] यह कर आक्रमण अथवा रक्षा के समय किसी विशेष स्थान पर राज्य के उच्चाधिकारियों के रुकने पर लगता था। राष्ट्रकूट-काल में इसी प्रकार का एक दूसरा भी कर लगता था, जो संभव है यादव राज्य में भी रहा हो। यह था 'चाट-भाट प्रवेशदण्ड'[६३] जो सेना अथवा पुलिस के किसी विशेष स्थान पर पहुँचने पर लगाया जाता था। राज्यों को सरकारी एकाधिकारों से

५८—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ११, देवनगिरि तालुका का ५२वाँ लेख।

५९—सेतु से प्राप्त आय वह होती थी, जो जल पार करने की सुविधाओं अथवा फलमूलादि पर लगे हुए करों से आती थी।

६०—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ७, शिकारपुर तालुका का ९५वाँ लेख।

६१—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २१, पृष्ठ १८९

६२—इंडियन एंटीक्वेरी, जिल्द १४, पृष्ठ ३१९

६३—द राष्ट्रकूटज एंड देयर टाइम्स, १९३६, पृष्ठ २३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वदा बहुत बड़ी आय होती रही है। यह सर्वथा संभव है कि यादव राज्य में भी कुछ वस्तुओं पर, जैसे सिक्कों और पेय पदार्थों पर, एकाधिकार रहा हो। जुआ और वारांगना-गृहों के संबंध में मत व्यक्त करने के लिये कोई सामग्री नहीं प्राप्त होती। अदालतों के शुल्कों तथा जुर्मानों से राज्य को एक बड़ी आय होती थी।[६४] उन लोगों की संपत्ति भी, जिनका कोई विधिविहित उत्तराधिकारी नहीं होता था, मरने के बाद राज्य की ही होती थी। रामचंद्र के एक लेख से ज्ञात होता है कि इस प्रकार की एक अनधिकृत संपत्ति को उसने सिंचाई, तालाबों की रक्षा और प्रबंध के लिये दान कर दिया था।[६५] राज्य का सबसे अंतिम कर वह होता था जिसे आकस्मिक विपत्तियों के आ जाने पर लगाया जाता था। इसकी व्यवस्था सोमदेव ने दी है[६६] तथा यादवों ने भी इस विधान से लाभ उठाया होगा।

यादव नृपतियों ने उपर्युक्त सरकारी आय को किस प्रकार किन किन क्षेत्रों में व्यय करने की व्यवस्था की थी, इस संबंध में उनके लेखों से कुछ ज्ञात नहीं होता। उस समय की भारतीय राजनीतिक परिस्थिति में, जब राज्यों में आपसी युद्ध सर्वदा छिड़े ही रहते थे, राज्य का एक बहुत बड़ा खर्च सेना और शासन पर होता रहा होगा। पर यहाँ यह न समझ लेना चाहिए कि उन्होंने अन्य प्रजाजन-कार्यों की अवहेलना की। प्रजा की भलाई के लिये उन दिनों जितने भी कार्य होते थे उनमें राज्य की अवश्य आंशिक अथवा पूर्ण सहायता होती थी। शुक्राचार्य ने, जिन्होंने यादव-काल के थोड़े ही दिनों पहले अपने नीतिग्रंथों की रचना की थी, यह व्यवस्था दी है कि राज्य की आय का ८३ प्रतिशत प्रजा की सुख-समृद्धि हेतु व्यय होना चाहिए। यादवों ने इस व्यवस्था का पूर्णतः पालन किया। रामचंद्र के मंत्री तिप्परस को 'खेतिहरों की सभा में सर्वप्रधान'[६७] की संज्ञा दी गई है। इसका कारण यह हो सकता है कि उसने खेती की दशा सुधारने का भरपूर प्रयत्न किया था। उसी लेख से यह भी ज्ञात होता है कि कुछ गाँवों की उत्तराधिकारी-हीन संपत्ति को उसने तालाबों के रक्षार्थ दे दिया जिससे सिंचाई का समुचित कार्य हो सके। यादव राजाओं ने शिक्षा की उन्नति के लिये भी कुछ

६४—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २१, पृष्ठ १८९

६५—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ११, देवनगेरी तालुका का ७० और ७०ब लेख।

६६—नीतिवाक्यामृत २१-१४, माणिकचंद्र जैन ग्रंथमाला, बंबई संवत् १९७३

६७—एपि० कर्ना०, जिल्द ११, देवनगेरी तालुका का लेख ७० और ७० ब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कम नहीं किया। अनेक लेखों[६८] से हमें यह ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य के पौत्र तथा लक्ष्मीधर के पुत्र चाँगदेव सिंहण द्वितीय के मुख्य पंडित थे। उक्त पंडित ने आज के चालीसगाँव क्षेत्र में स्थित पाटन नामक स्थान में अपने पितामह भास्कराचार्य के विशिष्ट ग्रंथ 'सिद्धांत शिरोमणि' के अध्ययन के लिये एक मठ की स्थापना की। सिंहण द्वितीय ने उक्त संस्था के लिये स्वर्ण और भूमि का दान किया[६९] और शिक्षा की उन्नति में अपनी रुचि का प्रदर्शन किया। अन्य ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में यादवों के और प्रजाहित कार्यों पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सकता; पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ऐसे अन्य कार्य भी उन्होंने किए होंगे।

न्यायदान की व्यवस्था—

प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति में न्यायदान की समुचित व्यवस्था थी। यादव राज्य ने भी इसकी ओर अवश्य ध्यान दिया होगा। इस क्षेत्र में हमारे ज्ञान का मुख्य स्रोत याज्ञवल्क्य स्मृति पर लिखी गई विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका है। यह कल्याण के चालुक्य नृपति विक्रमादित्य षष्ठ के समय में लिखी गई थी और अब भी भारतवर्ष के अधिकांश भागों में न्यायदान में प्रमाण मानी जाती है। यादवों के समय तक इसका पर्याप्त प्रचार अवश्य हो गया होगा। अतः इसके आधार पर हम न्याय-व्यवस्था का कुछ रूप खींच सकते हैं। मिताक्षरा टीका के अनुसार[७०] राजा का दरबार ही राज्य का सबसे बड़ा न्यायालय होता था। उसके साथ उसकी समिति के सदस्य भी होते थे। इसी प्रकार प्रांतों में प्रांतपतियों के न्यायालय थे और इस तरह न्यायालयों की एक सरणि सी बन गई थी। न्यायप्राप्ति बड़ी सुलभ थी। समसामयिक हयसाल शासन से हमें पता चलता है[७१] कि झगड़ों को निबटाने के लिये सबसे पहले कुलों अथवा जातियों के न्यायालय होते थे। उनसे ऊपर क्रमशः श्रेणी और पूगों के न्यायालय होते थे। पूगों से बड़े राज्य के अफसर होते

६८—रा० ए० सो० पत्रिका, जिल्द १ पृष्ठ ४१५ तथा एपि० इं०, जिल्द ३ पृष्ठ ११२

६९—वही।

७०—वा० ल० शास्त्री पणशीकर संपादित याज्ञवल्क्य स्मृति, मिताक्षरा टीका सहित, (बंबई) पृष्ठ १४२

७१—मैसूर विश्वविद्यालय की पत्रिका, जिल्द ३ भाग १, पृष्ठ ९७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे।[७२] देवगिरि के यादव राज्य में भी न्यायालयों की इस प्रकार की सरणि होने की कल्पना की जा सकती है।

दंड की व्यवस्था के संबंध यह कहा जा सकता है कि अपराध का रूप देखकर उसके अनुसार हल्का या कठोर दंड दिया जाता होगा। दंडों में जुर्माने लेकर तथा डाँट फटकार कर छोड़ देने की प्रथा विशेष रूपेण प्रचलित प्रतीत होती है। उनकी ओर कहीं कहीं निर्देश भी है।[७३] दिव्य दंडों के दिए जाने का भी प्रमाण प्राप्त होता है। गोआ के कदंब नृपति जयकेशी तृतीय का एक लेख[७४] एक अपराधी को दिए हुए दिव्य दंड की ओर निर्देश करता है। देवगिरि के यादव नृपति सिंहण द्वितीय के भी १२४१ ई० वाले एक लेख से इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण उपस्थित होता है। उक्त लेख में एक वृत्ति के संबंध में दो मनुष्यों के बीच के झगड़े को दिव्य उपायों द्वारा निपटाया हुआ बताया गया है। एक ने अपनी सफाई में अपना सिर रस्सी से बाँधकर लटका लिया तथा दूसरे ने देवनिर्मित रखे हुए भोजन को खा लिया।[७५]

सैनिक और पुलिस शासन—

जिस काल में यादवों ने श्रीनगर और देवगिरि से शासन किया उसे शांति अथवा विभिन्न राज्यों में परस्पर सद्भाव का युग नहीं कहा जा सकता। दक्षिण भारत के राजनीतिक मानचित्र पर से ज्यों ही कल्याणी के चालुक्यों का हटना प्रारंभ होता है त्यों ही अनेक छोटे छोटे प्रतिस्पर्धी राज्य अपनी अपनी राजनीतिक सीमा बढ़ाने में व्यस्त हो जाते हैं। दक्षिण-पूर्व में काकतीयों ने, द्वारसमुद्र के हयसालों ने एवं मालवा, मध्यभारत और उड़ीसा के राज्यों ने अपनी अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया। उत्तर-पश्चिम में गुजरात के चालुक्य वंश की भी शक्ति बढ़ रही थी तथा सुदूर दक्षिण में चोलों और पांड्यों का बोलबाला था। इन सभी समस्याओं के बीच, प्रायः उपर्युक्त प्रत्येक राज्य की ओर अपनी सीमा को बढ़ाकर देवगिरि के यादवों ने अपने बृहद् राज्य की स्थापना की और अंत में वह

७२—वही।

७३—एपि० इं० जिल्द २३, पृष्ठ १८९

७४—बेलगाँव जिला गजेटियर, पृष्ठ ३६०

७५—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का लेख ३८७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने समय में दक्षिणी भारत का सर्वप्रमुख राज्य हो गया। इस बृहद् कार्य की सिद्धि के लिये उन्होंने अपनी सैनिक शक्ति अवश्य ही पर्याप्त मात्रा में बढ़ाई होगी।

सैनिक शासन का सर्वप्रमुख अधिकारी राजा ही होता था। परंतु सेना का साधारण प्रबंध और संघटन मुख्य सेनापति के हाथ में होता था जिसे "महा-प्रचंडदंडनायक" कहते थे।[७६] यह राजसभा का सदस्य भी होता था[७७] तथा उसका प्रधान दफ्तर राजधानी में रहता था। प्रांतों में भी इसी प्रकार के अफसर और उनके दफ्तर रहते थे और उन्हें केंद्र की आज्ञा वहन करनी होती थी। यादव राजाओं के पार्श्ववर्ती राज्यों के विरुद्ध जो युद्ध होते थे उनमें प्रांतीय शासक—"मंडलेश्वरों"[७८] को जो अपनी सीमा में सैनिक शासन के भी प्रधान होते थे, लड़ना पड़ता था। वे सुयोग्य सैनिक होते थे जिन्हें "महाप्रधान" अथवा "दंडनायक" कहते थे।[७९] इनमें से जिनकी नियुक्ति राज्य की सीमा पर होती थी उनकी शक्ति और प्रतिष्ठा अधिक थी। प्रांत के सैनिक शासक "मंडलेश्वरों" के अधीन 'नायक" होते थे जो संभवतः जिलों के सैनिक अफसर थे।

सैनिक प्रबंध में भी सुविधा की दृष्टि से कई विभाग होते थे। यादव राजाओं ने अपनी रक्षा के लिये किलों की भरपूर व्यवस्था की थी। राजधानी देवगिरि चौरासी पर्वतदुर्गों के मध्य में बसी हुई बताई गई है।[८०] एक दूसरे लेख में यह कहा गया है कि सिंहण द्वितीय ने प्रत्येक प्रकार के पर्वत और जलदुर्गों को जीत लिया था।[८१] इन उद्धरणों से यह निश्चित हो जाता है कि यादव राजाओं ने युद्ध में विजय के लिये दुर्गों का पूरा पूरा महत्त्व समझा था तथा उनका पर्याप्त संख्या में निर्माण कराया था। आधुनिक दौलताबाद के किले के विशेष भाग का निर्माण इन्हीं राजाओं ने कराया था और वहाँ राजधानी बनाकर उसे युद्ध-सामग्री से सुसज्जित किया था। दुर्गों के अतिरिक्त यादवों की सेना भी

७६—इंडियन ऐंटीक्वेरी, जिल्द १२, पृष्ठ ११९ के बाद।

७७—वही।

७८—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का लेख २८५

७९—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १३, पृष्ठ १९८; वही, जिल्द २३ पृष्ठ १८९; बंबई शाखा रा० ए० सो० की पत्रिका, जिल्द १२ पृष्ठ, ७ के बाद।

८०—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का लेख ३९१

८१—वही, लेख २७६

१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक बड़ी संख्या में रही होगी। उन्होंने जिन समसामयिक शक्तियों पर विजय पाकर अपने राज्य की सीमा बढ़ाई, उनसे हम यादव सेना की महत्ता, रण-कुशलता तथा वीरता का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। उनका राज्य भी उस प्रदेश (महाराष्ट्र प्रांत) में पड़ता था जहाँ के लोग सर्वदा से रणप्रिय होते आए हैं। सूक्तिमुक्तावली के रचयिता कवि जल्हण के परिवार ने आनुवंशिक रूप से यादवों की हस्तिसेना का संचालन-भार सँभाला था।[८२] हाथियों को 'वधकर्म' अर्थात् शत्रु को चीर फेंकने की कला सिखाई जाती थी और हस्ति-चालकों के नायकों को 'गज-साहनी' कहते थे। सेना में घोड़ों की भी संख्या कम न थी। सिंहण द्वितीय ने ३०००० घोड़े अपनी सेना में रखे थे।[८३] यह संख्या कुछ अतिरंजित सी प्रतीत होती है, पर इतना तो निश्चित ही है कि यादव सेना में घोड़ों की संख्या बड़ी थी। भारतवर्ष में अच्छे घोड़ों की कमी होने के कारण ये मुख्यतया विदेशों, विशेषतः अरब से, मँगाए जाते थे।[८४]

सेना की भरती समाज के सभी वर्गों से होती थी, यद्यपि क्षत्रिय लोग इसमें अधिक सम्मिलित होते थे। ब्राह्मण वर्ण के लोग भी लड़ने का कार्य करते थे। सिंहण द्वितीय के दो सेनापति—खोलेश्वर तथा उसका पुत्र राम, जिन्होंने क्रमशः उसकी सेना का गुजरात के युद्ध में नेतृत्व किया था—मुद्गलगोत्रीय ब्राह्मण थे।[८५] यादव शक्ति की बहुत बड़ी वृद्धि सामंत-सेनाओं से भी हुई, जिनकी सहायता युद्ध के समय अपेक्षित थी।

भीतरी उपद्रव, सीमा पर के विद्रोह, गायों की चोरियाँ तथा धन के अपहरण यादव-काल की शांतिभंग के बहुत बड़े कारण थे। तत्कालीन दक्षिण-भारतीय प्रत्येक राज्य की प्रायः यही दशा थी और आए-दिन झगड़े हुआ ही करते थे। फलस्वरूप राज्य के भीतर शांतिस्थापन यादव शासन का एक मुख्य कार्य हो गया था। इस कार्य के लिये एक शक्तिशाली पुलिस सेना की आवश्यकता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि बाहरी उपद्रवकारियों का मुकाबला अधिकांश अवसरों पर जनता पुलिस और स्थानीय सेना की सहायता से करती थी। समसामयिक

८२—जल्हण रचित सूक्तिमुक्तावली की भूमिका (गायकवाड़ सीरीज)।

८३—एपिग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द ८, सोराब तालुका का लेख २७५

८४—द राष्ट्रकूटज ऐंड देयर टाइम्स, पृ० २४९

८५—आर्केलॉजिकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इंडिया, जिल्द ३, पृष्ठ ८५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि "ग्राम का पुलिस-प्रबंध ग्रामिक के निरीक्षण में रहता था। इस कार्य की मुख्य जिम्मेदारी प्रहरी पर होती थी और प्रत्येक अपराध, विशेषतः ग्राम में हुई चोरी का पता लगाना उसका कार्य था।"[८६] इस काल के थोड़े ही पूर्व उपर्युक्त पुलिस अफसरों को "चौरोद्धरणिक"[८७] एवं "दण्डपाशिक"[८८] कहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि पुलिस के दल राज्य में सर्वदा गश्त लगाया करते थे और उस हेतु "राजसेवकानांवसति दंड" लगाया जाता था। यहाँ 'राजसेवक' का अर्थ 'शासन-कार्य में नियुक्त पुलिस अधिकारी' हो सकता है।

वैदेशिक नीति—

इस विषय पर प्रमुख प्राचीन भारतीय लेखक अर्थशास्त्र के निर्माता कौटिल्य हुए हैं। उन्होंने मौर्य साम्राज्य की वैदेशिक नीति को स्थिर करने के लिये अपने 'मंडल' सिद्धांत का विशद प्रतिपादन किया। परंतु यादवकालीन राज्यों को यह सिद्धांत मान्य था या नहीं, इस प्रश्न पर कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यादवों ने अपने राज्य को शक्तिशाली बनानेवाले तत्त्वों की ओर अवश्य ध्यान दिया। भिल्लम पंचम के मंत्री जैत्रसिंह को गडग लेख में[८९] मंत्र, उत्साह और शक्ति से युक्त बताया गया है। राज्य की प्रभुता बढ़ाने में इन तीन शक्तियों को प्राचीन भारत में बड़ा महत्त्व दिया गया था। पुनः कृष्ण के ममदपुर लेख[९०] में बिच्चा को इन तीन अभेद्य शक्तियों से संपन्न कहा गया है और राज्य की पाँच नीतियों[९१] को बरतने में भी कुशल बताया गया है। उसी लेख से यह भी ज्ञात होता है कि सेनापति चौंडराज साम, दान, दंड और भेद आदि नीतियों के प्रयोग में मानो चतुर्मुख ब्रह्मा ही थे। ये गुण राजाओं तथा उनके मंत्रियों में अत्यंत

८६—द राष्ट्रकूटज ऐंड देयर टाइम्स, पृष्ठ २५९

८७—बंबई शाखा की रा० ए० सो० की पत्रिका, जिल्द १६, पृष्ठ १०६

८८—द राष्ट्रकूटज ऐंड देयर टाइम्स, पृष्ठ २५९

८९—एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ३, पृष्ठ २१७

९०—वही, जिल्द १९, पृष्ठ १९

९१—सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः।
विनिपातप्रतीकारः सिद्धिपञ्चाङ्गमिष्यते॥
कामन्दक नीति, १२-३६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन काल से राज्य की शक्ति को बढ़ाने के लिये आवश्यक बताए गए हैं। कल्याणी के चालुक्य नृपति सोमदेव तृतीय ने, जो यादवों के थोड़े ही दिन पूर्व उत्पन्न हुए थें, "अभिलषितार्थचिन्तामणि" नामक पुस्तक की रचना की, जिसमें उन्होंने वैदेशिक नीति के सिद्धांतों पर पूरा प्रकाश डाला है। यह अत्यंत संभव है कि यादवों ने उन सिद्धांतों को कार्यरूप दिया हो, पर इस विषय में प्राप्त सामग्री से कुछ ज्ञात नहीं होता। इतना ही नहीं, उस सामग्री की समीक्षा से विदित होगा कि उनकी नीति बहुत व्यापक नहीं थी।

इस देश पर मुसलमानी आक्रमण आरंभ हो जाने के बाद यहाँ के राज्य एक एक करके पराजित होते गए, फलतः यहाँ मुसलमान शासन प्रारंभ हुआ। इसका एक बहुत बड़ा करण यह था कि हिंदू राज्यों ने कोई स्पष्ट वैदेशिक नीति नहीं बरती। उनका दृष्टिकोण संकुचित था, फलतः शक्ति को क्षीण करनेवाला था। पुष्यभूति साम्राज्य के अंत हो जाने के बाद सारा भारतवर्ष छोटे छोटे राज्यों में विभक्त हो गया और इसकी राजनीतिक एकता नष्ट हो गई। राजाओं को यदि सबसे बड़ी चिंता कोई थी तो यह कि उनका राज्य बचा रहे। उन्होंने सभी प्रयत्न सीमित क्षेत्र में किए। किसी ने भारत की सीमाओं की रक्षा के हेतु कोई चिंता अथवा प्रयत्न नहीं किया। अतः उत्तर से आनेवाले आक्रमणकारी, देश के द्वार पर बिना किसी प्रतिरोध के ही भीतर काफी दूर तक घुस आते थे। सभी राजाओं की राज्यभक्ति सीमित होकर स्थानीय, वांशिक तथा संकुचित हो गई थी। उन्हें केवल अपने छोटे छोटे राज्यों की चिंता थी। देवगिरि का यादव राज्य भी इस नियम का अपवाद नहीं था। यादवों के किसी भी लेख से यह ज्ञात नहीं होता कि उन्होंने अपने पार्श्ववर्ती या उत्तर के राज्यों से दूत-संबंध रखा था। इसके सिवा यादवों के इतिहास के संबंध में प्राप्त सामग्री इस बात की ओर निर्देश करती है कि सिंहण द्वितीय के बाद प्रायः प्रत्येक राजा का यह प्रयत्न रहा कि अपनी वंशानुक्रमिक राज्य-सीमा के बाहर भी वह अपने राज्य को बढ़ाए। फल हुए युद्ध और पार्श्ववर्ती काकतियों, हयसालों, गुर्जरों और मालवों से वैर। उनकी सारी शक्ति युद्ध में खर्च हुई।

यादवों ने स्वयं अपने राज्य की सीमा की रक्षा का भी कोई विशेष प्रबंध नहीं किया था। मुसलमानी इतिहासकारों से हमें यह ज्ञात होता है कि अलाउद्दीन के दक्षिण आक्रमण के समय उसकी बढ़ती हुई सेना के एलिचपुर (जो उन्हीं के राज्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में स्थित था) तक आ जाने का यादवों को पता ही नहीं था। इतना ही नहीं, उन्होंने उसके बाद भी आक्रमण को रोकने के लिये कोई तैयारी नहीं की। लज्जा की बात तो यह है कि राजकर्मचारियों को आक्रमण की सूचना भयभीत खेतिहरों ने दी।[९२] उनकी लापरवाही का और भी प्रमाण मिलता है जब हम देखते हैं कि राजा रामचंद्र (रामदेव) ने उस आक्रमण का प्रतिरोध राजधानी में, और वहाँ भी बहुत थोड़े से सिपाहियों के साथ किया। देवगिरि की रक्षा का कोई भी प्रबंध नहीं था और राज्य की सारी सेना शंकरदेव (रामदेव का पुत्र) के साथ तीर्थयात्रा को गई थी।[९३] जैसा कि मुसलमान लेखकों का कथन है, किले में खाद्य सामग्री का भी अभाव था। इन सबका फल यह हुआ कि भारतीय राजनीतिक आकाश में हिंदू वैभव के सूर्य की अंतिम किरणों को मुसलमानी आक्रमण के बढ़ते हुए अंधकार ने ढक लिया। स्वयं रामदेव भी इसमें सहायक हुआ और उसने द्वारसमुद्र और वारंगल पर किए गए मुसलमानी आक्रमणों में आक्रमणकारियों की मदद की। उपर्युक्त प्रमाण इस बात को सिद्ध करते हैं कि यादवों के पास कोई वैदेशिक नीति थी ही नहीं, और यदि थी भी तो वह अत्यंत शक्तिहीन और विवेक-रहित थी। इसकी सबसे बड़ी जिम्मेदारी रामचंद्र (रामदेव) को ही निभानी पड़ी, जिसमें वह पूर्णतः असफल रहा और फलतः अपने नाम के साथ एक दुःखद स्मृति छोड़ गया।

९२—किंकेड और पारसनीसकृत 'मराठों का इतिहास' (अंग्रेजी), जिल्द १, १९२० ई०, पृष्ठ ३७ के बाद।

९३—कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, जिल्द ३, पृष्ठ ९६-९७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चयन

भारत का सांस्कृतिक संकट

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने गत २० नवंबर को काशी हिंदू विश्वविद्यालय के समावर्तन समारंभ के उपलक्ष्य में जो दीक्षांत भाषण दिया था उसके मुख्यांश का हिंदी रूपांतर यहाँ प्रस्तुत है—

हमारी संस्कृति पर आज एक नया संकट आ उपस्थित हुआ है। संसार के अन्य आधुनिक देशों की भाँति भारतवर्ष भी नगरों में पलनेवाली तथा उद्योगमूलक सभ्यता की अवस्था में से होकर गुजर रहा है, जिसमें जीवन की भयानक जकड़बंदी अनिवार्य हो गई है। विगत पचास वर्षों में अमेरिका ने इतनी उन्नति की कि उसका प्रभाव विश्वव्यापक हो गया है। रूस ने सोवियत साम्यवाद के अंतर्गत एक ऐसी शक्ति का विकास कर लिया है जो अपनी विप्लव तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने की क्षमता के कारण भयंकर है। इंगलैंड तथा पश्चिमी यूरप के अन्य देशों का विश्वप्रभाव अब नष्ट हो चुका है। एशिया, अफ्रिका और लटिन अमेरिका राजनीतिक आत्मनिर्णय और स्वातंत्र्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं। अस्तित्व के लिये पारस्परिक संघर्ष अत्यंत तीव्र हो गया है। परंपरागत प्रभावों को हेय समझकर आज उनका विरोध किया जा रहा है। विज्ञान की यथेष्ट और यथोचित उन्नति हो रही है, परंतु धर्म तथा प्राचीन साहित्य, कला आदि जो जीवन को दृढ़ता प्रदान करनेवाले तत्त्व हैं वे उपेक्षित हो रहे हैं। स्वभावतः नवीन और क्रांतिकारी विचार समस्त विश्व में फैल रहे हैं और उनकी उपेक्षा करना आत्मघात तुल्य होगा। प्रत्येक व्यक्ति एक नवीन स्वतंत्रता का दावा उपस्थित करने लगा है। स्त्री अब समाज के स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में उठ खड़ी हुई है। वयस्क मताधिकार पर आधारित लोकतंत्र किसी भी समय हमें घोर अव्यवस्था की स्थिति में डाल दे सकता है। सार्वतांत्रिक अधिनायकवाद निर्मम जकड़बंदी के द्वारा जीवन की संपूर्ण स्वतंत्रता को नष्ट कर देना चाहता है। इन सब कारणों से प्राचीन पद्धति के जीवन के लिये भारी भय उपस्थित हो गया है। ये सब बात मिलकर विश्व को, और भारत को भी, एक भिन्न प्रकार के साँचे में ढाल रही हैं। हम लोगों को, विशेषतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हममें से जो लोग विश्वविद्यालयों में—जहाँ संस्कृति कसौटी पर कसी जाती है—काम करते हैं उनको, साहस के साथ इस सांस्कृतिक संकट का सामना करना है।

हमारे विश्वविद्यालय इस उत्तरदायित्व की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमने नैतिक और सामाजिक गुणों की शिक्षा की अब तक उपेक्षा की है। अब यही उपयुक्त समय है कि हम अपने विद्याभवनों में उनका अध्ययन करें और उन्हें अपने लक्ष्य के अनुकूल बनाएँ। जिन मौलिक गुणों के कारण भारतीय संस्कृति महान् और अमर बनी है उनके प्रकाश में अब हमें अपने पूर्व बल को पुनः प्राप्त करना चाहिए और अपने ढीले पड़ते हुए सामाजिक जीवन के ढाँचे को पुनः सुदृढ़ बनाना चाहिए।

* * *

आधुनिक परिस्थितियों में चातुर्वर्ण्य ने अपनी शक्ति और अर्थ को खो दिया है। वंशगुण की बिलकुल उपेक्षा न की जाय, तो भी अब वह किसी व्यक्ति की उन्नति में बाधक नहीं बन सकता। भावी संसार में प्रत्येक मनुष्य को उन्नति का समान अवसर देना ही होगा। लोकतंत्रात्मक संस्थाओं की न तो हम उपेक्षा ही कर सकते हैं और न उनके बिना हमारा काम ही चल सकता है। परंतु यदि हमें अपने राष्ट्रीय जीवन को स्थायी बनाना है तो अपने सामाजिक भवन का निर्माण हमें समयानुरूप नवीन शक्ति तथा दृढ़ता के साथ करना होगा।

* * *

हमारी संस्कृति के सारभूत गुणों में से एक गुण रहा है हमारा असीम बौद्धिक साहस, जो प्रतिरोध-काल में (ई० १००० से १६५८) कुचल उठा था। परंतु आधुनिक जागरण-काल में (ई० १६५८ से १९४७) विचार और विद्या ने नवीन शक्ति प्राप्त की है। फिर भी उच्च कोटि की बौद्धिक विचारशक्ति को अभी वह बल नहीं प्राप्त हुआ है। दुःख की बात तो यह है कि बहुत से लोग जिन्हें इस विषय में और अच्छा ज्ञान होना चाहिए था, उच्च शिक्षा को भी केवल विलास की वस्तु समझते हैं। मैं जानता हूँ कि यह अवस्था अल्पकालिक है, परंतु यदि विश्वविद्यालयों में हम लोग उक्त प्रकार के विचार के मूल में छिपे हुए खतरे को नहीं पहचानते, तो हमारा विनाश ही समझिए।

* * *

हाल में ही मैंने कहीं पढ़ा था कि आधुनिक मनुष्य 'आर्थिक' मनुष्य है, परंतु शिक्षा यदि केवल 'यंत्रवत्' मनुष्य का निर्माण करती और उसे 'आर्थिक'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य कहती है, 'मनुष्य' को भूलकर केवल उसके 'आर्थिक' विशेषण पर जोर देती है, तो निश्चय ही वह बुरी तरह अपने लक्ष्य से च्युत हो जाती है। विश्वविद्यालय और चाहे जिन विषयों के अध्ययन में विशेषता प्राप्त करें, परंतु वे शिक्षा के सांस्कृतिक पक्षों की उपेक्षा नहीं कर सकते। विज्ञान केवल साधन है, साध्य नहीं; परंतु संस्कृति स्वयं साध्य है। किसी इंजीनियर के जीवन का लक्ष्य केवल पुल आदि का निर्माण करना नहीं हो सकता। उसके लिये एक सुयोग्य पति, सहृदय पिता, मित्रवत् व्यवहार करनेवाला पड़ोसी, कर्तव्यनिष्ठ नागरिक तथा अपने आत्मा के प्रति सच्चा मनुष्य बनना भी आवश्यक है। उसके मार्ग में विपत्ति और बाधाएँ आएँगी, जिससे कभी कभी उसका धैर्य छूट जायगा। ऐसे अवसरों पर उसे जिस बल और साहस की आवश्यकता होगी वह केवल सच्ची संस्कृति से ही प्राप्त हो सकता है।

*   *   *

हमारी संस्कृति के इष्ट गुणों में एक गुण, बौद्धिक और कलात्मक दोनों प्रकार की उन्नति के लिये, शब्द ब्रह्म की प्रधानता रहा है। इसी गुण के कारण संस्कृत को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ। अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण वह चिरकाल तक हमारी राष्ट्रभाषा रही। उसमें हमारी संस्कृति की निधि संचित हुई। उसने देश में एकात्मता स्थापित की और उसी ने हमें अपने जीवन और समाज को पुनःसंघटित करने के लिये शक्ति प्रदान की। परंतु हमारी राष्ट्रीय उन्नति और दृढ़ता का प्रधान साधन हिंदी ही है। यदि हिंदी को अपने कर्तव्य का पूरा पूरा पालन करना है तो उसे न केवल संस्कृत के सौंदर्य और लचीलेपन तथा प्रांतीय भाषाओं के सुलभ साधनों को अपनाना पड़ेगा, अपितु अंग्रेजी की संपन्नता और सजीवता भी अर्जित करनी होगी। उसे सच्चे अर्थ में 'भारती' बनना होगा—केवल राजभाषा या सरकारी भाषा नहीं, बल्कि तत्त्वतः और रूपतः भारत की भाषा, जैसे अंग्रेजों की भाषा अंग्रेजी और फ्रांसवालों की फ्रेंच है। परंतु उसको वह शक्ति और मर्यादा प्राप्त हो, इसके लिये हमारे विश्वविद्यालयों को कठोर परिश्रम करना होगा और उसके विकास के विषय में केवल उदार राष्ट्रीय भावना ही नहीं अपनानी होगी, वरन् अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि रखकर काम करना होगा।

हमारे विश्वविद्यालयों को साहित्य-प्रेम को भी प्रोत्साहन देना चाहिए। हमारा यह महान् देश दूसरों से उधार लिए हुए अथवा परंपरा से प्राप्त सौंदर्य पर ही संतोष नहीं कर सकता। हमें ऐसे महान् साहित्य की सृष्टि करनी है जिसमें न केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालिदास का सौंदर्य हो, अपितु एचिलीज की शक्ति भी हो; जिसमें न केवल चंडीदास और मीरा का गीतिमाधुर्य हो, अपितु सैफो की भावप्रवणता, शेली का अपार्थिव सौकुमार्य तथा गेटे का मोहक आकर्षण भी हो; जिसमें न केवल महाभारत के वर्णन की सचित्रता तथा मानव अनुभूतियों की तीव्रता हो, अपितु ड्यूमा की जीवित कहानी कला, विक्टर ह्यूगो का सप्राण आदर्शवाद तथा शेक्सपियर की शक्ति और व्यापकता भी हो। हमें भूलना नहीं चाहिए कि हमारे भारतीय साहित्य का बहुत बड़ा भाग एक रूढ़िबद्ध साँचे में ढला हुआ है। यदि हमें महान् साहित्य का निर्माण करना है तो उससे हमें अपने को मुक्त करना होगा। हमें अपने जीवन में ऐसे सौंदर्य और आनंद की खोज करनी होगी जिसमें पूर्णता भी हो और विविधता भी। सौंदर्य या आनंद के लिये कोई राष्ट्रीय सीमा नहीं बँधी हुई है। जीवन का अनंत वैभव हमारे सामने है। उसको हमें अपने साहित्य के भीतर ले आना होगा।

* * *

हमारे विश्वविद्यालयों को भारत की अमर संस्कृति के मूल तत्त्वों को ग्रहण करना चाहिए—प्राचीन रूढ़ियों को पुनर्जीवित करने की संकीर्ण भावना से नहीं, बल्कि जीवित तत्त्वों के पुनस्संघटन के उद्देश्य से। हमारे देश में ऋत अर्थात् नैतिक व्यवस्था के विश्वव्यापक नियम का पता पहले पहल लगा था और उसकी व्याख्या की गई थी। उसको प्रेरक शक्ति के रूप में पाकर हमने केवल सांसारिक वैभव तथा अजय्य नैतिक शक्ति ही नहीं प्राप्त की, अपितु उस रहस्य का भी पता लगा लिया जिसके द्वारा मनुष्य अपनी दुर्बलताओं पर विजय पाकर देवत्व प्राप्त कर लेता है। ये सफलताएँ भारत ने आध्यात्मिक क्षेत्र में प्राप्त की थीं और हमारी वर्तमान स्वतंत्रता और शक्ति उन्हीं का परिणाम है—यदि प्रत्यक्ष रूप से उनका परिणाम नहीं तो कम से कम जिन अद्‌भुत उपायों के द्वारा यह प्राप्त हुई है उनका उद्गम वे ही आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं जिनकी साधना तथा जिनके अनुकूल आचरण द्वारा बड़े बड़े महापुरुषों ने आत्मपूर्णता प्राप्त की है। समस्त विश्व भविष्य की समस्याओं के लिये हमपर भरोसा करता तथा हमें आदर की दृष्टि से देखता है। इसका कारण न तो हमारी सैनिक शक्ति है, जो कि अत्यल्प है, और न हमारे देश की विशाल जनसंख्या, जो एक बाधास्वरूप है; बल्कि इसका कारण यह है कि रामकृष्ण, दयानंद, विवेकानंद, मालवीय जी और गाँधी जी ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे प्राचीन सिद्धांतों की सत्यता आधुनिक विश्व के सामने पुनः प्रमाणित कर दी है।

* * *

आपको अपने व्यक्तित्व का विकास जीवन के मध्य से होकर करना चाहिए, उससे दूर रहकर नहीं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आततायी शत्रुओं के साथ भयंकर युद्ध करने का आदेश दिया था, उन्होंने उन्हें किसी निर्जन वन अथवा एकांत गुफा में जा बैठने की सलाह नहीं दी थी। *तस्मात् युद्धस्व भारत* ये शब्द किसी सांसारिक श्रम तथा संघर्ष से भागनेवाले कायर के प्रति नहीं कहे गए थे। *आत्मन्येवात्मना तुष्ट* होकर आप दृढ़ता के साथ अपने बल पर खड़े हों। अपने हृदय को महान् आदर्शों और उदात्त कर्मों की भावना से पूरित कर लें। अपने काम, क्रोध, द्वेषादि दोषों और दुर्बलताओं को दूर कर अपने वैयक्तिक बल का संग्रह करें। इससे आपके जीवन में उस महान् शक्ति और सौंदर्य का प्रवेश होगा जिसकी आपको अपेक्षा है, और आप जीवन का सर्वश्रेष्ठ आनंद प्राप्त कर सकेंगे, जिसका उपयोग एक महान् लक्ष्य की सिद्धि के लिये होगा। परंतु यह रहस्य हमें जीवन में किस प्रकार प्राप्त होगा ? यह तो तभी संभव है जब हममें यह विश्वास हो कि प्रत्येक रूप में सौंदर्य की उपासना ही संसार की सबसे सारवान् वस्तु है, कोई भी वस्तु उससे बढ़कर न तो जीवन के प्रति अक्षय उत्साह प्रदान कर सकती और न आत्मपूर्णता की भावना हृदय में ला सकती है। यदि मैं प्लेटो के इस अमर सूत्र—'मनुष्य की देवत्व की ओर प्रगति'—का अपनी दृष्टि से अर्थ करूँ तो जहाँ तक मैं समझता हूँ, उसका केवल अर्थ होगा 'विभिन्न रूपों में सौंदर्य का प्रगतिशील चिंतन तथा उसकी अनुभूति'; प्रगतिशील—सुंदर रूपों से सुंदर जीवन की ओर, सुंदर जीवन से सुंदर विचारों की ओर और सुंदर विचारों से निरपेक्ष सौंदर्य की ओर। हमें चाहिए कि हम अपनी संस्कृति के मूल तत्त्वों का अध्ययन करें और उनके मूल्य को समझें। हम उन्हें अपनी वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल बनाएँ परंतु उनके निरपेक्ष स्वरूप को भूल न जायँ, जिसे हम इन शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं—मनुष्य का मनुष्य के रूप में सम्मान; मानव स्वत्वों की मूल सिद्धांत रूप वह सुव्यवस्था जो व्यष्टि तथा समष्टि जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन सदाचार के नियमों के पालन द्वारा प्राप्त होती है; पूर्ण मानव व्यक्तित्व के लक्ष्य तक पहुँचने के लिये निरंतर प्रयत्न, जिससे उस परम आनंद की प्राप्ति हो जो केवल निरपेक्ष सौंदर्य के चिंतन से ही प्राप्त हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बस, केवल यही उपाय है जिसके द्वारा हमारे विश्वविद्यालय हमारी संस्कृति पर आए हुए संकट का सामना करने में समर्थ हो सकते हैं।

हिंदी की परंपरा

गत ८ नवंबर को बंबई हिंदी विद्यापीठ के पदवीदान समारंभ के अवसर पर डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने जो दीक्षांत भाषण दिया था उसका मुख्यांश यहाँ अविकल उद्धृत है—

आज हम अनिश्चितता की कुहेलिका में नहीं हैं। जो अपरिहार्य और अवश्यंभावी था, उसे हमारे राष्ट्र-परिचालकों ने मान लिया है। हर्ष है कि अब आगे से भाषा के विषय में समस्त विवाद, विचार, वितंडा, तर्कजाल भारतीय जनता को और विभ्रांत नहीं कर सकेंगे। निखिल भारत की राष्ट्रभाषा के स्थान पर हिंदी प्रतिष्ठित हो गई है। जिस ओर प्रकृति की गति थी, वहाँ रुकावट की आकांक्षा और चेष्टा व्यर्थ हो गई है। आदर्श की प्रतिष्ठा हो गई है एवं आदर्श-विपर्यय के डर से हम मुक्त हो गए हैं। अब हिंदी-हिंदुस्तानी वाली लड़ाई मिट गई है। पर समस्या का अंत नहीं हुआ। जीवन तो रणांगणों की समष्टि है। नई समस्याएँ हमारे दृष्टि-पथ पर हाजिर हो गई हैं। इन्हें भी हल करना हमारा महान् कर्तव्य होगा।

राष्ट्र-परिचालकों ने इस समय हिंदी को जो मर्यादा दी है, वह उसके अपने अधिकार की स्वीकृति ही है। यह मर्यादा बहुत पहले ही हिंदी को मिलनी चाहिए थी।

हिंदी का आधुनिक महत्त्व केवल इन दिनों के प्रचार का फल नहीं है। हिंदी की आंतःप्रादेशिकता कुछ ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कारणों का फल है। इस समय हिंदी जिनके द्वारा अपनी शिक्षा तथा बाहरी जीवन के क्षेत्रों में व्यवहृत की जाती है, उनकी संख्या कोई १४ करोड़ से कम नहीं होगी। भारतवर्ष में इन १४ करोड़ मनुष्यों को लेकर इस विशाल देश का "हिंदी संसार" बना है। पर यह भी विचारणीय है कि इन १४ करोड़ों में ५ करोड़ से अधिक लोग हिंदी को अपनी मातृभाषा के रूप में घरेलू बोली के तौर पर नहीं बोलते। अधिक से अधिक ५ करोड़ मनुष्य उन पछाहीं हिंदी बोलियों को जिन्हें शास्त्रिक दृष्टि से हम बोलते हैं और जो कि हिंदी की जड़ हैं, मातृभाषा के रूप में बोलते हैं—जैसे दिल्ली की खड़ी बोली, मेरठ रोहिलखंड आदि स्थानों की "जानपद हिंदी", बाँगरू या जाट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या हरियानी और व्रजभाषा, कनौजी और बुंदेली। इन सभों के लिये, हिंदी अपने पितृपुरुषों से प्राप्त रिकथ (Heritage) है। इनके अतिरिक्त हिंदी संसार के अवशिष्ट नौ करोड़ लोग घर में और भाषाएँ बोलते हैं—जैसे पंजाबी, गढ़वाली, कुमाऊनी, विभिन्न राजस्थानी बोलियाँ तथा मालवी, कोसली या पूर्वी हिंदी, भोजपुरी, सदानी या छोटानागपुरिया, मगही और मैथिली; परंतु हिंदी को इन्होंने अपनाया है, हिंदी के सिवा इस समय इनका ध्यान और दूसरी किसी भाषा या बोली पर नहीं है। हम जो कि "हिंदी संसार" के साथ अंतरंग नहीं बने, पर हिंदी से जिनका संयोग और साहचर्य घनिष्ठ रूप से है, अर्थात गुजराती, मराठी, ओड़िया, बंगला, असमी आदि स्वतंत्र भाषाओं के बोलनेवाले, हमारे लिये ऐसी परिस्थिति कुछ आश्चर्यजनक लगती है। पर ऐसी बात पृथ्वी में कोई नई या असाधारण वस्तु नहीं है। भाषा मुख्यतः संस्कृति का प्रकाशक्षेत्र है। सांस्कृतिक संयोग या प्रभाव के कारण पड़ोस की भाषा का असर अक्सर किसी भाषा पर आ पड़ता है, खास करके जहाँ के शिक्षित लोग अपनी मातृभाषा के संबंध में उदासीन रहते हैं, या एक या एकाधिक ऐतिहासिक कारणों से जहाँ के जनसमाज के परिचालक-स्वरूप उच्चवंश के मनुष्य अपनी खास प्रांतिक जनता की भाषा छोड़कर और किसी नजदीक की भाषा की ओर आकृष्ट होते हैं। ऐसे हिंदी के दो रूप व्रजभाषा और खड़ी बोली का गहरा प्रभाव पंजाब तथा राजस्थान एवं कोसल की बोलियों पर और बिहार प्रांत की बोलियों पर आ गया है। यहाँ तक कि इन सब जगहों के लोगों ने हिंदी को साग्रह भाव से अपना लिया है। यह सांप्रतिक इतिहास है। अस्तु, इतिहास जो हो सो हो; पर बात यह है कि पंजाबी (कुछ सिख पंडितों की बात छोड़कर), राजस्थानी, कोसली, गढ़वाली, कुमाऊनी, "हिंदी भाषा" बोलते हैं, और पछाहीं हिंदी बोलनेवालों से भी ज्यादा जोश के साथ हिंदी की सेवा में आत्मनियोजित हुए हैं। यह तो सच ही है कि हिंदी के प्रसार के लिये भोजपुरी, मैथिल, मगही और कोसली बोलनेवालों ने, राजस्थानी और पंजाबी बोलनेवालों ने, जो अनमोल काम किया है, वह आधुनिक भारत के इतिहास में एक बड़ी भारी लक्षणीय वस्तु है।

हिंदी संसार के अलावा अर्थात् जैसा मैंने थोड़ा ही पहले कहा है, पछाहीं हिंदी वालों और उनके साथ साथ हिंदी को अपनाए हुए लोगों के अलावा भारत के "आर्य-संसार" या आर्यभाषी जनों की संख्या १२ करोड़ होगी; "हिंदी संसार" के १४ करोड़ और गैर-हिंदी आर्यभाषियों के १२ करोड़, समूचे में २६ करोड़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्यों में हिंदी भाषा किसी न किसी प्रकार से चालू है। "हिंदी संसार" के बाहर के आर्यभाषी लोगों की स्वाभाविक और सहज आंतःप्रादेशिक भाषा हिंदी ही है। भारत के २६ करोड़ आर्यभाषियों में, जो जनसंख्या के ७३ प्रतिशत होते हैं, हिंदी की प्रतिष्ठा है। संख्या के विचार से हिंदी पृथ्वी की तीसरी भाषा है—उत्तरी चीनी और अंग्रेजी इन दोनों के बाद हिंदी का स्थान है। हिंदी के पीछे हमें इन भाषाओं को मानना पड़ेगा—रूसी, जर्मन, जापानी, हिस्पानी, बंगला, फ्रांसीसी। पर संस्कृति की दृष्टि से फ्रांसीसी की जो मर्यादा है, वह आधुनिक जगत् में न रूसी की है, न चीनी की, न हिंदी की। पर इसे संस्कृतिवाहिनी आधुनिक भाषाओं में एक मुख्य भाषा बनाने की जिम्मेवारी हम भारतीयों की ही है, क्योंकि यह भाषा अपनी संख्या और अपने खास वैशिष्ट्य के कारण आधुनिक भारत की प्रतिस्थानीय भाषा (Representative Language) बनी है। इसे अपने बहुल प्रचार के कारण तथा सहज बोधगम्यता के कारण हम "समानासु प्रथमा" (Prima Interpares) मानते हैं। हिंदी भारतीय जनता के कल्याण के लिये एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उत्तर-भारत की बात छोड़ दीजिए; द्रविड़भाषी दक्षिण की आम जनता के कुछ लोग शहरों में अंग्रेजी बोल लेते हैं, यह सच है, परंतु उत्तर-भारत की आधुनिक भाषाओं में यदि कोई भी भाषा सबसे अधिक लोगों की समझ में आती हो तो वह हिंदी ही है। निखिल भारतीय जनों के तीर्थस्थान जो बने हैं ऐसे मंदिर या क्षेत्र, जैसे बालाजी, मदुरा, श्रीरंगम, सेतुबंध रामेश्वर, कन्याकुमारी, तिरुवंतपुरम, मैसूर श्रवण बेलगोला इत्यादि, उन स्थानों में हिंदी बोलनेवाले पंडे, दूकानदार, व्यापारी, होटलवाले आदि बहुत से मिलेंगे। भारत के दूसरे अनार्यभाषी लोगों में भी हिंदी का ही प्रचार दिखाई देता है।

अपने देश से प्रेम रखनेवाले, जो भारतीय राष्ट्र को एक और अखंड मानते हैं, वे अवश्य स्वीकार करेंगे कि हमारे सांस्कृतिक, व्यापारिक तथा राष्ट्रीय एके के लिये हिंदी भाषा एक बड़ा भारी कार्यकर साधन है, यहाँ तक कि इस "खंड, छिन्न विक्षिप्त" देश में मैं संस्कृत के बाद हिंदी ही को ईश्वर का आशीर्वाद स्वरूप मानता हूँ। एक बार सोचकर देखिए तो भला। हमारे इस विराट् विशाल देश में, जो अपने आयतन में रूस देश को छोड़ सारे यूरोप खंड के समान है और जहाँ एक दर्जन से अधिक बड़ी बड़ी भाषाएँ चालू हैं, विरोधी मनोवृत्ति के और भारत के विपक्ष जनों के कथन के अनुसार जहाँ कई सौ भाषाएँ और उपभाषाएँ चालू हैं—वहाँ हिंदी ही के द्वारा हमें भाषासंकट से छुटकारा मिल गया है। केवल तीस मीलों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के इंग्लिश चैनल के सागर का व्यवधान डोवर और काले बंदरगाहों के अंतर है, पर अंग्रेज जब इंगलैंड से फ्रांस आता है, तब दुस्तर भाषा-संकट में गिर जाता है। फिर कई मीलों के बाद फ्लिमश भाषी पच्छिमी बेलजियम मिलता है—और इधर जर्मनी, जहाँ की भाषा फ्रांसीसी से अलग है। जिसे अच्छी तरह से तीन चार भाषाओं से परिचय न हो उसके लिये यूरोप की सैर में बड़ी ही दिक्कत होती है। पर हमारे भारत में विशेषतः उत्तर भारत में, भाषा की चिंता हममें नहीं होती। कोई बंगाली बंबई आवे, या कोई सिंधी, गुजराती या महाराष्ट्रीय असम देश तक जावे, वह कभी भी भाषा के संबंध में सोचता ही नहीं। टूटी-फूटी बाजारू हिंदी के सहारे हम इधर काश्मीर और पेशावर, नेपाल और सिक्किम से गोवा और हैदराबाद तक और उधर असम के पूर्वतम अंश में प्रतिष्ठित ब्रह्मकुंड तीर्थ से पेशावर तक दिग्विजय कर फिरते हैं। *अखिल भारतीय राष्ट्रीय एकता की एक मुख्य निशानी हमारी हिंदी भाषा है।* इस बात को हमारे देश के लोगों ने निःशब्द भाव से मान लिया है कि जो केवल अपनी प्रांतिक भाषा जानता है वह प्रादेशिक और सीमित रह जाता है और जिसका हिंदी से परिचय है वह सचमुच निखिल भारतीय बन जाता है।

हिंदी के इस सर्वजन स्वीकृत अखिल भारतव्यापी प्रभाव का ऐतिहासिक कारण क्या है, उसके संबंध में दो शब्द आप लोगों के सामने पेश करूँगा।

हिंदी का अपना देश है—आधुनिक पूर्वी पंजाब और पश्चिमी संयुक्तप्रांत। इस स्थान का प्राचीन नाम है "मध्यदेश"। कुरुपंचाल राष्ट्र, कुरुक्षेत्रमंडल—यह तो इस मध्यदेश का ही एक मुख्य अंश है। ईसा के जन्म के पूर्व की पहली सहस्राब्दी के प्रारंभ में मध्यदेश आर्यभाषामय भारत का केंद्र था। इसके पूर्व में थे "प्राच्य" या पूरब के देश—कोसल या अवध, काशी या भोजपुर प्रदेश और मगध अर्थात् मगही भाषा का प्रांत; पश्चिम और उत्तर में था "उदीच्य" देश—मद्र या उत्तर पंजाब, केकय और गंधार या पश्चिम पंजाब; और दक्षिण में थी राजपूताने की मरुभूमि। इस मध्यदेश को जो भारतीय आर्य तथा आर्यपूर्व द्रविड़, निषाद और किरात जातियों के सांस्कृतिक मिश्रण का केंद्र था, हम हिंदू ब्राह्मण्य सभ्यता का भी केंद्र या जन्मभूमि कह सकते हैं। इसी प्रांत में ईसा के जन्म के पूर्व लगभग दशमी शती में मिश्र आर्यानार्य संस्कृति ने अपनी विशिष्ट मूर्ति प्राप्त की थी। इसलिये इस देश का एक खास महत्व सभों ने मान लिया है। इसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान पर महर्षि वेदव्यास ने ब्राह्मणों के मुँह से सुने गए चार वेद संहिताओं का संग्रह किया था, और आर्य तथा (भाषा के विषय में आर्यीकृत अनार्य) द्रविड़ निषाद किरात, इन अनार्यों की पुरानी कहानी का संग्रंथन करना शुरू किया था। इसी जगह पर श्रीकृष्ण वासुदेव ने अपनी शिक्षा का प्रचार किया था, जिसमें हिंदू चिंताधाराओं का एक महान् समन्वय हमारे नजर आता है और जो शिक्षा मुख्यतः गीता में ही उपलब्ध होती है। "निगम" अर्थात् वेद और "आगम" अर्थात् वेदबाह्य तंत्रादि शास्त्र, जिन दोनों की उपासना-रीति अलग-अलग थी—वेदमार्ग में अग्नि द्वारा हवन करके और देवताओं के उद्देश्य से पशुओं के मांस मेदादि की आहुति दी जाती थी और तंत्र या आगमिक मार्ग की पूजा-रीति में देवता की मूर्ति या दूसरे प्रतीक पर फूल-पत्ते, पानी, चावल (अक्षत), खाद्य मिठाई (नैवेद्य) आदि चढ़ाए जाते थे—इन दोनों को एक साथ मिला देने की सार्थक चेष्टा कृष्ण वासुदेव ने ही की थी। भारतीय सभ्यता ने आर्यों के आगमन के बाद वेद-पुराण और गीता को लेकर, मध्यदेश ही में अपनी खास विशिष्टता प्राप्त की थी। मध्यदेश की संस्कृति अखिल आर्य प्रांतों की एकमात्र संस्कृति बनी और यहाँ के चिंता-नेताओं की विद्वत्ता, लोक-परिचालन-शक्ति प्रभृति गुणों के कारण यहाँ के लोगों की भाषा सभी आर्यभाषियों के लिये एक प्रामाणिक भाषा मानी गई।

केंद्रीय स्थान की भाषा होने के कारण दूर दूर प्रांतों के लोग इसे ही समझ सकते थे, पर इनमें एक प्रांत के लोग सुदूर प्रांतों की बोली समझने में कठिनाई अनुभव करते थे। पश्चिम पंजाब या महाराष्ट्र के आर्यभाषी लोग पूरब के बिहार प्रांत के आर्यभाषी की बोली को दुर्बोधगम्य समझते हैं और वैसा अतीत में भी समझते थे। पर बीच की बोली होने के कारण, मध्यदेश की बोली सब कोई सदी-ब-सदी और पीढ़ी-दर-पीढ़ी अच्छी रीति से प्रयुक्त करते आए हैं और करते भी हैं। इस प्रकार भारतीय सभ्यता के इतिहास के प्राथमिक या प्रारंभिक युग में, इस मध्यदेश में प्रचलित संस्कृत भाषा ही हमारी सभ्यता या संस्कृति का अनमोल प्रकाशक्षेत्र या माध्यम बनी। पंजाब और मध्यदेश से यह नवीन हिंदू सभ्यता जब समग्र उत्तर भारत पर फैली, तब से संस्कृत भाषा इसका माध्यम या वाहन बनी। हिंदू सभ्यता का वाहन और साथ ही साथ इसका प्रतीक बनकर, यह संस्कृत भाषा समग्र भारतभूमि पर फैल गई और साथ ही साथ मध्यदेश की यह भाषा यथासंभव सब लोगों से अपनाई गई। पिछले काल में संस्कृत परिवर्तित होकर प्राकृत और अपभ्रंश में रूपांतरित हो गई। परंतु मध्यदेश की प्राकृत, जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत का ही परिवर्तित रूप थी, संस्कृत की ही राह पर चली। बुद्धदेव के समय में अर्थात् ईसा के पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के मध्य भाग में, संस्कृत जब (खास करके प्राच्यदेश या पूरब में) कुछ पुरानी और अप्रचलित होनेवाली हो गई, तब लोकभाषा प्राकृतों के पक्ष में बौद्ध और जैन धर्मनेताओं ने जनता में प्रवृत्ति ला दी। इसका यह फल हुआ कि आम लोगों में चालू मौखिक या घरेलू बोलियों में साहित्य-सर्जना का आरंभ हुआ। यों जैनों में और बौद्धों में अपने अपने धर्म-संस्थापकों के उपदेश की भाषा पूर्वी प्राकृत में एक एक उच्चकोटि का दर्शन और विचारमूलक साहित्य बन गया। ऐसे महावीर स्वामी की जीवन-कथा और उनके उपदेशों के आधार पर जो लोकभाषामय नया साहित्य बना, भविष्यकाल में कुछ परिवर्तित होकर वह हमारे सामने अंत में जैन अर्धमागधी साहित्य के रूप में विद्यमान है। यह जैन अर्धमागधी महावीर स्वामी के समय की पूरब की भाषा का उत्तरकालीन कुछ कुछ परिवर्तित निदर्शन है। बुद्धदेव ने तो साफ साफ कह दिया था कि अपने उपदेश लोग अपनी अपनी खास भाषाओं या बोलियों में सुनें। उनकी शिक्षा पहले पहल मगध की बोली में ही दी गई थी, शिक्षापदों का पहला संग्रह इसी प्राच्य या पूरब की मागधी भाषा में हुआ था। पर तुरंत बुद्ध-वचनों के विभिन्न अनुवाद विभिन्न प्रांतिक भाषाओं में होने लगे। निदान यह हुआ कि मूल बुद्धोपदेश, जो कि मागधी में सबसे पहले लिपिबद्ध हुआ था, अब इस समय संपूर्णतया अवलुप्त हो गया है। पर इसके अस्तित्व के कुछ प्रमाण हमें मिलते हैं—इधर अशोक की धर्मलिपि से दो चार वाक्य मिल गए हैं। उधर दूसरी प्राचीन शिलालिपियों से कुछ शब्द और वाक्य, और पालि में उपलब्ध बौद्ध ग्रंथों में कहीं कहीं पालि के अंतराल में उसके पहले की पूर्व प्राकृत में लिखे गए मूल-स्वरूप बौद्ध शास्त्र की भाषा के कुछ शब्द, रूप और दूसरे चिह्नावशेष मिले हैं—बस। हमें अब पता चला है कि प्राचीन भारत में बुद्धवचन के कम से कम तीन अनुवाद बने थे—एक पालि में, दूसरा बौद्ध संस्कृत में और तीसरा उदीच्य या उत्तर-पश्चिम भारत में प्रचलित प्राकृत में। इन तीनों के अतिरिक्त प्राच्य भाषा में लिखा हुआ मूल बुद्धवचन या बौद्ध शास्त्र तो था ही। उदीच्य की बोली में लिखी गई बुद्ध-वचन की पुस्तकें न केवल आजकल के पंजाब, कश्मीर और सीमांत प्रदेश में चालू थीं, पर उन प्रांतों से ये सब मध्य एशिया में भी फैल गई थीं, जहाँ उदीच्य के लोग भारतवर्ष से आर्य संस्कृति तथा भाषा लेकर कुस्तन (या खोतन) आदि नगर बनाकर बस गए थे। मध्य एशिया के खँडहरों में से इस उदीच्य प्राकृत में लिखे हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्ध शास्त्रग्रंथों के कुछ अंश हमें मिल गए हैं, उनसे इस उक्त साहित्य की खबर हमें मिली है। संस्कृत में अनुवाद किए बौद्ध शास्त्रों का बहुत कुछ अंश नेपाल के बौद्धों ने बड़े ही यत्न के साथ संरक्षित किया है, वह हमें प्राप्त हुआ है। पालि भाषा में जो अनुवाद हुआ था वह सिंहल के बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा अब तक सुरक्षित होकर चला आया है। सिंहल से, हीनयान मत के बौद्धों के शास्त्र के रूप में यह पालि अनुवाद बर्मा, कंबोज और श्याम में लाया गया, वहाँ के भिक्षुओं में यह पालि शास्त्र अब भी जीवित है। हीनयान मत के थेरवाद या स्थविरवाद संप्रदाय के बौद्ध लोगों ने भारतवर्ष में ही इस पालि अनुवाद को बनाया था—कब, और कहाँ, इसका स्थिर निश्चय अब तक नहीं हुआ। पर जहाँ तक हमें पता चला है, हमारा विचार यह है कि यह अनुवाद, मध्यदेश की प्राकृत भाषा जहाँ चालू थी ऐसे किसी प्रांत में या मध्यदेश की प्राकृत के बोलनेवाले बौद्ध गुरुओं के द्वारा प्रस्तुत किया गया था। महाराज अशोक के पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा का जन्म मालव देश के एक प्रधान नगर विदिशा में हुआ था, उनकी माँ देवी नाम की सेठ घर की बेटी अशोक से ब्याही गई थी, जिस समय राजकुमार अशोक अपने पिता मौर्य सम्राट् बिंदुसार अमित्रघात के प्रतिनिधि बनकर मालव सूबे का शासन करते थे। बचपन में ये दो राजघराने के भाई-बहन विदिशा में ही पालित हुए थे, और वहाँ की बोली, जो मध्यदेश की ही प्राकृत थी, इनकी अपनी भाषा बनी। अपने पिता अशोक की घरेलू बोली उनसे दूर रहने के कारण इनकी बोली नहीं हो सकी। बुद्धवचन इन्होंने इसी मध्यदेश की भाषा में ही पढ़े, और जब उत्तरकाल में अशोक ने धर्मप्रचार के लिये अपनी पुत्री और पुत्र को लंका द्वीप को भेजा, तब ये जो बौद्ध शास्त्र साथ लाए वह मध्यदेशीय प्राकृत ही में लिखा हुआ था। पिछले समय उसका नाम बना 'पालि'। पर सिंहल के भिक्षु लोगों का उत्तर भारत की भाषाविषयक हालत से कुछ भी परिचय नहीं था। वे जानते थे कि बुद्धदेव मगध के थे, प्रांतिक मागधी प्राकृत में उपदेश किया करते थे; और मगध के मौर्य सम्राट् के द्वारा प्रेषित होकर मगध से ही शास्त्र लेकर राजघराने के प्रचारक आए, तो उनके लाए हुए शास्त्र की भाषा मागधी के सिवा और क्या हो सकती थी? यों गलती से सिंहल के पालिशास्त्र की भाषा का "मागधी" नाम हुआ। पर प्राकृत भाषातत्त्व की एक साधारण बात यह है कि पालि का मेल-जोल उस मागधी प्राकृत से बिलकुल नहीं है जिस मागधी प्राकृत का व्याकरण तथा कुछ निदर्शन हमें मिले हैं। इसका सादृश्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरानी शौरसेनी प्राकृत ही से है। अतः हम कह सकते हैं कि बौद्ध साहित्य की एक प्रौढ़ भाषा पालि मध्यदेश की प्राकृत शौरसेनी के प्राचीन रूप पर आधारित है। संस्कृत नाटकों से यह पता हमें चलता है कि ईसा के आसपास की शतियों में जितनी प्राकृत या आर्य लोकभाषाएँ उत्तर भारत में चालू थीं, उनमें शौरसेनी प्राकृत, याने मध्यदेश के अंतर्गत शूरसेन या व्रजमंडल की प्राकृत सब प्राकृतों में सबसे उन्नत, शिष्ट और भद्र मानी जाती थी। जहाँ नाटकों के पात्रों को अपने आभिजात्य के कारण संस्कृत ही में बोलना चाहिए था, पर नारी या शिशु होने के कारण संस्कृत जिनसे बोली नहीं जाती थी, वे सहज रूप से शौरसेनी प्राकृत ही बोलते थे। ऐसे ही जब प्राकृत परिवर्तित होकर अपभ्रंश की अवस्था में आ पहुँची, तब भी हम देखते हैं कि और सब प्रांतिक अपभ्रंशों का, शौरसेनी या मध्यदेशीय अपभ्रंश के सामने, कोई भी मर्यादापूर्ण स्थान नहीं था। ईस्वी लगभग ८०० से शुरू कर १२००-१३०० तक, शौरसेनी अपभ्रंश भाषा, जो "नागर" अपभ्रंश भी कहलाने लगी, उत्तरभारत के लिये एक विराट् साहित्यिक भाषा के रूप में विराजती थी। संस्कृत के बाद इस शौरसेनी अपभ्रंश का ही स्थान उस समय था। विभिन्न प्रांतीय अपभ्रंश भाषाएँ थीं तो सही, पर इनमें साहित्य-सर्जना मानो नहीं होने के बराबर ही थी। चार छः सौ वर्षों तक उधर सिंधु प्रदेश से पूरब बंगाल तक, और कश्मीर, नेपाल, मिथिला से लेकर महाराष्ट्र, उड़ीसा तक तमाम आर्यावर्ती देश इस शौरसेनी या नागर अपभ्रंश साहित्यिक भाषा का क्षेत्र बन गया था। राजपूत राजाओं का प्रभाव इसका एक कारण हो सकता है। पर मेरी राय में, इससे उत्तर भारत का एक साधारण भाषासाम्य या भाषाविषयक सहज-बोध्यता भी प्रमाणित होती है। शौरसेनी अपभ्रंश में सिंध, महाराष्ट्र, पंजाब, कश्मीर, बिहार, बंगाल तक के कवियों के पद और दूसरी कविताएँ मिली हैं। साथ साथ किसी किसी प्रांत में प्रांतीय भाषाओं की उपज के समय इनमें भी स्थानीय कवि लोग रचना करते थे, जैसे बंगाल में, मिथिला में। पछाहीं खंड जो कि शुद्ध हिंदी का अपना देश है, और राजस्थान, गुजरात, ये सब प्रांत तो शौरसेनी अपभ्रंश की निजी भूमि थी। इसमें कोई भी संदेह नहीं है कि लगभग १००० ईस्वी शती में, किसी उत्तर भारतीय आर्यभाषी का यदि देशाटन करना और साथ साथ साधारण जनों से तथा शिष्ट जनों से मिलना होता तो संस्कृत के अतिरिक्त शौरसेनी अपभ्रंश के सिवा उसका काम ही नहीं चलता। यह तो सच है कि शौरसेनी अपभ्रंश उन दिनों की आंतःप्रादेशिक भाषा ही थी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और क्योंकि आजकल की व्रजभाषा, खड़ी बोली आदि विभिन्न प्रकार की हिंदी का उद्भव इस शौरसेनी अपभ्रंश से ही हुआ है, हमें यह कहना होगा कि अब की न्याईं एक हजार बरस पहले हिंदी ही अपने पूर्व रूप में आंतःप्रादेशिक भाषा के रूप में अखिल उत्तर भारत भर में फैली थी और तमाम आर्यभाषी संसार में पढ़ी, पढ़ाई और लिखी जाती थी।

ऐसे हमारी आँखों के सामने स्पष्ट प्रतिभात होता है कि मध्यदेश की ही भाषा सिलसिलेवार विभिन्न युगों में भारत की मुख्य राष्ट्रिक तथा सांस्कृतिक एवं एकमात्र आन्तःप्रादेशिक भाषा (संस्कृत के बाद, यह तो मानना ही है) बनकर चली आई है। इसका सांप्रतिक इतिहास और भी स्पष्ट है, यद्यपि बीच बीच की कुछ बातें हमारे लिये व्यासकूट या संशयमय बन रही है। विदेशी तुर्क लोगों ने मुसलमान धर्म लेकर जब भारत पर चढ़ाई की, और ये लोग हिंदू भारतीयों को लड़ाई में हराकर उत्तर भारत के राजा बने, तब उत्तर-भारतीय आधुनिक भाषाएँ अपने अपने सूतिकागार में थीं। पंडितों में शिष्ट भाषा, ज्ञान-विज्ञान, आंतःप्रादेशिक काम-काज की भाषा संस्कृत तो थी, पर जनता में शौरसेनी अपभ्रंश का ही प्रचलन था। पर शौरसेनी अपभ्रंश, मौखिक चालू बोलियों के मुकाबिले, कुछ प्राचीन भावग्रस्त थी। फिर, मुसलमान राज कायम होने का पहला फल यह हुआ कि राजपूत हिंदू राजाओं की सभाओं में अपभ्रंश लेखक और कवियों को जो पृष्ठपोषकता मिलती थी, तुर्क मुसलमान सुलतानों के दर्बारों में वह खतम हो गई। इधर लोकभाषाओं के प्रकट होने का समय आया। मुसलमान राज की पहली दो शती तक नवीन लोकभाषाएँ बच्चों की न्याईं पदस्खलन करती हुई आगे बढ़ीं। हिंदू जनता और हिंदू राजा लोगों को इन नवीन लोकभाषाओं ने अपने अधीन कर लिया। अपभ्रंश को अब ज्यादातर जैन संस्थाओं के पंडित साधु लोगों के पास आश्रय मिला। पर अपभ्रंश के दिन लद चुके थे। पंजाबी (पश्चिमी और पूर्वी), सिंधी, मारवाड़ी—गुजराती, व्रजभाषा, कोसली (या बैसवाड़ी), मैथिल, बँगला, ओड़िया, असमी, मराठी—ये सब बोलचाल में अपने अपने स्थानों में प्रतिष्ठित हुईं और इनमें कुछ भाषाओं के लिये कवि लोग भी सचेत हुए, अपनी मातृभाषा समझ इन्हें भी प्रीतिभरी दृष्टि के साथ देखने लगे। जैसे हमारे बंगदेश के अज्ञातनामा कवि ने, जो कि सिर्फ "बंगाल कवि" नाम से परिचित हैं, ईस्वी १२०० वर्ष के पहले ही अपनी मातृभाषा के संबंध में ऐसा लिखा था। "सदुक्तिकर्णामृत" नाम की श्लोकसंग्रह पुस्तक में, जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि १२०५ ईस्वी के आसपास बंगाल के अंतिम हिंदू राजा लक्ष्मणसेन की सभा में उपस्थित पंडित और अमात्य श्रीधर दास द्वारा बनाई गई थी, यह कविता आ गई है—

घन रसमयी गभीरा वक्रिम सुभगोपजीविता कविभिः ।
अवगाढ़ा च पुनीता — गंगा बंगाल वाणी च ॥

[गंगा तथा बंगवाणी, इन दोनों में अवगाहन करने से ये मनुष्य को पवित्र कर देती हैं, गंगा प्रचुर जलमयी हैं, बंगभाषा नाना काव्य रस से भरी है; गंगा गहरी नदी है, बंगभाषा अर्थ या भावगभीरा है ; गंगा नदी टेढ़ी बाँकी रीति से प्रवाहिता है, सुंदर है और कवियों के द्वारा वर्णित है ; और बंगला भाषा में बाँकेपन या सावलील सौंदर्य है, यह भाषा सुंदर है, बहुत से कवि लोगों ने इसमें लिखा है और अब भी लिखते हैं ।]

कबीर दास ने भी अपनी भाषा के विषय में वैसे लिखा है—

कबिरा संस्कृत कूपजल, भाषा बहता नीर ।
जब चाहिए तब डूबिए सीतल होय सरीर ॥

बंगला, मैथिल, ओड़िया, कोसली, ब्रजभाषा तथा प्राचीन राजस्थानी-गुजराती और मराठी को साहित्यिक मर्यादा मिली । पर अपभ्रंश का पुराना स्थान रातोंरात नहीं मिटने का था । अखिल भारत पर उसका प्रभाव चलता ही रहा । पर धीरे धीरे अपभ्रंश की वारिस बनी मध्यदेश की दो भाषाएँ—आगरा मथुरा और ग्वालियर की ब्रजभाषा, और दिल्ली की खड़ी बोली । बैसवाड़ी या कोसली को भी एक महत्वपूर्ण स्थान मिला, जो भाषा मध्य देश संपर्कित अयोध्या में चालू थी । मध्ययुग के उत्तर भारत के साहित्यिक इतिहास में ब्रजभाषा का स्थान सबको विदित है । ऐसा जँचता है कि अपनी बेटी ब्रजभाषा में शौरसेनी अपभ्रंश को नवीन कलेवर मिला, नए आयुकाल को उसने प्राप्त कर लिया । उधर बंगाल से लेकर महाराष्ट्र और पश्चिम पंजाब तक, ब्रजभाषा कविता संगीत और राधाकृष्ण विषयक वैष्णव शास्त्रग्रंथों की भाषा बनी । बंगाल के कवियों को लिखी हुई ब्रजभाषा कविता मिली है, जैसे शौरसेनी अपभ्रंश की । कवि भूषण ने अपनी ओजोमयी ब्रजभाषा में महाराष्ट्र-कुलभूषण हिंदूतिलक श्रीशिवराज की जो प्रशस्ति रची, वह शिवाजी महाराज के लिये उद्दीपनामय अनुप्राणना बनी । मराठी पोवाडा या युद्धगीत-लेखक लोग भी कभी कभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रजभाषा या दूसरी मध्यदेशीय भाषा व्यवहार करते थे। सिक्ख गुरुओं के धर्मोपदेश की भाषा तो अपनी जड़ से ब्रज और खड़ी बोली ही है—पंजाबीपन इसमें जो दिखाई देता है वह केवल स्थानीय भाषा के असर या प्रभाव के तौर पर। दिल्ली में और उसके बाद अकबर बादशाह के समय में आगरे में जब मुसलमान सल्तनत की राजधानी प्रतिष्ठित हुई और आखिर जब दिल्ली फिर पायतख्त बनी, तब ब्रजभाषा और दिल्ली की बोली, हिंदी के ये दो रूप उत्तर भारत में पुनः सुप्रतिष्ठित हुए। उधर ईस्वी पंद्रहवीं शती में संत कबीरदास की रचनाओं में दिल्ली की खड़ी बोली को स्थान मिला, कभी शुद्ध रूप में, कभी ब्रजभाषा से मिले-जुले रूप में। दक्षिण भारत में हिंदी की ही एक शाखा ईस्वी चौदहवीं शती से प्रतिष्ठित हुई और इसके सहारे दक्षिण में "दकनी" भाषा और साहित्य की नींव सोलहवीं शती में डाली गई, जिस दकनी के प्रभाव के कारण दिल्ली में अठारहवीं शती के मध्य भाग में, "मुसलमानी हिंदी" या उर्दू की प्रतिष्ठा हुई। फिर कलकत्ता में हिंदी और उर्दू इन दोनों ने आधुनिक उत्तर भारत के साहित्यिक तथा सांस्कृतिक जीवन में अपने स्थान जमा लिए और हिंदी का साहित्यिक प्रसार होने लगा। धीरे धीरे पछाँह के बाहर पंजाब, पूरब, राजस्थान, मालवा, बिहार, मध्यप्रदेश इन सब प्रांतों में एक विराट् "हिंदीसंसार" शिक्षा के विस्तार के साथ ही साथ ईस्वी उन्नीसवीं शती के द्वितीयार्ध से तैयार होने लगा। हिंदी अब अपने प्रसार के कारण मध्यदेश की भाषा के गौरवमय इतिहास की नए तौर पर उत्तराधिकारी बनी—मध्य देश का प्राचीन गौरव और उस स्थान की आधुनिक भाषा की संख्या-भूयिष्ठता, ये दोनों एकत्र सट गए। अखिल भारत की अखंडता के संबंध में हमारे राजनीतिक तथा सांस्कृतिक नेता लोग बड़े जोश के साथ सोचने लगे, खास करके बंगाल के कुछ प्रख्यात चिंता-नेता। उन्होंने हिंदी को और भी अखिल भारतीय ऐक्य के संगठन की दृष्टि से देखा, और भारत के आयंदा युग के इतिहास में हिंदी के स्थान और हिंदी के द्वारा होनेवाली एकता बढ़ने की संभावना पर इन्होंने दूरदृष्टि संपन्न भविष्यवादी की नजर से देखा। यों ईस्वी १८५७ सन् में बंगाल में केशवचंद्र सेन ने अपने समाचार-पत्र में 'हिंदी ही अखिल भारत की जातीय भाषा या राष्ट्रभाषा बनने के योग्य है,' इस विषय पर निबंध लिखा। १८८२ में राजनारायण बोस ने और १८८६ में भूदेव मुखुर्ज्या ने भी भारत को एक जातीयता के सूत्र में बाँधने के लिये हिंदी की उपयोगिता के विषय पर विचार-समुज्ज्वल वकालती की। १९०५ सन् से जब बंगाल में बंगभंग के बाद स्वदेशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आंदोलन का आरंभ हुआ, जिसके साथ हमारे स्वाधीनता-संग्राम की नींव डाली गई, उस समय कालीप्रसन्न काव्य-विशारद जैसे कुछ बंगाली नेताओं ने हिंदी के पक्ष में प्रयत्न किया कि हिंदी के सहारे जनता में राष्ट्रीय-स्वाधीनता के लिये आकांक्षा फैल जाय। फिर १९२० के बाद, गांधी जी राष्ट्र-संग्राम के क्षेत्र पर अवतीर्ण हुए, और फौरन भारत के राष्ट्रीय और आंतःप्रादेशिक जीवन में हिंदी को उन्होंने अपना यथायोग्य स्थान दिया। कुछ वर्षों तक हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी मामले के कारण देश में आदर्श-विपर्यय आ गया, बहुत से लोग विभ्रांत हो गए अब अंत में यह आवर्त शांत हो गया है, हिंदी अपने अधिकार से "समानासु प्रथमा" मानी गई है। इस सांप्रतिक इतिहास के दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

ऐसे भारत में आर्य भाषा के इतिहास की पर्यालोचना करते हुए, हम देखते हैं कि हिंदी कम से कम तीन हजार वर्षों की एक धारा, एक सिलसिले के अंत में आई है—यह प्रवाह या परंपरागत वस्तु है, अचानक आकर सामने खड़ी हुई कोई चीज नहीं है। मध्यदेश की भाषा-परंपरा में इसी धारा के अनुसार हिंदी को आन्तःप्रादेशिकता की मर्यादा मिली है—(१) संस्कृत, (२) प्राचीन शौरसेनी, जिसका एक साहित्यिक रूप है पालि, (३) शौरसेनी प्राकृत (४) शौरसेनी अपभ्रंश तथा उसी का रूप नागर 'अपभ्रंश' (५) राजस्थान की पिंगल भाषा तथा पुरानी व्रजभाषा (६) मध्यकालीन व्रज-भाषा, व्रजभाषा-खड़ी बोली मिश्र शैली (७) दकनी (८) दिल्ली की खड़ी बोली (९) आधुनिक नागरी हिंदी और उसका मुसलमानी रूप उर्दू, जिसको अपनी स्वाभाविक गति मिलेगी—"सागरे मिलावत सागर लहरी समाना"। शुद्ध हिंदी के सागर में इस मुसलमानी हिंदी याने उर्दू की लहर मिट जायगी।

यह तो हिंदी का बाहरी इतिहास है। भारत के गौरव के साथ ही साथ यह इतिहास और भी गौरवमय बनेगा। हिंदी भारत के दो तिहाई से अधिक लोगों में किसी न किसी रूप में चालू है और समग्र भारतीय जनता के लिये हिंदी गृहीत होनेवाली है। आंतर्जातीय राष्ट्रनीति के क्षेत्र में भारत का महत्त्व बढ़ता जाता है, साथ-साथ भारत की राष्ट्रभाषा का भी महत्त्व बढ़ेगा। विश्वराष्ट्र-संघ में इस समय पृथ्वी की जो श्रेष्ठ भाषाएँ मानी गई हैं वे पाँच हैं—अंग्रेजी, फ्रांसीसी, हिस्पानी, रूसी और चीनी। साथ साथ हिंदी को स्थान मिलना चाहिए और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा विश्वास है, मिलेगा ही। परंतु इस दायित्वपूर्ण परिस्थिति के लिये हमें तैयार रहना चाहिए।

सम्मेलन के सभापति का भाषण

अ० भा० हिंदी साहित्य सम्मेलन के हैदराबाद अधिवेशन (२४–२७ दिसंबर, १९४९) के सभापति पं० चंद्रबली पांडे के भाषण का सार-अंश यहाँ उद्धृत है—

राष्ट्रचेतना

प्रश्न उठता है कि जो हम हिंदी को राष्ट्रभाषा कहते हैं उसका रहस्य क्या है। क्या हम उसे प्रजावर्ग की भाषा मानते हैं? हमारी धारणा है कि हमारी स्थिति यही है। हम हिंदी को यदि केवल राजभाषा मानते हैं, तो यह हमारी भूल है। ऐसा कहते या करते समय हमारे सामने केवल राजनीति आती है। राजनीति की दृष्टि से हमारी एकता कैसी और कितने दिन की होगी, इसे हम नहीं कह सकते, पर जिस कारण से जैसी एकता आज तक इस महादेश में बनी रही है, उसे हम छोड़ भी नहीं सकते। किसी और की क्या कहें? कभी पाकिस्तान के मंत्रद्रष्टा स्वयं अल्लामा इक़बाल ने बड़े अभिमान से लिखा था—

मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना,
हिंदी हैं हम वतन है हिंदोस्ताँ हमारा।
यूनान मिस्र रोमा सब मिट गए जहाँ से,
अब तक मगर है बाकी नाम वो निशाँ हमारा।
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमाँ हमारा।

किंतु उनको कदाचित् उस बात का पता जीवन के अंतिम क्षण तक न चला जिसके कारण यूनान, मिस्र और रोम के मिट जाने पर भी आज हम बने हैं और खड़े खड़े आज भी काल को चुनौती दे रहे हैं। कारण प्रत्यक्ष है। इकबाल को अपनी संस्कृति का बोध कितना था। जो परंपरा से प्राप्त था वह भी तो पढ़-लिख जाने से परास्त हो गया। वृद्धावस्था में तो उन्होंने बड़े अभिमान से लिखा—

अजमी खुम है तो क्या ! मय तो हेजाजी है मेरी।
नगमए हिंदी है तो क्या ! लय तो हेजाजी है मेरी॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा जा सकता है कि इकबाल ने इस प्रकार ईरान, हेजाज और हिंद को एक कर दिया। हो सकता है, पर इसका परिणाम स्वयं हिंद में क्या हुआ? क्या यह भी कहने की बात है? स्मरण रहे, कभी इकबाल का छंद था—

वहदत की लय सुनी थी दुनिया ने जिस मकाँ से,
मीरे अरब को आई ठंडी हवा जहाँ से,
मेरा वतन वही है मेरा वतन वही है।

अस्तु, इकबाल को शिक्षा-दीक्षा पर यदि अंगरेजी धारा का कु-प्रभाव न पड़ता तो आज की स्थिति ही कुछ और होती और होता हमारा इक़बाल भी कुछ और ही। परंतु अब करना क्या चाहिए जिससे हमारा कोई इकबाल न बिगड़े और बचपन में ही वह झट देख ले कि 'वह बात' कौन सी है, जो 'हमारी हस्ती' को आज भी अडिग बनाए हुए है। सो एक वाक्य में हम व्यास की वाणी में कह सकते हैं—

आचार्यशिष्टा या जातिः सा दिव्या साऽजरामरा।

और यह जाति आचार्यशिष्टा है, इसमें संदेह नहीं। पर जिस कुशिक्षा के कारण इकबाल हमसे इतनो दूर निकल गए उसी कुशिक्षा के कारण हम भी अपनों से इतनी दूर पड़ गए कि 'संविधान' में हमारा राष्ट्र भी अपने अंक से वंचित हो गया, और हमारा दर्शन कुछ बाबुओं की सुविधा के लिये मारा गया। पर स्मरण रहे इकबाल की यह धुन—

मेरा वतन वही है मेरा वतन वही है।

और जहाँ आज यह 'तराना' सुनाया जा रहा है वहीं कहीं कभी बाबा आदम भी अपनी फेरी लगाते रहे होंगे। कारण यह कि हिंदी कवि उसमान का कहना है—

पंथिन्ह मिलि पुनि गा सैलाना, बाबा आदम कर अस्थाना।

कुछ भी हो, इतना तो मानना ही होगा कि इस प्रसिद्धि में कुछ सार है, और अरब तथा भारत का यह लगाव बहुत पुराना है। कभी उदार दारा का ध्यान इस ओर गया भी था और उसने इस विषय पर कुछ लिखा भी था, किंतु वह औरंगजेब के हाथ में पड़ा तो उसको उसके प्रतिकूल बहुत बड़ा अस्त्र मिल गया, और दारा अपनी इस सूझ-बूझ के कारण तलवार के घाट उतरा। किंतु अब वह समय आ गया है जब उसकी स्थापना पर फिर से विचार किया जाय और कुरान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा उपनिषद् की विचार-धारा को साथ साथ समझा जाय। इकबाल को यही कार्य करना था, पर उनसे हो गया कुछ और ही।

भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति एक है और एक ही रहेगी भी, राज्य चाहे जितने और संप्रदाय चाहे कितने ही हों।

कहा जा सकता है कि गत सहस्र वर्षों से जो मुसलिम धारा इस देश में बह रही है और गत दो सौ वर्ष से जो फिरंगी धारा अपना प्रभुत्व दिखा रही है उसका भी तो कुछ ध्यान होना चाहिए। निवेदन है कि हमने उसकी उपेक्षा कब की, जो यह प्रश्न उठाया जा रहा है? बाहर से जो आ मिला, हमारा हो गया। पर जो मिलने से डरा अलग हो गया। अरब, तुर्क और ईरानी इस देश में आए और यहीं बस गए। फलतः हमारी संस्कृति उनसे बासित हो गई। उनकी बास संस्कृति के प्रभाव से हममें भी आई। 'दोइ फुलायल तेल' के न्याय से हमारी प्रीति भी कुछ और हो गई। प्रेम और भक्ति को कुछ और ही रूप मिल गया। किंतु तो भी उतना गहरा प्रभाव न पड़ा जितना कि फिरंग का। फिरंगी रहे तो हमसे दूर, पर दूर से ही लक्ष्य बनाया हमारे हृदय को। परिणाम यह हुआ कि हमारी संस्कृति उनसे भावित हो गई। हम पुरातन के अंध पक्षपाती नहीं हैं पर हमें सनातन की चिंता अवश्य है। कहा भी गया है—

अनृतेन भवेत्सत्यं सत्येनैवाऽनृतं भवेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा॥

अतएव सनातन को परख भी कोई खेल नहीं, परंतु इतना तो अवश्य है कि उसकी परख भी उसी को हो सकती है जो वर्तमान का दास नहीं अतीत का ज्ञाता है और साथ ही है भविष्य का द्रष्टा भी। भूत तथा भाव्य से ही शाश्वत की परख होती है, कुछ वर्तमान के परिक्रमण से नहीं। इसी से तो यह सिद्धांत ठहराया गया है—

नीहारेण हि संवीतः शिश्नोदरपरायणः।
जात्यन्ध इव पन्थानमावृतात्मा न बुध्यते॥

और इस 'आवृतात्मा' का संसरण ही तो संस्कृति है। यदि आत्मा के अनुकूल सजन न हुआ तो हम उसे संस्कार वा संस्कृति कैसे कह सकते हैं? वह तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्चय ही विकार वा विकृति है, हमें इस विकृति से बचना चाहिए और अपनी आत्मा तथा संस्कृति को समझ कर ही आगे बढ़ना चाहिए। 'आप' जानते हैं कि 'आप' शब्द 'आत्मा' का रूपांतर है और इसी 'आप' में आप की सारी संस्कृति बसी है। कवि कहता है—

आपु आपु कहँ सब भलो अपने कहँ कोइ कोइ।
तुलसी सब कहँ जो भलो, सुकबि सराहिहिं सोइ॥

किंतु उलटे कहा यह जाता है कि भारतीय संस्कृति तो व्यक्तिप्रधान है। भरत नाम का एक राजा हुआ और समस्त देश का नाम हो गया भारतवर्ष। ठीक है। पर यही तो समझने की बात है? क्या किसी दशा में यह संभव है कि जिस देश में सभी लोग अपने आपको ही सब कुछ समझते हों और अपने आप के लिये ही सब कुछ करते हों उसी देश में कोई दूसरा जीव ऐसा उठा ही नहीं कि अपने देश का नाम बदल कर कुछ और ही रख दे और इस प्रकार अपना नाम सर्वत्र चालू कर दे! नहीं, नहीं, ऐसा सोचना भूल है। हमारी संस्कृति व्यक्तिप्रधान नहीं, प्रतीकप्रधान है; और जब प्रतीक के रूप में किसी प्राणी को ग्रहण कर लेती है तब फिर चुनाव का प्रश्न ही नहीं रह जाता। नाम बदलना हमारा काम नहीं, नाम जगाना हमारा धर्म है। कहते हैं, दुष्यंत का लड़का भरत था। उसी के नाम पर इस देश का नाम भारत हो गया। है यही बात। किंतु देखना तो यह चाहिए कि ऐसा क्यों हो गया? क्या यह किसी 'शासन' का परिणाम है? नहीं, इस 'भरत' के विषय में भगवान् मारीच की भव्यवाणी है—

रथेनानुद्धातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः; पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात्सर्वदमनः; पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्॥

अस्तु, भारतीय संस्कृति की परख है सत्व का दमन और लोक का भरण। तुलसीदास का भी यही कहना है—

बिस्व भरन पोषन कर जोई, ताकर नाम भरत अस होई।

बात यह है जीव की सहज प्रवृत्ति होती है 'सर्वदमन' की, और संस्कार द्वारा उसको शिक्षा मिलती है लोकभरण की। भारत ने किस प्रकार 'हिंसा' को 'अहिंसा' के अधीन कर लोक का कल्याण किया, इसका जीता-जागता प्रमाण अशोक का नाम ही है। अशोक-स्तंभ का जो सिंह आज हमारी आंखों के सामने है, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजमुद्रा पर विराजमान है, वह किसी की हिंसा में रत नहीं। वह भी आज मौन भाव से प्रियदर्शी अशोक का उपदेश दे रहा है। सर्वदमन बाल-भाव से उसी सिंह का दाँत देख रहा था और वह सिंह भी उससे हिल-मिल कर खेल रहा था। दोनों ही एक दूसरे से धन्य हो रहे थे। तभी तो मारीच ने कहा कि इसकी इस लीला को देखकर विस्मित न हों। यही आगे चलकर लोक का भरण करेगा। कारण, इसमें 'सर्वदमन' की शक्ति जो है। सर्वदमन की स्थिति की प्राप्ति के बिना सर्वभरण का स्वप्न देखना व्यर्थ है। इस 'भरत' का निर्माण ही 'अभिज्ञानशाकुंतल' में इष्ट है और 'इष्टि' भी होती है इसीलिये। क्या कालिदास के पाठकों से यह भी बताना होगा कि 'अभिज्ञान' का पता चला था धीवर के द्वारा? आज आवश्यकता है इस बात की कि हम इस 'शक्रावतारतीर्थवासी' धीवर को समझें और अभिज्ञान के उस 'राष्ट्रिय' को भी न भूलें जिसने अंत में उससे कहा था—

तच्छौंडिकापणमेव गच्छामः

भारतीय संस्कृति का मूल-स्रोत क्या है, और उसके 'अभिज्ञान' में किसी 'राष्ट्रिय' का महत्त्व क्या है, इसकी एक झलक मिल गई। अच्छा होगा, यदि यहीं 'राष्ट्रपति' का भी साक्षात्कार कर लें। धर्मराज युधिष्ठिर के विषय में कहा गया है-

तमालतालाम्रमधूकनीपकदम्बसर्जार्जुनकर्णिकारैः।
तापात्यये पुष्पधरैरुपेतं महावनं राष्ट्रपतिर्ददर्श॥

'भारत' की भारती में 'राष्ट्रपति' का जो रूप आपके सामने आया है उसी को दृष्टि में रखकर इतना और जान लें कि हमारे राष्ट्रपति का धर्म है—

भूसंस्कारं राजसंस्कारयोगमभैक्ष्यचर्यां पालनं च प्रजानाम्।
विद्याद्राजा सर्वभूतानुकंपी देहत्यागं चाहवे धर्ममग्र्यम्॥

भाव यह कि हमारी संस्कृति 'भू-संस्कार' को भी समेट कर चलती है और हमारा 'धर्मव्याध' भी किसी द्विज को यही उपदेश देता है—

संस्कृतस्य च दान्तस्य नियतस्य यतात्मनः।
प्राज्ञस्याऽनन्तरा वृत्तिरिहलोके परत्र च॥

और हमारी संस्कृति 'वृत्ति' को ही प्रधानता देती है 'वित्त' को नहीं। इसे हम हिंदी के अनेक मुसलमान कवियों में भी देख सकते हैं और भली भाँति समझ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते हैं कि आज मार्ग या 'मजहब' अलग होने पर भी संस्कृति कैसे एक हो सकती है। सो खानों के खान, तलवार के धनी नवाब अब्दुर्रहीम का कहना है—

नैन तृप्त कछु होत है, निरखि जगत की भाँति।
जाहि-ताहि में पाइयत, आदि रूप की कांति॥
उत्तम जाति बराम्हनी देखत चित्त लुभाय।
परम पाप पल में हरत, परसत वाके पाय।
परजापति परमेसरी, गंगा रूप समान।
जाके अंग-तरंग में करत नैन अस्नान॥

'आदि रूप' को लेकर प्रथम दोहे में जो बात कही गई है वह किसी भी मुसलिम हृदय में सरलता से उतर सकती है, पर शेष दो दोहों की बात हिंदी मुसलमान ही समझ सकता है।

साथ ही 'तुरकिन' के रूप का भी दर्शन करें तो जाति-भेद का रहस्य खुले। तुरुक रहीम कहते हैं—

चतुर चपल कोमल विमल पग परसत सतराइ।
रस ही रस बस कीजिये तुरकिनी तरकि न जाइ॥

'पग परसत सतराइ' में पूरा शील भी उतर आया है और रूप भी। रहीम ने 'वृत्ति' को 'वृत्त' के साथ जितना सटीक देखा है उतना किसी भी दूसरे कवि ने नहीं।

अस्तु, हमारा कहना है कि भारतीय संस्कृति एक है और है एक वृत्त तथा संस्कारपरक। उसके मूल में 'वृत्ति' का वास है, 'वित्त' का विलास नहीं। व्यवहार में उसे व्यंजनांत 'सम्' भाता है, स्वरांत 'सम' नहीं। संस्कृति और संविभाजन ही उसको इष्ट है, समवृत्ति वा समविभाजन नहीं।

नागरी भाषा

नागरी से एक निश्चित भाषा का बोध होता है, केवल लिपि का नहीं। हिंदी का ही नाम नागरी भी है। 'काशी नागरीप्रचारिणी सभा के इतिहास में देखा जा सकता है यह वाक्य—

"इस सभा के सभासदों का मुख्य कर्तव्य *नागरी भाषा* का सीखना और उसी भाषा में वार्तालाप तथा पत्र-व्यवहार और अपने मित्रवर्गों को उसी भाषा की उन्नति में प्रस्तुत करना होगा।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्यों होगा, इसका उत्तर स्यात् इससे बढ़कर कोई दूसरा न होगा कि दिल्ली के प्रसिद्ध सूफी फकीर ख्वाजा हसन निज़ामी 'कुर्आन मजीद' की भूमिका में लिखते हैं—

"यह हिंदी जबान ममालिक मुत्तहदा अवध और रुहेलखंड और सूबा सी० पी० और हिंदुओं की अक्सर देशी रियासतों में मुरव्वज है। गोया बंगाली, बर्मी, गुजराती और मरहठी वगैरह सब हिंदुस्तानी जबानों से ज्यादा रिवाज *हिंदी यानी नागरी ज़बान* का है। करोड़ों हिंदू औरत-मर्द अब भी यही जबान पढ़ते हैं और यही जबान लिखते हैं।"

'हिंदी यानी नागरी जबान' से यह भी स्फुट हो रहा है कि हिंदी का प्रयोग अधिक व्यापक है, पर नागरी का उतना नहीं। एक पुराना दोहा है जिसका उल्लेख राजा शिवप्रसाद ने किया है। उसे ध्यान से सुनिए—

अंतरवेदी नागरी गौंडी पारस देस।
अरु अरबी जामैं मिलैं मिश्रित भाषा वेस॥

अमीर खुसरो से लेकर रहीम तक इस मिश्रित भाषा का सत्कार कैसा होता रहा और उसमें कैसी-कैसी रचना होती रही इसके कहने की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार की मिश्रित रचना पहले भी यहाँ संस्कृत, प्राकृत और लोकभाषा को लेकर होती रही।

स्वामी दयानंद सरस्वती लाहौर के लाला मूलराज जीवनदास को २४ मार्च सन् १८७८ को मुलतान से लिखते हैं—

'एक काम यह आवश्यक है कि इस मुंशी से यह काम ठीक-ठीक नहीं हो सकता। इसलिये एक मुंशी अंगरेजी, फारसी और नागरी भाषा का पढ़ा हुआ हो।'

एक नहीं अनेक अवसरों पर स्वामी जी ने 'नागरी' का व्यवहार भाषा और इसी भाषा के अर्थ में किया है। यहाँ तक कि मैडम श्री ब्लेवतस्की को भी यही लिखा है—

"जिसका हमसे उत्तर चाहें उसको *नागरी* करा के हमारे पास भेजा करें।"

'ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' के ये दो उद्धरण नागरी के उद्धार के लिए पर्याप्त हैं। फिर भी एक बंगाली कवि की बात भुलाई नहीं जा सकती। उसका साधुवाद है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरी भारती भव्य चिर उपकृता आज, देन शत शुभ साधुवाद ।

सप्तम हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर, सं० १९७४ वि० में यह वाणी जिसे सुनने को मिली थी और जिसे आज भी उसके कार्य-विवरण में देखने को मिल सकती है, वही इसको भली भाँति समझ सकता है कि कोई 'तरुण' कवि क्यों गाता है—

जयति नागरी, जयति नागरी ।
सुधा-कलशमय वर्ण-वर्ण वर, भाषा भाव भरी । जयति नागरी ।

हिंदुस्तानी

कह तो नहीं सकते पर न जाने किस आधार पर भविष्य पुराण में लिखा गया है कि विक्रमादित्य के पौत्र शालिवाहन ने 'सिंधुस्थान' की मर्यादा स्थापित की । पुराण का मत है—

सिन्धुस्थानमिति ज्ञेयं राष्ट्रमार्यस्य चोत्तमम् ।
म्लेच्छस्थानं परं सिन्धोः कृतं तेन महात्मना ॥

तो क्या यह समझ लेना ठीक न होगा कि यही 'सिन्धुस्थान' वस्तुतः 'हिन्दुस्थान' का मूल है और है भी यह इस रूप में इसलाम से पुराना ? न हो, पर यदि फारसी के साथ इसका प्रयोग बढ़ा, तो केवल मध्यदेश के लोग ही ठेठ जनता में 'हिंदुस्थानी' क्यों कहे जाते हैं ? फानी ने कभी कहा था—

फानी दकन में आके यह धकदा खुला कि हम ।
हिंदोस्ताँ में रहते हैं हिंदोस्ताँ से दूर ॥

इसमें पहला 'हिंदोस्ताँ' आज का सरकारी हिंदुस्तान है और दूसरा जनता का ठेठ हिंदुस्तान । किंतु 'हिंदुस्तानी' भाषा है किसी की नहीं । पहले 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग जहाँ कहीं भाषा के अर्थ में हुआ भी है वहाँ हिंदी अथवा व्रजभाषा के लिये ही । बादशाहनामा में तो स्पष्ट ही व्रजभाषा को ही 'हिंदुस्तानी' कहा गया है और कहा गया है किसी 'लाहौरी' के द्वारा ही, जो ठीक भी है । लाहौर के लोग व्रजवासी को 'हिंदुस्थानी' ही समझते हैं । 'सरहिंद' का 'हिंद' आज भी किसी तथ्य का द्योतन करता है । किंतु आज हमें ध्यान देना है 'फरिश्ता' के प्रयोग पर । फरिश्ता ने बीजापुर के अलीआदिलशाह के फारसीप्रेम को सराहते हुए जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ लिखा है उसका भाव यही है कि शाहनिवाज खाँ के उद्योग से उसने फारसी का ऐसा अभ्यास किया कि हिंदुस्तानी बोलना भूल-सा गया। आप स्वयं समझ सकते हैं कि यह हिंदुस्तानी 'हिंदी' के अतिरिक्त और क्या हो सकती है। सच पूछिए तो 'दक्खिनी' में फारसी की बाढ़ इसी के शासन में आई और इसी की कट्टरता इतनी बढ़ी कि यहाँ हिंदी की उपेक्षा होने लगी।

इस समय फारसी के लोगों को कैसी चाट लगी थी, इसका कुछ पता इसी समय के काजी महमूद 'बहरी' के इस कथन से भी हो जाता है—

हिंदी ! तू जबान चे है हमारी, कहने न लगे हमन भारी।
और फारसी इस ते अति रसीला हर हर्फ में इश्क है न हीला॥

फारसी की यह बाढ़ प्रतिदिन बढ़ती गई और अंत में हिंदी उर्दू होकर रही। जो लोग दक्खिनी को उर्दू से अलग नहीं समझते उन्हें मौलाना बाकर 'आगाह' के इस कथन का अर्थ बताना होगा, किस सरलता से साफ साफ कह जाते हैं—

"और इन सब रिसालों में शाइरी नैं किया हूँ बल्कि साफ और सादा कहा हूँ और उर्दू के भाके में नहीं कहा। क्या वास्ते कि रहनेवाले यहाँ के इस भाके से वाकिफ नहीं हैं। ऐ भाई ! यह रिसाले दक्खिनी जबान में हैं।"

श्री हामिद हुसैन कादिरी साहब ने 'दास्ताने तारीखे उर्दू' में इसको उद्धृत तो किया है पर इसकी पुकार को नहीं सुना है। हम अभी 'उर्दू के भाके' के बारे में कुछ नहीं भाखते, पर हिंदुस्तानी के प्रसंग में इतना तो बोल ही देते हैं कि फिरंगी को जो 'हिंदुस्तानी' दक्षिण में मिली वह उर्दू न थी। किंतु जो हिंदुस्तानी उसके शासन में बनी वह उर्दू के अतिरिक्त कुछ और न थी। प्रमाणों के पुंज से प्रयोजन क्या ? विज्ञों के लिये इतना पर्याप्त है कि अँगरेजी के सबसे अधिक प्रामाणिक कोश 'द न्यू इंगलिश डिक्शनरी आन हिस्टारिकल प्रिंसिपुल्स' में इसको उर्दू का पर्याय कहा गया है और इसे मुहम्मदी विजेताओं की भाषा कहा गया है। उसका मूल कथन है—

द लैंग्वेज ऑव द मोहम्मडन कौंकरर्स ऑव हिंदुस्तान बीइंग ए फॉर्म ऑव हिंदी विद अ लार्ज ऐडमिक्सचर ऑव अरेबिक पर्शियन ऐंड अदर फॉरेन एलिमेंट्स, आल्सो कॉल्ड उर्दू।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और हमारे देश के सबसे अधिक आदरणीय 'सार्थ गुजराती जोडणी कोश' में, जिसकी रचना में पूज्य 'बापू जी' की प्रेरणा और श्री काका कालेलकर जी का योग है, लिखा गया है—

उर्दू—स्त्री० (तुर्की) एक भाषा; हिंदुस्तानी।

हिंदुस्तानी—स्त्री० अरबी-फारसीनी विशेष छायावाली हिंदीनो प्रकार।

हिंदी—स्त्री० उत्तर हिंदुस्तान मां बोलाती भाषा (३) हिंदनी राष्ट्रभाषा।

लिंगभेद

चलते चलते एक चुटकला भी सुन लीजिए और हिंदी के लिंगभेद की गहराई में उतरिए। बात दिल्ली के लाल किला की है। एक मुशाइरे में 'हया' ने पढ़ा—

साँस इक फाँस सी खटकती है, दम निकलता नहीं मुसीबत है।

बाप कड़क कर बोल उठा—

"मियाँ 'हया'! लखनऊ जाकर अपनी शकल तो बदल आए थे, अब ज़बान भी बदल दी! साँस को मुवन्नस बाँध गए?"

बात बेतुकी कह दी गई, पर बेटा भी शाहज़ादा ही था। नम्रता से कहा—

"जी नहीं क़िबला! मैंने तो उस्ताद 'ज़ौक़' की तक़लीद की है। वह फ़रमाते हैं—

सीने में साँस होगी अड़ी दो घड़ी के बाद।"

सनद पक्की दी गई तो भी बाप ने गरमा कर कहा—

यह बताओ किले में साँस मुज़क्कर है या मुवन्नस?

आप मानें या न मानें पर इतना तो मानना ही होगा कि उर्दू में लिंग का झगड़ा उस समय 'किला' के द्वारा सरलता से निबटाया जा सकता था, पर आज इस विवाद का अंत कहाँ हो? हिंदी से यदि लोग घबड़ाते हैं तो इसी लिंगभेद के कारण। यदि हिंदी से यह लिंगभेद दूर हो जाता तो राष्ट्रभाषा का मार्ग इतना सरल और सीधा हो जाता कि कोई भी पथिक उसपर सरलता से चल सकता, परंतु यह सहसा होता नहीं दिखाई देता। स्यात् हो भी नहीं सकता। कारण प्रत्यक्ष है और वह, यही है कि इस देश के एक बड़े भूभाग के लोग घर में बोलते ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे हैं। उनकी प्रतिदिन की बानी में यह भेद गोचर होता है। अतएव उनसे तो कहा नहीं जा सकता कि आप ऐसा न बोलकर ऐसा बोलें और अपनी क्रिया में से लिंगभेद उठा दें। क्या उनसे ऐसा कहना उचित होगा? जब अपनी भाषा को आप पनपा और बढ़ा सकते हैं तब अपनी बानी में बोलने तथा उसको जीवित रखने का भी अधिकार उन्हें क्यों नहीं? क्या आपने इसकी भी कभी मीमांसा की है? यदि नहीं तो इसको दृष्टि में रखकर ही आप हिंदी को लिंगमुक्त करने की सोचें। वस्तुतः इस लिंगभेद का कारण क्या है। सो इतना तो प्रकट ही है कि यह लिंगभेद क्रिया में कृदंत के कारण ही है; पर यह कृदंत क्या है, इसको भी जान लेना चाहिए। अन्यों की तो नहीं कहते पर अपना यह दृढ़ मत है कि महाभाष्य में जो 'कृदन्तरुचयः उदीच्याः' कहा गया है उसका कुछ रहस्य है। कहते हैं कि कृदंत के प्रयोग के कारण संस्कृत सरल हो गई। आप देख भी सकते हैं कि बात पक्की है। परंतु आज आँख से जो ओझल है वह 'उदीच्य' की इस रुचि का कारण। हमने पहले यह कहा था कि बाहरी लोगों के संसर्ग से ही अपभ्रंश बनी; यहाँ फिर उसी को दोहराते हुए कहते हैं कि उन्हीं के हेतु उदीच्य में कृदंत का प्रयोग बढ़ा तथा उन्हीं के संयोग से नागरी की क्रिया में यह लिंगभेद आया। इसको मिटा देना सरल नहीं, यह तो इस भाषा की शक्ति को ही क्लीव कर देना है।

हिंदी की क्षमता

हिंदी में जो क्षमता है उसको सबके सामने ला खड़ी करना हमको इष्ट नहीं और न हम यही कहना चाहते हैं कि हमारे कोश में क्या है। हम मान लेते हैं कि विश्व के विकास में जैसे हमारा देश पीछे रह गया वैसे ही भाषा के विकास में हमारी भाषा भी पीछे रह गई। पर कौन है प्राणी विश्व में जो सामने आकर कह दे कि किसी विकास की हममें क्षमता नहीं? हम जानते हैं कि एक ओर जहाँ कुछ लोग हमें साम्राज्यवादी कहकर तोष प्राप्त करते हैं वहीं कुछ लोग हमें अकिंचन कहकर हमारी अवमानना भी कम नहीं करते। किंतु हम इससे तनिक भी विचलित नहीं होते, क्योंकि हम जानते हैं कि इसका रहस्य क्या है। हिंदी में क्या है, क्या नहीं है, इसे भला वह कैसे जान सकता है जिसने कभी फूटी आँख से भी हिंदी को नहीं देखा और यदि कभी भूल से देख भी लिया तो किसी और ही चक्षु से, किसी चक्षुक के साथ। हम अपने आलोचकों से केवल एक प्रश्न पूछना चाहते हैं;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वह यह कि कभी आपको अपनी पराधीनता का अनुभव हुआ है वा नहीं? यदि हाँ, तो आप भूल क्यों जाते हैं कि हमारी भाषा अपने घर में ही बंदिनी रही है। उसकी वंदना सदा घर के बाहर हुई है। 'नागरी' किंवा खड़ी हिंदी का घर बताया जाता है मेरठ के आस-पास। जहाँ कहीं भी हो, पर सच तो कहें किसी भी हिंदी के इतिहास में आपको कितने मेरठी मिले हैं? कह दें—एक भी नहीं। क्यों? हमारी समझ में यही तो कारण है जो हिंदी आज राष्ट्रभाषा है, राज्यभाषा है, अथवा जो चाहें कह लें। इस तथ्य की उपेक्षा आप नहीं कर सकते और उसने यह पद लिया है किसी से छीन कर नहीं, किसी से लड़कर भी नहीं। उसको तो यह पद मिला है सभी देश-भाषाओं के योग से। आप किसी भी हिंदी के 'वीरव्रती' को ले लीजिए, राजर्षि टंडन जी से पूछ देखिए, 'राहुल' जी से पूछ देखिए, भदंत जी से पूछ देखिए, जिससे चाहें पूछ देखिए। आपको यही उत्तर मिलेगा कि घर की बोली के नाते नहीं, राष्ट्र की भाषा के कारण ही हमने यह व्रत लिया है और इसीसे हमने इस देवी की आराधना की है।

निर्देश

हिंदी

अश्वघोष कृत बुद्धचरित—डा० हीरालाल जैन, "मानवता", दिसंबर ४९।

आम फिर बौरा गए—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी; "कलानिधि" वर्ष २ अंक २।

ऋग्वेद में नदीस्तुति सूक्त की ऐतिहासिक व्याख्या—डा० राजबली पांडेय, "ज्ञानोदय", जनवरी १९५०।

एशिया और भारत—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल; "नयासमाज", जनवरी १९५०।

कालिदास का काल-निर्णय—श्री चंद्रबली पांडेय; "विकास", भाग १ अंक ३-४।

चंद्रगुप्त प्रथम की अद्वितीय सुवर्ण मुद्रा—डा० बहादुरचंद छाबड़ा; "कलानिधि", वर्ष १ अंक २।

चीनी भारतीय संस्कृति में अहिंसा तत्त्व—श्री तान युन-शान; "विश्ववाणी", दिसंबर १९४९।

ध्वनि सिद्धांत—श्री गिरिजाकुमार माथुर; "प्रतीक", हेमंत १०, सं० २००६।

नई हिंदी कविता में छंद-प्रयोग—श्री प्रभाकर माचवे; वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदैकदेशे पदमात्र ग्रहणम्—श्री भीमसेन शास्त्री; "विकास", भाग १ अंक ३-४।

प्राचीन भारत में प्रसाधन—श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ; "आजकल", जनवरी १९५०।

भारतकला भवन का एक विशिष्ट चित्र-संग्रह—संग्रहाध्यक्ष (श्री राय कृष्णदास); "कलानिधि", वर्ष १ अंक २।

भारतीय कथाओं की विदेश यात्रा—श्री रामपूजन तिवारी; "आजकल", जनवरी १९५०।

महर्षि वाल्मीकि का आश्रम कहाँ था—श्रीनीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी, "माधुरी", दिसंबर १९४९।

यह हिंदुस्तानी है—श्री संपूर्णानंद; "माधुरी", पौष २००६।

राष्ट्रभाषा का गौरव—श्री महादेव सीताराम करमरकर ; "सरस्वती", जनवरी १९५०।

रूपक की रम्यता—श्री बलदेव उपाध्याय; "कलानिधि", वर्ष १ अंक २।

लल्लूलाल कृत माधव-विलास—श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय; "प्रतीक", हेमंत १० सं० २००६।

वैज्ञानिक पारिभाषिक—श्री ललितकिशोर सिंह; "जनवाणी", नवंबर १९४९।

ब्रज साहित्य—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ; "विश्ववाणी", दिसंबर १९४९।

समुद्र—(ले० डा० आनंदकुमार स्वामी) अनु० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल; "आजकल", दिसंबर १९४९।

हमारी राष्ट्रभाषा की समस्या—ले० अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक विद्यार्थी; "सरस्वती", जनवरी १९५०।

अंग्रेजी

ए स्टडी ऑव द वर्ड ब्रह्मन्—श्री बुद्धप्रकाश; बिहार रिसर्च सोसायटी की पत्रिका, भाग ३५ अंक १-२।

क्रॉनॉलॉजिकल ऑर्डर ऑव पंचमार्क्ड कॉयंस—श्री डी० डी० कोशांबी; रॉयल एसियाटिक सोसायटी, बंबई शाखा की पत्रिका, भाग २४-२५, १९४७-४९।

ट्रेवेज ऑव शॉर्ट ए ऐंड ओ इन ऋग्वेद—डा० ए० एम० घाटगे; भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट की पत्रिका, भाग २९ अंक १-४।

द निरुक्त, इट्स रिसेंशंस—श्री विष्णुपद भट्टाचार्य; इंडियन हिस्टॉरिकल कार्टर्ली पत्रिका, भाग २५ अंक ३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द मग डायनेस्टी ऑव वराहमिहिर—श्री दिलीपकुमार विश्वास, एम० ए०; वही।

द मूवमेंट्स ऑव द पांडवाज—श्री वी० बी० अथवाले, एम० ए०; भं० ओ० रि० इं० पत्रिका, भाग २९ अंक १–४।

द रेवेलेटरी कैरेक्टर ऑव हिंदू एपिस्टेमॉलॉजी-श्री डी० के० बेडेकर; वही।

द शुंग डायनेस्टी—श्री तारापद भट्टाचार्य; बिहार रिसर्च सोसायटी की पत्रिका, भाग ३५ अंक १–२।

दि अवतार सींक्रेटिज्म ऐंड पॉसिबुल सोर्सेज ऑव भगवद्गीता—श्री डी० डी० कोशांबी; रा० ए० सो० बंबई शाखा की पत्रिका, भाग २४-२५।

द इमेज ऑव नारायण—डा० एल० बी० केनी; भं० ओ० रि० इं० पत्रिका, भाग २९ अंक १–४।

प्रॉसोडियल प्रैक्टिस ऑव द संस्कृत पोएट्स—श्री एच० डी० वेलनकर; रा० ए० सो० बंबई शाखा की पत्रिका, भाग २४-२५।

मौर्यन ऐंड प्री मौर्यन क्रॉनॉलॉजी अकॉर्डिंग टु द पुरानाज—डा० पुरुषोत्तम लाल भार्गव; जर्नल ऑव इंडियन हिस्ट्री, भाग २७ अंक २।

रीजनल डिवीजंस ऑव एंशंट इंडिया—डा० एस० बी० चौधरी; भं० ओ० रि० इं० पत्रिका, भाग २९ अंक १-४।

लायब्रेरीज इन एंशंट इंडिया—श्री बर्नर्ड ऐंडर्सन; जर्नल ऑव इंडियन हिस्ट्री, भाग २७ अंक २।

लायब्रेरीज इन एंशंट ऐंड मेडीवल इंडिया—श्री एन० सुबरमनिया शास्त्री; श्री वेंकटेश्वर ओरियंटल इंस्टीट्यूट की पत्रिका, भाग १० अंक। १

मेथड ऑव हिस्टॉरिकल रिसर्च—श्री के० बी० सुब्रह्मण्य ऐयर, बी ए०; कर्नाटक हिस्टॉरिकल रिव्यू, भाग ७।

वराहमिहिर ऐंड उत्पल—श्री पी० बी० काने; रा० ए० सो० बंबई शाखा की पत्रिका, भाग २४-२५।

व्यू ऑव जैमिनि ऐंड शबर ऑन लैंग्वेज—डा० जी० वी० देवस्थली; भं० ओ० रि० इंस्टीट्यूट की पत्रिका, भाग २९ अंक १–४।

सम कांटिनेंटल नोटिसेज ऑन डिवीजंस ऑव इंडिया—डा० एस० बी० चौधरी; जर्नल ऑव इंडियन हिस्ट्री, भाग २७ अंक ३।

सम डार्क स्पॉट्स इन द हिस्ट्री ऑव द राष्ट्रकूटाज—श्री के० वी० सुब्रह्मण्य ऐयर; कर्नाटक हिस्टॉरिकल रिव्यू, भाग ७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षा

बुद्धचरित दो भाग—(ले० अश्वघोष) अनुवादक सूर्यनारायण चौधरी, एम० ए०, प्रकाशक—संस्कृत भवन, कटौतिया, पो० काभा, जिला पूर्णिया (बिहार); मूल्य प्रथम भाग १।।) द्वितीय १)

अश्वघोष कृत बुद्धचरित संस्कृत का एक महाकाव्य है, जिसमें बुद्ध का जीवन-वृत्तांत और उनके सिद्धांतों का संग्रह है। इस ग्रंथ की तीन पुरानी प्रतियों का ही पता अब तक लग पाया है। एक कैंब्रिज यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय में, दूसरी ई० बी० कावेल के पास और तीसरी सिल्वन लेवी के पास। इनमें भी मूल पोथी में अब केवल १३ सर्ग ही प्राप्य हैं, जिनमें कथा बुद्ध जन्म से लेकर बुद्धत्व प्राप्ति तक ही पहुँचती है। इसी के आगे के चार सर्ग किसी नैपाली पंडित अमृतानंद द्वारा रचकर जोड़े गए हैं, उस पुस्तक की पुष्पिका में लेखक ने स्वयं लिखा है—

सर्वत्रान्विष्य नो लब्ध्वा चतुः सर्ग च निर्मितम्।
चतुर्दशं पञ्चदशं षोडशं सप्तदशं तथा।।
शून्य वाणांक युग्वर्षे मार्गे मासेऽसिते स्मरे।
अमृतानन्देन लिखितं बुद्धकाव्यं सुदुर्लभम्।।

अर्थात् ९५० नेपाल संवत् में उक्त ग्रंथ पूरा किया गया। परंतु धर्मरक्ष (४१४ ई०) द्वारा इसी ग्रंथ का चीनी में अनुवाद किया गया था, जिसमें २८ सर्ग थे और बुद्ध के निर्वाण तक कथा का विस्तार था। यही नहीं, तिब्बती अनुवाद में भी, जो प्रायः सातवीं या आठवीं शती में हुआ है, अट्ठाईस सर्ग हैं। स्वर्गीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अपनी खोज का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा था कि 'निश्चय ही संस्कृत का बुद्ध-चरित अधूरा है।' अतः तिब्बती एवं चीनी अनुवाद के सहारे इसका उद्धार संभव है। सौंदरानंद के उद्धरणों से पता चलता है कि अश्वघोष अयोध्या का रहनेवाला और सुवर्णाक्षी का पुत्र था। इसका समय अभी तक विद्वानों के विवाद का विषय बना हुआ है, तथापि इतना निश्चय है कि यह कालिदास का पूर्ववर्ती अवश्य है। बुद्धचरित के कुछ श्लोकों की छाया रघुवंश एवं कुमारसंभव के छठे सर्गों में देखी जा सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत हिंदी अनुवाद दो भागों में पूरा हुआ है। पहले भाग में अनुवाद के साथ मूल भी है और दूसरे भाग में केवल अनुवाद। अनुवादक ने कहीं कहीं पारिभाषिक शब्दों को अधिक स्पष्ट करने के लिये फुटनोट भी दिए हैं जिनसे उनका मूल रूप समझने में थोड़ी सहायता मिलती है। दूसरे भाग का हिंदी अनुवाद लेखक के कथनानुसार ही डाक्टर जान्स्टन द्वारा तिब्बती से अंग्रेजी में किए गए अनुवाद पर से किया गया है, और पहले भाग के अनुवाद में भी लेखक को उससे 'बड़ी सहायता' मिली है। इस कारण उसकी प्रामाणिकता के विषय में विशेष कहना नहीं है। हाँ, अनुवाद की भाषा के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसमें वह सजीलापन नहीं है जो भारतीय कथावस्तु का अवलंब लेकर चलनेवाली भाषा में होना चाहिए। उदाहरण के लिये, 'बिरेजुः' (५।५४) का अनुवाद 'शोभ रही थीं' किया है। इस प्रकार के और उदाहरण दिए जा सकते हैं। कहीं कहीं असावधानी के कारण मूल पाठ में भी गड़बड़ी हो गई है जिसके कारण श्लोक की विकृति के साथ भाव भी गड़बड़ा गया है। जैसे 'चलत्कुण्डलचुम्बिताननाभिर्घनन-निश्वासविकम्पिताभिः' में 'घन' के आगे एक और 'न' जुड़ जाने से समझना कठिन है कि क्या अर्थ होना चाहिए। यत्र तत्र मुद्रण संबंधी त्रुटियाँ भी रह गई हैं। यदि ग्रंथ के अंत में एक परिशिष्ट के रूप में अमृतानंद के रचे हुए चारों सर्ग भी जोड़ दिए गए होते तो पाठकों को सब सामग्री एकत्र मिल जाती, और जो अधूरे श्लोक छोड़ दिए गए हैं वे भी पूरे हो जाते।

फिर भी सब मिलाकर अनुवादक का प्रयास अवश्य प्रशंसनीय है। इससे महाकवि अश्वघोष की श्लाघ्य रचना का जनता में प्रसार होगा। संभव है अगले संस्करण में यह और अधिक परिमार्जित रूप में पाठकों के सामने आए। एक दुर्लभ उच्च कोटि के काव्य को हिंदी पाठकों के हेतु सुलभ बनाने के लिये अनुवादक बधाई के पात्र हैं।

—उदयशंकर शास्त्री

रसायनिक तत्त्व विश्लेषण—ले० श्रीगोरखप्रसाद श्रीवास्तव; प्रकाशक हिंदी प्रकाशनमंडल, हिंदू विश्वविद्यालय काशी; पृ० सं० २८९, मूल्य ६)

प्रस्तुत पुस्तक श्रीमहादेवलाल श्राफ और श्री गोरखप्रसाद श्रीवास्तव की एक अंग्रेजी पुस्तक का हिंदी अनुवाद है। अंग्रेजी पुस्तक अपने विषय की प्रामाणिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उपयोगी पुस्तक है, अतः अनूदित पुस्तक के विषय-विस्तार और शैली की आलोचना अनावश्यक है।

डा० रघुवीर को रसायन-परिभाषाओं का इस पुस्तक में प्रयोग किया गया है। पारिभाषिक शब्दों के संबंध में मतभेद होना स्वाभाविक है, पर अन्य दृष्टियों से अनुवाद की भाषा और शैली संतोषजनक है। छपाई आदि भी अच्छी है। सूत्र और समीकरण साथ साथ अंग्रेजी में भी दे दिए गए हैं और यत्र-तत्र अंग्रेजी पारिभाषिक शब्द भी दे दिए गए हैं।

जहाँ तक मेरा विचार है, अभी दो-तीन पीढ़ियों तक विश्वविद्यालयों में रसायन के अनेक पारिभाषिक शब्द (विशेषतया तत्वों और यौगिकों के नाम) यूरोपीय ही प्रचलित हो सकेंगे, और इसके बाद इनमें से अधिकांश अपनी भाषा में हिल-मिल जायँगे। मुझे संदेह है कि 'ग्राम' के लिये 'धान्य', लीटर के लिये 'प्रस्थ' और इसी प्रकार के अन्य शब्दों का कभी प्रचार हो सकेगा कि नहीं।

डा० रघुवीर की पद्धति की अनेक विशेषताएँ हैं, और उनमें गुण भी हैं, पर इस समय उनकी कर्मठता के विरुद्ध एक ऐसी प्रतिक्रिया प्रारंभ हो गई है, जिसमें हम सब हिंदी प्रमियों की कठिनाइयाँ और अधिक बढ़ गई हैं। मैंने सायंस कांग्रेस, इंडियन एकेडमी, और विश्वविद्यालयों में इस प्रतिक्रिया का बराबर अनुभव किया है।

इस समय वैज्ञानिक साहित्य के लिये ऐसी नीति का अनुसरण करना चाहिए जिसमें देश के वैज्ञानिकों, विज्ञान विषय के अध्यापकों और साहित्य-निर्माताओं का सहयोग मिल सके। इस दृष्टि से मुझे संदेह है कि प्रस्तुत ग्रंथ हमारे मार्ग को प्रशस्त कर सकेगा। अन्यथा यह पुस्तक विषय और भाषा दोनों की दृष्टि से अच्छी और हमारी बधाई की पात्र है।

—सत्यप्रकाश

मायावर्ग—हिंदू विश्वविद्यालय ग्रंथमाला की सोलहवीं पुस्तक। ले० डा० व्रजमोहन; प्रकाशक 'बिड़ला हिंदी-प्रकाशन मंडल, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी। मू० २)

यह पुस्तक गणित को लोकप्रिय बनाने के विचार से लिखी गई है और लेखक द्वारा इस उद्देश्य से आयोजित पुस्तकमाला की प्रथम पुस्तक है। किसी समय यह देश गणित विद्या में अन्य देशों से कहीं आगे बढ़ा हुआ था। अंक-गणित के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धांत के विषय में भारत का ऋण संसार मानता है। किंतु खेद है कि आज यह देश इस विषय में अन्य देशों से बहुत पिछड़ा हुआ है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने मायावर्गों के निर्माण की रीतियाँ अत्यंत सरल और सुंदर रीति से समझाई हैं। आकृतियाँ पर्याप्त संख्या में दी गई हैं। अनेक स्थलों पर यंत्र और ताबीज के रूप में मायावर्गों के उपयोग की ओर संकेत किया गया है। यथा छठे वर्ण के एक वर्ग (आकृति ५५) के संबंध में लिखा है—"यह वर्ग सूर्यदेव को प्रिय है। पौराणिक गाथाओं के अनुसार जिसके पास यह वर्ग होता है उसके शत्रुओं का नाश होता है और उसे अपने मित्रों से लाभ होता है। परंतु उसके मामा-मामी को अनेक रोग सताने लगते हैं।" गणित की एक आधुनिक पुस्तक में इस प्रकार की अंध-विश्वास का पोषण करनेवाली बातों के संकलन का औचित्य संदिग्ध है। पर इस देश में अंधविश्वासों और धार्मिक रूढ़ियों का इतना अधिक प्रचलन है कि उक्त प्रकार की बातों से पाठक अधिक संख्या में आकर्षित होंगे। पुस्तक के अध्ययन के पश्चात् उन्हें विदित होगा कि इन मायावर्गों में कोई जादू जैसी चीज नहीं है क्योंकि ये सरलता से बनाए जा सकते हैं, यद्यपि एक स्थल पर (पृ० ४१) द्वितीय वर्ण के वर्ग बनाना असंभव बताते हुए लेखक ने लिखा है—"इस तथ्य का भी लोग एक विशेष अर्थ लगाते हैं। हिंदू पुराणों के अनुसार विश्व पाँच तत्त्वों से बना है—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश। हम चार संख्याओं से कोई मायावर्ग नहीं बना सकते। इसका पौराणिक अर्थ यह है कि विश्व की रचना चार तत्त्वों से नहीं हो सकती, पाँचों तत्त्व आवश्यक हैं।" समीक्षक की राय में इस प्रकार के निष्कर्ष का उत्तरदायित्व पुराणों के सिर नहीं लादा जा सकता; क्योंकि यदि यह कसौटी ठीक होती तो विश्व की रचना नौ तत्त्वों से हुई होती।

मुद्रण की अशुद्धियों का इस पुस्तक में प्रायः अभाव है। हाँ, पृष्ठ ४७ पर पूरक संख्याओं के दिए हुए उदाहरण अशुद्ध हैं। पुस्तक के अंत में हिंदी-अंग्रेजी और अंग्रेजी-हिंदी शब्द-कोष दे देने से इसकी उपादेयता बढ़ गई है। आशा है यह मायावर्गों का अध्ययन लोकप्रिय बनाने में सफल होगी।

—चंडीप्रसाद

पाश्चात्य तर्कशास्त्र भाग १, २—लेखक श्री भिक्षु जगदीश काश्यप एम० ए०; प्रकाशक बिड़ला प्रकाशन मंदिर, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी; मूल्य क्रमशः ६), ५॥)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी माध्यम से उच्च शिक्षा देने के लिये सभी विषयों की पुस्तकों का हिंदी में होना परमावश्यक है। इस दृष्टि से पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की दिशा में श्री कश्यप का यह प्रयत्न स्तुत्य है।

प्रथम भाग में निगमन विधि तथा द्वितीय भाग में व्याप्ति विधि दी गई है। 'विषय, क्रम, उदाहरण, उपमा, शैली आदि सभी प्रकार से अपने अंग्रेजी संस्करणों का प्रतिरूप' होते हुए भी इन पुस्तकों की मौलिकता में कोई कमी नहीं आने पाई है। उदाहरण तथा उपमाएँ शास्त्रीय होने के साथ साथ भारतीय जीवन से ली गई हैं, अतः सहज ही बोधगम्य हैं। भाषा की सरलता एवं साहित्यिकता के कारण विषय सुंदर एवं सुरुचिपूर्ण हो गया है। संकेतों, उदाहरणों, उपमाओं तथा रेखा-चित्रों द्वारा विषय को भली भाँति समझाकर स्पष्ट और सुव्यवस्थित बना दिया गया है।

भारतीय तर्कशास्त्र की व्याप्ति एवं निगमन विधियों से पाश्चात्य तर्कशास्त्र की तुलना करते हुए दोनों--पाश्चात्य एवं प्राच्य-प्रणालियों को विशद करने का प्रयत्न किया गया है। तर्कशास्त्र के विभिन्न विद्वानों के मत उनकी समीक्षा के साथ दिए गए हैं। परिशिष्ट में प्रश्नों की हिंदी-रूपांतरित सूची अंग्रेजी के साथ दी गई है जो विद्यार्थियों के लिये बहुत उपयोगी है। पादटिप्पणियों में अंग्रेजी के मूल दे देने से नए पारिभाषिक शब्दों का समझना सुगम है।

विद्वानों के मतों को जितना आवश्यक समझा गया है उतना ही दिया गया है, वह भी अंशतः ही। समीक्षा भी विस्तृत नहीं दी गई है, संभवतः पुस्तक का आकार बढ़ जाने के भय से। पर इससे पुस्तक की उपयोगिता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ, विद्यार्थियों के हितार्थ, अनुच्छेदों का पार्श्ववर्ती सारांश तो दिया ही जा सकता था। आशा है अगले संस्करण में इसपर ध्यान दिया जायगा।

--केदारनाथ चौबे

हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—लेखक श्री अवधनारायण वर द्विवेदी ; प्रकाशक राष्ट्रभाषा-पुस्तकमाला, काशी तथा बंबई ; मूल्य १॥)

पुस्तक के नाम से स्पष्ट है कि इसमें हिंदी साहित्य का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया गया है। प्रारंभ में भाषा की उत्पत्ति और इतिहास के काल-विभाजन के सिद्धांतों का निर्देश किया गया है। प्रत्येक काल की विशेषताओं का सामान्य परिचय तथा उस काल के प्रसिद्ध कवियों के संबंध में मोटी-मोटी बातें भी बतला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी गई हैं। आधुनिक युग के गद्य के आविर्भाव की चर्चा करने के अनंतर उसे तीन भागों में विभक्त किया गया है—विकास युग, प्रसार युग और उन्नति युग। आधुनिक युग का इतिहास लिखते समय जिस सजगता की अपेक्षा की जाती है उसका यहाँ अभाव है। कुछ उच्चकोटि की प्रतिभावाले लेखकों का नामोल्लेख भी नहीं हुआ है। जैसे—अज्ञेय, यशपाल, महराजकुमार डा० रघुवीरसिंह आदि। छायावाद-रहस्यवाद को समझाने के लिये जितना स्थान घेरा गया है उतने में उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों को संक्षेप में दिखाया जा सकता था। प्रगतिवाद को कोसने की जगह यदि तात्त्विक रूप से उसके गुण-दोषों पर विचार करने की प्रवृत्ति रही होती तो निश्चय ही विद्यार्थियों का अधिक लाभ होता। फिर भी इसे पढ़ डालने पर सामान्य विद्यार्थियों की ज्ञान-वृद्धि होगी।

हिंदी कविता का अध्ययन—ले० प्रो० शिवनंदन प्रसाद एम० ए०, साहित्यरत्न; प्रकाशक रामसहायलाल बुकसेलर, गया; मू० १।।।)

प्रस्तुत पुस्तक की रचना आई० ए० और बी० ए० के विद्यार्थियों के लाभ को दृष्टि में रखकर की गई है। प्रारंभ में कविता के तत्त्वों का विवेचन तथा हिंदी कविता की विभिन्न प्रवृत्तियों का ऐतिहासिक विकास दिखाया गया है। भाव, रस, कल्पना, अलंकार, छंद आदि के परिचयात्मक ज्ञान का अच्छा चयन हुआ है। कविता की प्रवृत्तियों के अध्ययन से विद्यार्थियों का अवश्य लाभ होगा। किंतु बी० ए० के विद्यार्थियों के लिये स्तर की ऊँचाई और विस्तृत सामग्री का चयन अपेक्षित है।

कवियों का आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत करते समय थोड़े में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त कराना लेखक का लक्ष्य प्रतीत होता है। किंतु इस परिगणन प्रणाली से विद्यार्थियों के पल्ले अधिक नहीं पड़ता। विद्यापति के संस्कृत के ग्रंथों की पूरी तालिका, उनकी बहुत सी उपाधियों के उल्लेख आदि की भूल-भुलइया में आलोचनात्मक अंश खो जाता है। अधिकांश कवियों की आलोचना में यही पद्धति अपनाई गई है। जहाँ-तहाँ कवियों की काव्यात्मक विशेषताओं का उल्लेख भी इसी सूची-प्रणाली पर किया गया है। इससे विद्यार्थियों को किसी भी बात का ढंग से बोध नहीं हो पाता। यदि थोड़े में अधिक कहने की प्रवृत्ति को दबाकर कवि की जीवनी और काव्यात्मक विशेषताओं पर दृष्टि रखकर आलोचना की गई होती तो लेखक अपनी लक्ष्यपूर्ति में अधिक सफल होता। मुद्रण संबंधी त्रुटियों का उल्लेख तो अनावश्यक है।

—बच्चनसिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवजीवन प्रकाशन मंदिर (अहमदाबाद) की दो पुस्तकें :

(१) गांधी-साहित्य-सूची—संयोजक श्री पांडुरंग गणेश देशपांडे ; पृष्ठ संख्या १६ + २४० ; प्रथम संस्करण, सजिल्द ; मूल्य १।)

गांधी जी ने देश एवं जनता-जनार्दन की सेवा के निमित्त जो कुछ कहा और लिखा है तथा जिस सर्वोदय की व्यावहारिक शिक्षा दी है उसे जानने और समझने की अपेक्षा रखनेवालों के लिये गांधी-साहित्य-सूची बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। इसमें गांधीजी के प्रकाशित साहित्य तथा उनके जीवन, कार्य एवं तत्त्वज्ञान संबंधी पुस्तकों की सूची तो है ही, ऐसी पुस्तकों की भी सूची है जिनसे उनके व्यक्तित्व, जीवन, कार्य एवं तत्त्वज्ञान को समझने में विशेष सहायता मिलती है।

प्रस्तुत सूची में, गांधी साहित्य के अंतर्गत आनेवाली हिंदी, गुजराती, मराठी, बँगला, उर्दू, कन्नड, संस्कृत, सिंधी एवं अंग्रेजी में गतवर्ष तक प्रकाशित प्रायः सभी पुस्तकों के नाम आ गए हैं। पुस्तकों का विषयानुसार वर्गीकरण कर दिया गया है।

यद्यपि गांधी-साहित्य की वृद्धि बड़ी तीव्र गति से हो रही है और ऐसी सूची अधूरी कही जा सकती है, तथापि इस सूची की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सूची में लेखक, प्रकाशक का नाम और पता, समय, पृष्ठ संख्या, मूल्य आदि दे दिया गया है। संयोजक प्रत्येक पुस्तक का सामान्य विवरण भी देना चाहते थे। यह हो सकता तो पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ जाती। फिर भी आशा है इस सूची से गांधीजी के आदर्शों के प्रसार में सहायता मिलेगी। प्रत्येक पुस्तकालय में इसका रहना आवश्यक है। सर्वोदय-प्रेमी तो कोई भी व्यक्ति इसे अपनाए बिना नहीं रह सकता।

(२) महादेव भाई की डायरी, पहला भाग—(१०-३-३२ से ४-९-३२ तक ; गांधीजी के साथ यरवदा जेल में) संपादक श्री नरहरि परीख ; अनुवादक श्री रामनारायण चौधरी; पृ० सं० ८ + ४०४, सजिल्द, प्रथम संस्करण ; मूल्य ५)

महादेव देसाई १९१७ से १९४२ तक महात्मा गांधी के साथ थे। उन्होंने इन पचीस वर्षों की दैनंदिनी रखी है। प्रस्तुत डायरी १९३२ की है। यह जेल में लिखी गई है, और अवकाश से ; अतः इसमें अनेक ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें हैं जो अभी तक प्रकाश में नहीं आई थीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस डायरी में मुख्य पात्र तीन हैं—गांधीजी, सरदार पटेल और महादेव भाई। तीनों का जीवन एक दूसरे के साथ गुँथा है। तीनों की वार्ता, चर्या, कार्य, स्वभाव और चरित्र का हमें इसमें दर्शन होता है। गंभीर और हल्के सभी प्रकार के प्रसंग दिए गये हैं। विनोद-वार्ता का भी अभाव नहीं है। लौह पुरुष सरदार पटेल की सरलता और विनोदप्रियता का एक प्रसंग उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा—

"एक प्रसिद्ध महिला ने विधवा होकर एक प्रसिद्ध सज्जन से शादी की थी। उस सज्जन के मरने पर क्या वह फिर विवाह करेगी? यह मैंने सहज ही पूछा। वल्लभ भाई कहने लगे--'अब इस घोड़े को कौन घर में बाँधेगा? उसे तो सभी जानते हैं। और उसकी उमर भी तो हो गई। अब वह शादी करने की इच्छा भी नहीं करेगी।' बापू—'मुझे याद है कि एक ६४ साल की स्त्री ने ब्याह किया था। उसने शादी के बाद मुझे लिखा था कि 'मैं मिसेज ओ० नहीं हूँ, परंतु मिसेज पी० हूँ। आप हमारे यहाँ आएँगे तब मेरे पति से पहिचान होगी।' इस स्त्री ने सिर्फ एक साथी बनाने के लिये शादी की थी।

"मैंने कहा--गेटे ने ७३ वर्ष की उम्र में एक १८ साल की लड़की से ब्याह करने की इच्छा प्रकट की थी। उसके माँ बाप को चोट पहुँची और उन्होंने इनकार कर दिया।

"वल्लभ भाई--गेटे था इसलिये चोट ही पहुँची। मैं होऊँ तो उसे गरम लोहे के दाग लगाऊँ और उससे कहूँ कि तुम्हारी अकल मारी गई है और वह दाग लगाने से ही ठिकाने आएगी।" (पृ० २४१)

डायरी में कितने ही प्रसंग मार्मिक हैं। कहीं गीता और रामायण की चर्चा है, कहीं सत्य और अहिंसा की। महादेव भाई का स्वाध्याय यत्र तत्र सर्वत्र बिखरा है। गांधीजी द्वारा लिखाए पत्रोत्तरों की भरमार है। प्रत्येक पृष्ठ में उपदेश एवं प्रेरणात्मक बातें हैं।

महादेव भाई की डायरी सभी के लिये उपयोगी है। इससे ज्ञानवर्द्धन तो होता ही है, सर्वोदय की ओर उन्मुख होने के लिये प्रेरणा भी मिलती है।

अनुवाद अच्छा है। कहीं कहीं गुजरातीपन खटकता है। जैसे बापू दूर खड़े थे। वे 'धूज' रहे थे। (पृष्ठ ३३४)। आशा है अगले संस्करण में ऐसी बातों का सुधार कर दिया जायगा।

—श्री कृष्णदत्त भट्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी ज़बान—अंजुमन तरक्की उर्दू (हिंद) का उर्दू पाक्षिक पत्र ; संपादक काज़ी अब्दुल गफ्फार ; वर्ष ८, अंक १।

देश के विभाजन के बाद अब 'अंजुमन तरक्की उर्दू' का कार्य डा० जाकिर-हुसेन की अध्यक्षता में फिर आरंभ हुआ है। हिंदी के राजभाषा स्वीकृत होने पर अब इसे ४००००) मासिक के रूप में केंद्रीय सरकार की कृपा प्राप्त हुई है। इसी संस्था का यह पाक्षिक पत्र अपने पुराने उद्देश्य के साथ फिर प्रकट हुआ है--

"हमारी ज़बान का मक़सद वही है जो पहले था, यानी मुल्क की मुश्तर्का ज़बान के मुताल्लिक़ अंजुमन के मक़ासिद का परचार और इस तहरीक के लिये ज्यादा से ज्यादा मैदान पैदा करना।" इसकी भाषा-नीति तो यह है कि 'उर्दू, हिंदुस्तानी और हिंदी के दरम्यान तंगनज़री, रक़ाबत और तास्सुब न पैदा होने दे'; परंतु स्वप्न वही है--उर्दू को भारत की 'क़ौमी ज़बान' बनाना। अतः हिंदी के राज-भाषा होने पर उसकी निराशा स्वाभाविक है—

"हिंदी ज़बान को मुल्क की सरकारी ज़बान बनाने का फ़ैसला जिस क़दर मायूसकुन है उसी क़दर वह कोशिशें भी जो हिंदी को संस्कृत के साँचे में ढालने की आजकल की जा रही हैं।" पर इसे संतोष है कि हिंदी केवल राजभाषा ही हुई है, राष्ट्रभाषा का मैदान उर्दू के लिये अब भी साफ है—

"यह बात ख़ूब याद रखनी चाहिए कि हिंदी सिर्फ़ सरकारी ज़बान मानी गई है। इसलिये क़ौमी ज़बान के इंतख़ाब का मैदान अभी तक खुला हुआ है।" इसके साथ हिंदुस्तानी-सेवकों की मनोवृत्ति को मिलाकर देखिए—

"...इसके संबंध में संमेलन इस स्पष्ट हकीकत की तरफ भी सबका ध्यान आकर्षित करना चाहता है कि जिस भाषा का राष्ट्रभाषा के तौर पर विकास करना है वह भाषा आज नागरी के अलावा फारसी या उर्दू लिपि में भी लिखी और पढ़ी जाती है।"...इस बात की ओर संमेलन सबका ध्यान खींचता है। "नहीं तो पूरा डर है कि राष्ट्रभाषा को सर्वग्राही और विशाल बनाने की जो मुराद रखी गई है वह सफल नहीं हो सकेगी।" (गुजरात हिंदुस्तानी प्रचारक संमेलन, ४-१२-४९, प्रस्ताव १)

इसमें भी 'हमारी ज़बान' बोल रही है। पर चित्रगुप्त की राय है कि यदि 'हमारी ज़बान' का लक्ष्य राष्ट्रभाषा-प्रचार हो तो वह अविलंब नागरी लिपि अपनाए, अन्यथा अपना नाम 'उर्दू' रख ले।

—चित्रगुप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षार्थ प्राप्त

अच्छी हिंदी का नमूना—लेखक श्री किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री; प्रकाशक जनवाणी प्रस, ऐंड पब्लिकेशंस लि०, कलकत्ता। मूल्य २)

अछूत नहीं नहीं—लेखक श्री रतन बी० ए०, प्रकाशक अमर भारत इंडस्ट्रीज लि०, नई दिल्ली। मूल्य ॥≈)

ईशोपनिषद्—अनुवादक श्री मुंशीलाल गुप्त; प्रकाशक श्री खज्ञानसिंह शर्मा मेरठ। मूल्य ।)

एक धर्मयुद्ध—लेखक श्री म० ह० देसाई; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य ॥।)

कर्म का रहस्य—लेखक श्री पी० एस० निवासराव; अनु० डाक्टर नंदकिशोर; प्रकाशक संसार लि०, काशी। मूल्य ॥।)

खून का प्यासा—लेखक श्री सत्यसांची और अरुणकुमार; अनु० श्री रमेशनंदनशरण; प्रकाशक देव साहित्य कुटीर, कलकत्ता। मूल्य १॥)

गीतगोविंद पद—लेखक श्री माधुरी जी; प्रकाशक बाबा कृष्णदास, पो० राधाकुंड, जिला मथुरा। मूल्य ।)

गीतगोविंद पद—ले० श्री रामराय; प्र० बाबा कृष्णदास, मथुरा। मूल्य॥≈)

गीतगोविंद पद—ले० श्री वैष्णवदास; प्र० बाबा कृष्णदास, मथुरा। मूल्य ।)

गुप्त शक्तियाँ—लेखक तथा प्रकाशक श्री ज्ञानीदास, तारा कार्यालय, फीजी। मूल्य १॥)

गोसेवा—लेखक श्री मोहनदास करमचंद गांधी, प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य १॥)

ग्रामसेवा के दस कार्यक्रम—लेखक श्री जुगतराम दवे; प्रकाशन नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य ॥≈)

जड़मूल से क्रांति—लेखक श्री किशोरलाल मशरूवाला; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य १॥)

जीवन का सद्व्यय—अनु० हरिभाऊ उपाध्याय; प्रकाशक श्री नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य १)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन शोधन—लेखक श्री किशोरलाल मशरूवाला; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य ३)

जो संतों ने कहा था—संकलयिता श्री जमुनालाल जैन; प्रकाशक श्री भारत जैन महामंडल, वर्धा। मूल्य ।)

ज्वालामुखी—लेखक श्री भागीरथ भास्कर; प्रकाशक महाबीर रिलीफ सोसाइटी, इटावा। मूल्य १॥)

नागरिक न्यायविधि संग्रह—लेखक श्री राजकिशोर सरकार, मुंसिफ, फैजाबाद। मूल्य ८)

पन्ना धाय—लेखक श्री मुंशीलाल पटैरिया कश्यप; प्रकाशक मुंशी डोरीलाल भटनागर, झाँसी प्रेस, झाँसी। मूल्य ।)॥

प्यारे राजा बेटा—लेखक श्री ऋषभदास रांका; प्रकाशक श्री भारत जैन महामंडल, वर्धा। मूल्य १)

प्रपात—लेखक श्री भयंकर, प्रकाशक भयंकर काव्यकुटीर, मिर्जापुर। मूल्य १।)

भक्तिरसतरंगिणी—लेखक श्री नारायण भट्टाचार्य; प्रकाशक श्री कृष्णदास, मथुरा। मूल्य १)

भारतीय उपनिवेश फीजी—लेखक तथा प्रकाशक श्री ज्ञानी दास; तारा कार्यालय, फीजी। मूल्य १॥)

मानवधर्म मीमांसा—लेखक श्री किशोरीदास वाजपेयी; प्रकाशक जनवाणी प्रेस ऍंड पब्लिकेशंस लि०, कलकत्ता। मूल्य २।)

रागिनी—लेखक श्री व्रजेंद्रकुमार मधुकर; प्रकाशक हिंदी प्रचारिणी सभा, घारा नगरी, मारीशस। मूल्य ॥।)

रामनाम—लेखक श्री मोहनदास करमचंद गांधी, प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य ॥≈)

राष्ट्रभाषा का सवाल—लेखक श्री जवाहरलाल नेहरू; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य ।≈)

रोटी का स्वर्ग—लेखक श्री लक्ष्मीनारायण टंडन "प्रेमी", एम० ए०; प्रकाशक विद्यामंदिर, लखनऊ। मूल्य १)

वाणी—लेखक श्री वल्लभरसिक, प्रकाशक बाबा कृष्णदास, मथुरा, मूल्य ।≈)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीरांगना—लेखक श्री रामगोपाल शर्मा बी० ए० साहित्यरत्न; प्रकाशक अनूठा प्रकाशन, आगरा। मूल्य ॥)

वैशाली अभिनंदन ग्रंथ—संपादक श्री जे० सी० माथुर, आई० सी० एस० तथा श्री योगेंद्र मिश्र, एम० ए०; प्रकाशक वैशाली संघ, वैशाली, मुजफ्फरपुर (विहार)। मूल्य १२)

संघर्ष और शांति—लेखक श्री स्वामी करपात्री जी; प्रकाशक धर्मसंघ शिक्षा-मंडल, काशी। मूल्य ३॥)

हमारी बा—लेखिका श्री वनमाला परीख तथा श्री सुशीला नय्यर; अनु० श्री काशीनाथ त्रिवेदी; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य २)

हरिलीला—लेखक श्री ब्रह्मगोपाल, प्रकाशक बाबा कृष्णदास, मथुरा। मूल्य =)

हिंदी दस्तावेज—लेखक श्री रामसुंदर कपूर, एम-एस० सी०, एल० एल० बी०, प्रकाशक पंडित पुस्तकालय, काशी। मूल्य ३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविध

अखिल भारतीय हिंदी परिषद्

२३ और २४ नवंबर को दिल्ली में डा० राजेंद्रप्रसाद की अध्यक्षता में अखिल भारतीय हिंदी परिषद् नाम की एक नवीन संस्था का प्रथम अधिवेशन संपन्न हुआ। अध्यक्ष ने अपने भाषण में ये विचार प्रकट किए--

राष्ट्रभाषा हिंदी ऐसी होनी चाहिए जो भारत की संयुक्त संस्कृति की पूरक बन सकती है। इसके लिये भारत की प्रचलित भाषाओं से प्रचलित शब्दों का तथा अन्य रूढ़ विदेशी शब्दों का इसमें अंतर्भाव होना चाहिए। इस तरह इसके शब्द-भंडार को बढ़ाना चाहिए। इसके लिये हम दक्षिण की भाषा से जितनी सहायता ले सकते हैं उतनी हमें लेनी चाहिए, क्योंकि दक्षिणियों का सवाल हमसे अधिक कठिन है। हिंदी ही उत्तर और दक्षिण के बीच में मजबूत पुल बाँधकर दोनों का संबंध दृढ़ बना सकेगी। इस तरह की भाषा तभी बनती है जब किसी भाषा के शब्द का बहिष्कार न हो। सभी इसे आसानी से सीख सकें, इसके लिये इसके व्याकरण में भी आवश्यक संशोधन हो। साथ ही हिंदीभाषी अन्य प्रांतों की भाषाएँ सीख लें जिससे उनकी भाषा में प्रचलित और रूढ़ शब्द प्रयुक्त होते रहें और हरएक शब्द का सर्वत्र एक ही अर्थ हो। राष्ट्रभाषा में ऐसे प्रामाणिक शब्दों का निर्माण जल्द ही हो जाना चाहिए जो कानून और विज्ञान जैसे कामों में अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों का स्थान ले सकें। ("हिंदुस्तानी प्रचार", दिसंबर '४९)

इस परिषद् के आयोजन का उद्देश्य था 'विधान परिषद् के प्रस्ताव के अनुसार उसीको प्रमाण मानकर अखिल भारतीय दृष्टि से राष्ट्रभाषा के कार्य को संगठित करने तथा उसके प्रसार और विकास का कार्य करने के लिये सरकारी नीति के अनुकूल योजना बनाना।' इस संस्था को 'केंद्रीय सरकार द्वारा स्वीकृत विश्वविद्यालय जैसा पद' दिलाने का प्रस्ताव किया गया और इस संबंध में कार्य का अधिकार एक समिति को सौंपा गया जिसमें निम्नलिखित सदस्य हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वश्री डा० राजेंद्रप्रसाद, ग० व० मालवणकर (अध्यक्ष, संसद्), के० संथानम् (संचार मंत्री), रंगनाथ दिवाकर (मंत्री, व्योमवाणी विभाग), बालगंगाधर खेर (मुख्यमंत्री, मुंबई प्रदेश), गोविंदवल्लभ पंत (मुख्यमंत्री, उ० प्र०), घनश्यामसिंह गुप्त (अध्यक्ष, म० प्र० व्यवस्थापिका), स० का० पाटिल (मेयर, मुंबई), शंकरराव देव, मो० सत्यनारायण (परिषद् के संयोजक)।

परिषद् का उद्देश्य श्लाघ्य है और उसके अध्यक्ष का प्रत्येक वाक्य मननीय है। परंतु इसके संयोजन और उन्नयन के पीछे हिंदुस्तानी के सभी बड़े बड़े पुराने समर्थकों का हाथ होने से इसके संबंध में हिंदीसेवियों की आशंका भी स्वाभाविक है, विशेषतः जब कि ये समर्थक राष्ट्रभाषा के लिये अब भी 'हिंदुस्तानी' नाम तथा नागरी के साथ फारसी लिपि की आवश्यकता पर जोर देते और इनकी अस्वीकृति पर दुःख प्रकट करते जा रहे हैं। तथापि हमें आशा करनी चाहिए कि डा० राजेंद्रप्रसाद के उत्तम नेतृत्व में यह संस्था देश के हिंदीसेवियों का सहयोग प्राप्त कर अपने नाम के अनुरूप देशहितकारी कार्य करेगी।

अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन

२४ से २७ दिसंबर तक हिंदी साहित्य सम्मेलन का सतीसवाँ अधिवेशन हैदराबाद में हुआ जिसके सभापति पं० चंद्रबली पांडे के भाषण का मुख्यांश 'चयन' में उदधृत है। इसमें सोलह भिन्न भिन्न प्रस्ताव स्वीकृत हुए जिनमें से द्वितीय प्रस्ताव में संविधान परिषद् द्वारा देवनागरी लिपि में लिखी 'हिंदी' के 'देश की राष्ट्रभाषा' स्वीकृत होने पर संतोष, किंतु अंग्रेजी को 'पंद्रह वर्ष तक प्रभुत्व देने और केंद्रीय कामों के लिये नागरी लिपि में अंग्रेजी अंकों के मिश्रण' पर खेद प्रगट किया गया। सबसे मुख्य पंद्रहवाँ प्रस्ताव है जिसमें हिंदी विश्वविद्यालय को मान्यता और अधिकार दिए जाने की योजना करने के लिये एक विशेष समिति के निर्माण की व्यवस्था की गई।

निजाम के स्वच्छंद शासन में वहाँ की प्रजा के लाख प्रयत्न करने पर भी वहाँ सम्मेलन का अधिवेशन करने की अनुमति नहीं मिल सकी थी। अतः इस अधिवेशन में वहाँ के निवासियों में उनकी चिर अभिलाषा की पूर्ति के कारण विशेष उत्साह होना स्वाभाविक था। सुदूर दक्षिण में सम्मेलन का यह अधिवेशन, सम्मेलन के उद्देश्यों तथा हिंदी के 'भारतीत्व' के सवथा अनुरूप रहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रभाषा प्रमाणीकरण परिषद्

राष्ट्रभाषा हिंदी की उन्नति के लिये मध्यप्रदेशीय सरकार की ओर से सरकारी स्तर पर प्रयत्न किए जा रहे हैं। ४ से ६ जनवरी तक नागपुर में राष्ट्रभाषा के प्रमाणीकरण पर विचारार्थ तथा अविलंब निम्नलिखित कार्य करने के लिये एक परिषद् की आयोजना की गई—

(१) हिंदी का सुविस्तृत और प्रामाणिक कोष तैयार करना

(२) हिंदी व्याकरण को प्रामाणिक रूप देना

(३) हिंदी भाषा की वर्तनी को प्रामाणिक रूप देना

(४) देवनागरी लिपि को प्रामाणिक रूप देना।

इन कार्यों के लिये अलग अलग समितियाँ बना दी गईं और संभवतः अ-सरकारी सहयोग भी प्राप्त करने का उद्योग किया गया है। हम इस परिषद् की सफलता की हृदय से कामना करते हैं।

क्या ही अच्छा होता यदि इसी प्रकार अखिल भारतीय स्तर पर यह कार्य केंद्रीय सरकार द्वारा किया जाता जिसमें सभी प्रांतीय सरकारों, प्रमुख संस्थाओं तथा प्रतिनिधि हिंदी विद्वानों का सहयोग होता।

अनुकूल प्रगति

पत्रिका के प्रस्तुत वर्षार्ध (श्रावण-पौष) में देश का सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करनेवाला विषय था स्वतंत्र भारत का संविधान, और उसमें भी सबसे अधिक हिंदी की राजभाषा रूप में स्वीकृति, जिस महान् ऐतिहासिक घटना का उल्लेख गत अंक में हो चुका है।*

इस स्वीकृति का देश ने जिस आनंदोल्लास से स्वागत किया तथा नेताओं, पत्र-पत्रिकाओं, संस्थाओं एवं जनसाधारण के भाषणों, लेखों, उत्सवों आदि में

---

* भाग ५४ अंक १ में संविधान के हिंदी संबंधी अंश का एक चलता अनुवाद प्रस्तुत किया गया था। उस समय सरकारी संविधान की हिंदी शब्दावली निश्चित नहीं हुई थी। अब केंद्रीय सरकार से संविधान का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद प्रकाशित हो गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस संयत और गंभीर धृत्ति का परिचय पाया गया वह निस्संदेह शुभ और उत्साहवर्धक है।

इस समय देश की सांस्कृतिक एकता को सुदृढ़ और स्थायी करने के लिये हिंदी को शीघ्रातिशीघ्र यथार्थ भारतभारती बनाने के पथ पर बढ़नेवाला प्रत्येक चरण हमारे विश्वास और आशा को बल देनेवाला है। संविधान के प्रादेशिक भाषाविषयक अनुच्छेद ३४५ और ३४६ (पत्रिका, गत अंक, पृ० ८०, अनु० ३०१ ग तथा घ) के संबंध में पिछले अंक (पृ० ८४) में हमने जो टीका की थी उसमें हमारी यह आशा निहित थी कि प्रादेशिक सरकारें नागरी हिंदी को राजभाषा स्वीकृत करने का शीघ्र संकल्प करेंगी, जिससे पाँच वर्षों के बाद ही ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाय कि हिंदी की अखिल भारतीय स्वीकृति को कार्यान्वित करने के लिये पंद्रह वर्षों की लंबी अवधि अनुचित तथा अनावश्यक ही सिद्ध हो। उत्तर प्रदेशीय शासन ने हिंदी को राजभाषा पहले ही स्वीकृत कर लिया था। यह संतोष का विषय है कि अब प्रांत की व्यवस्थापिका सभा में मूल विधेयक भी हिंदी में ही उपस्थित करने का निश्चय किया गया है। आशा है अन्य प्रदेशों में भी इस प्रकार का निश्चय शीघ्र होगा।

केंद्रीय शासन ने हिंदी में तार देने की सुविधा देकर कीर्तिकर कार्य किया है, परंतु इसके क्षेत्रों का अधिकाधिक विस्तार अपेक्षित है। व्योमवाणी विभाग भी अपनी परामर्शदात्री समिति के सदस्यों के त्यागपत्र देने के बाद अब 'हिंदुस्तानी में खबरें' सुनाने के स्थान पर 'हिंदी में समाचार' सुनाने लगा है।

प्रगति बहुत धीमी, परंतु अनुकूल है। स्थिति भी अनुकूल हैं, हमारी सर्वमुख सजगता और तत्परता से ही सफलता निकटतर आएगी।

—संपादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभा की प्रगति

(श्रावण-पौष, २००६)

सभासद तथा संबद्ध संस्थाएँ

इस अवधि में सभा के १० नवीन सभासद हुए, ४ सभासद त्यागपत्र देकर पृथक् हो गए और ४ सभासदों का देहावसान हुआ। निम्नलिखित संस्थाओं ने अपना संबंध सभा से स्थापित किया—

१—ऊपरमाल हिंदी विद्यापीठ, बिजौलियां।

२—राष्ट्रीय पुस्तकालय, नवादा, चंपारन।

इस अवधि में पुस्तकालय १३८½ दिन और वाचनालय १५९½ दिन खुला रहा। पुस्तकालय में आनेवाले पाठकों की संख्या लगभग २०० प्रति दिन रही। अबतक ७९ नवीन साधारण सहायक हुए। कुछ सहायकों ने स्वयं संबंध-विच्छेद कर लिया। २१७ नवीन पुस्तकें क्रय की गईं, २६ पुस्तकें समीक्षार्थ और २५२ पुस्तकें उदार महानुभावों द्वारा भेंट में प्राप्त हुईं।

हिंदी भाषा और साहित्य की उन्नति के लिये अनुसंधानार्थ श्री विश्वनाथ मिश्र (प्रयाग), श्री चंद्रमोहन शर्मा (लखनऊ), श्री कांतिकेशी सिनहा (प्रयाग), श्रीसावित्री सिनहा (दिल्ली), डा० त्रिलोकीनाथ दीक्षित (लखनऊ) और श्रीगंगाबख्श सिंह ने पुस्तकालय का उपयोग किया।

कोश विभाग

सरकारी सहायता बंद हो जाने के कारण राजकीय कोश का कार्य १ आश्विन से बंद कर देना पड़ा। इस समय इस विभाग में मुख्यतः उत्तर-प्रदेशीय सरकार के विभिन्न विभागों में प्रयुक्त होनेवाले आकारपत्रों (फार्मों) तथा विधानों का हिंदी रूपांतर प्रस्तुत हो रहा था। जो कार्य हो चुका था एवं जो शेष था वह सब सरकार को सौंप दिया गया। आरक्षिक शब्दावली तथा स्थानिक परिषद् शब्दावली पहले ही प्रकाशित हो चुकी थीं; राजकीय कोश भी छप रहा था, किंतु संप्रति उसकी छपाई रोक दी गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशन

इस अवधि में निम्नलिखित नवीन पुस्तकें प्रकाशित हुईं—

१—रस-मीमांसा, ले० स्व० आचार्य रामचंद्र शुक्ल ।

२—नंददास-ग्रंथावली, संपादक श्री ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल० एल० बी० ।

३—सूर्य-सारिणी, संपा० डा० गोरखप्रसाद ।

लंकादहन, भारतेंदुग्रंथावली खंड ३, तथा हिंदी की गद्य शैली का विकास (परिवर्द्धित संशोधित) प्रेसों में हैं। इनके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार पूर्व-प्रकाशित पुस्तकों का पुनर्मुद्रण भी होता रहा।

ग्रंथ-निर्माण और प्रकाशन के लिये निम्नलिखित त्रैवार्षिक योजना स्वीकार की गई है—

१—आधुनिक कवि के ढंग के ग्रंथ।

२—नाट्य साहित्य के शास्त्रीय एवं विवेचनात्मक ग्रंथ।

३—अर्थशास्त्र के ग्रंथ।

४—साहित्य का इतिहास—

क—आचार्य शुक्ल के बाद वाले काल का इतिहास।

ख—नवीन शोध के अनुसार संपूर्ण इतिहास।

५—भारत का सांस्कृतिक इतिहास।

६—हिंदी भाषा का नवीन व्याकरण।

७—अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के उपन्यासों का हिंदी रूपांतर।

८—श्रेष्ठ विदेशी कहानियों का संग्रह।

९—अन्यान्य भारतीय भाषाओं के साहित्य का इतिहास।

१०—हिंदी शब्दसागर का संशोधित संस्करण।

११—संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर का संशोधित संस्करण।

१२—कनूसाइज आक्सफोर्ड डिक्शनरी का हिंदी रूपांतर।

उपर्युक्त योजना के अनुसार हिंदी साहित्य का आधुनिक इतिहास प्रस्तुत करने के लिये अधिकारी विद्वानों का निश्चय हो चुका है। नवीन हिंदी व्याकरण प्रस्तुत करने के लिये विद्वन्मंडल तथा परामर्शदात्री समिति का संगठन कर लिया गया है तथा कनूसाइज आक्सफोर्ड डिक्शनरी का हिंदी रूपांतर भी आरंभ हो गया है। इतना कार्य हो चुकने पर योजना के शेष कार्यों में हाथ लगाया जायगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसाद साहित्य-गोष्ठी तथा सुबोध व्याख्यानमाला

इसके अंतर्गत १६ श्रावण को गोस्वामी तुलसीदास की जयंती मनाई गई। ९ भाद्रपद को काशीवासियों की एक सार्वजनिक सभा आमंत्रित की गई जिसमें निम्नलिखित प्रस्ताव सर्वसंमति से स्वीकृत हुए—

"काशी-वासियों की यह सभा विधान परिषद् की प्रारूप समिति द्वारा प्रस्तुत राष्ट्र-भाषा संबंधी प्रस्ताव के इस मत से कि युक्तप्रांत में हिंदी के साथ और दूसरी भाषाएँ भी प्रांत की राजभाषा मानी जायँ, घोर विरोध करती है। प्रच्छन्न रूप से इसका अभिप्राय उर्दू का प्रवेश ही जान पड़ता है। इस सभा के मत से इस प्रांत की राजभाषा हिंदी ही हो सकती है।

"यह सभा उस प्रयत्न का भी घोर विरोध करती है जिसके द्वारा अंतर्राष्ट्रीय अंक लेखन पद्धति भारत पर लादी जा रही है। जो वर्तमान नागरी अंक हैं उन्हीं का प्रचलन यहाँ आवश्यक है।"

२२ आश्विन को श्री पद्मनारायण आचार्य का 'श्री अरविंद का संदेश—एक परिचय' विषयक व्याख्यान हुआ।

रविवार १३ कार्तिक को श्रीमन्महाराज विभूतिनारायण सिंह के सभापतित्व में राष्ट्र-भाषा दिवस मनाया गया जिसमें निम्नलिखित प्रस्ताव सर्वसंमति से स्वीकृत हुए—

"काशीवासियों की यह सभा भारतीय विधान परिषद् को, माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टंडनजी को तथा उनके अन्य सहयोगियों को हिंदी-नागरी को भारत की राजभाषा और राज-लिपि स्वीकृत किए जाने पर हार्दिक धन्यवाद और बधाई देती है।

"काशीवासियों की यह सभा विधान-परिषद् से यह आग्रह करती है कि हिंदी-नागरी को राजकाज में प्रयुक्त करने के लिये जो १५ वर्ष की अवधि निर्धारित की गई है वह अत्यधिक और अनावश्यक है अतएव उसमें अविलंब पर्याप्त कमी की जाय।

"काशीवासियों की यह सभा भारत-सरकार से यह जोरदार माँग करती है कि वह रेडियो विभाग द्वारा हिंदी के प्रति जिस विरोधी नीति का परिचय अब भी मिलता चला आ रहा है उसकी तत्काल समाप्ति की यथोचित व्यवस्था करे और हिंदी को रेडियो विभाग में यथोचित प्रतिष्ठा दी जाय।

"काशीवासियों की यह सभा हिंदी की जनता और विद्वानों से यह आग्रहपूर्ण अनुरोध करती है कि हिंदी-नागरी पर राजभाषा और राजलिपि का जो उत्तरदायित्व आया है उसकी सम्यक् पूर्ति के लिये ऐसे ग्रंथों की रचना शीघ्र करे जिनकी आवश्यकता है तथा हिंदी-नागरी की अनिर्णीत समस्याओं के ऐसे समाधान शीघ्र करे जो व्यवहारतः सर्वमान्य हो।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी साहित्य सम्मेलन की उत्तमा परीक्षा के विद्यार्थियों के लाभार्थ निम्नलिखित व्याख्यान हुए —

क्रमांक	व्याख्याता	व्याख्यान का विषय
१	श्री पद्मनारायण आचार्य	हिंदी के संत कवि
२	डा० श्रीकृष्णलाल	हिंदी का कथा-साहित्य
३	श्री ब्रजरत्नदास	हिंदी का नाट्य साहित्य
४	श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव	आदर्श और यथार्थ
५	श्री करुणापति त्रिपाठी	भाषा-विज्ञान
६	श्री डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा	हिंदी के गद्य साहित्य का विकास

हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज का कार्य संप्रति लखनऊ और बस्ती जिलों में हो रहा है। वैशाख-माघ सं० २००६ का कार्यविवरण सभा के वार्षिक विवरण में प्रकाशित होगा।

—सहायक मंत्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय ११०७२५

नंददास-ग्रंथावली

(संपादक—श्री व्रजरत्नदास, बी० ए०, एल एल० बी०)

अष्टछाप के कवियों में नंददासजी का स्थान उनकी प्रेम-भक्ति की साधना और काव्यसौष्ठव के कारण बहुत ऊँचा है। इस संग्रह में उनके समस्त उपलब्ध ग्रंथों का प्रामाणिक पाठ, आवश्यक पाद टिप्पणियों सहित दिया गया है। आरंभ में लगभग १५० पृष्ठों की विशद प्रस्तावना, अब तक हुए शोध एवं महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित सामग्री के आधार पर लिखी कवि की जीवनी तथा उनकी सगुणोपासना की विस्तृत व्याख्या के साथ उनकी प्रत्येक रचना का समीक्षात्मक परिचय दे दिया गया है। मूल्य ५)

रामचरितमानस

(संपादक—मानसमराल स्वर्गीय श्री शंभुनारायण चौबे)

गोस्वामी तुलसीदास जी के "मानस" के अब तक शताधिक विभिन्न संस्करण निकल चुके हैं, किंतु विद्वन्मंडली और भक्त संप्रदाय की मानस के शुद्धतम पाठ की आकांक्षा पूर्ति उनमें से किसी से भी पूर्ण रूप से अब तक नहीं हो पाई है। प्रस्तुत संस्करण के संपादन और पाठनिर्धारण में भागवतदास वि० सं० १७२१, सं० १७६२, छकनलाल, रघुनाथदास, बंदन पाठक, काशिराज, कोदोराम, श्रावणकुंज, राजापुर आदि की प्रतियों एवं मानस के लब्धप्रतिष्ठ ज्ञाताओं और साधकों से सहायता लेकर अत्यंत सावधानता से गोस्वामी जी की मौलिक वाणी निर्दिष्ट की है। मानस-प्रेमियों एवं मानस संबंधी शोध कार्य करनेवालों के लिये यह ग्रंथ परमोपयोगी है। इसका मूल्य ७) है।

गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय-साधना

(लेखक—श्री व्योहार राजेंद्रसिंह)

गोसाईं जी ने मानस के आरंभ में ही "नानापुराण निगमागम संमतं" कहकर अपनी जिस समन्वय-वृत्ति का उल्लेख किया है वह उनकी समस्त रचनाओं में आदि से अंत तक व्याप्त है। उसी समन्वय-परंपरा की पूरी छानबीन करके विद्वान् लेखक ने गोसाईं जी के विचारों की मीमांसा इस पुस्तक में की है। प्रसंगात् प्रारंभिक काल से लेकर मध्ययुग तक भारतीय संस्कृति, धर्म तथा साहित्य की धारावाहिक रूपरेखा भी लेखक ने अंकित कर दी है। पुस्तक दो भागों में है। मूल्य प्रति भाग ४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

110724
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रस-मीमांसा

(लेखक—स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल)

इसमें लेखक ने आधुनिक जिज्ञासा को दृष्टि में रखकर रस का विवेचन किया है। ग्रंथ में प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र और नवीन पश्चिमी मनोविज्ञान की पूरी छानबीन के साथ रस एवं भाव का निरूपण हुआ है। पंडितराज जगन्नाथ के बाद से शास्त्राभ्यासियों ने एक प्रकार से रस-मीमांसा करनी छोड़ दी थी। अतः भारतीय रीतिशास्त्र में आचार्य के इस ग्रंथ का महत्त्व स्वतः सिद्ध है। इसमें काव्य, विभाव, रस भाव, और शब्दशक्ति नामक ५ खंड हैं जिनके अंतर्गत १० अध्यायों में काव्यगत रस की सभी दृष्टियों से सम्यक् विवेचना की गई है। यह वही ग्रंथ है जिसके सैद्धांतिक मानदंड से सूर, तुलसी, जायसी आदि कवियों की विशद और हिंदी साहित्य की सामान्य स्वरूपबोधक समीक्षा आचार्य ने प्रस्तुत की है तथा जिसकी प्रतीक्षा हिंदी-जगत् बहुत दिनों से कर रहा था। यह ग्रंथ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। मूल्य ७)

सूरसागर भाग १ (सस्ता संस्करण)

(संपादक—श्री नंददुलारे वाजपेयी)

गोलोकवासी स्वर्गीय श्रीजगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा संगृहीत और प्रदत्त सामग्री के आधार पर लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की एक समिति के तत्वावधान में इस ग्रंथ का संपादन अत्यंत कठोर परिश्रम और द्रव्य व्यय करके कराया गया है। सूर-सागर का जो बृहत् संस्करण प्रकाशित हो रहा था वह वर्तमान स्थिति में अत्यधिक व्ययसाध्य होने के कारण स्थगित कर देना पड़ा। इस सस्ते संस्करण में पाठ भेद के अतिरिक्त सभी विशेषताएँ अक्षुण्ण रखी गई हैं। पाठ की शुद्धता और प्रामाणिकता की दृष्टि से यह संस्करण अब तक छपे समस्त संस्करणों में श्रेष्ठ है। यह दो भागों में पूर्ण होगा। इसके पहले भाग में २३६७ पद हैं जिसमें दशम स्कंध के अंतर्गत दानलीला तक का प्रसंग आया है। दूसरा भाग भी आधे से ऊपर छप चुका है और शेषांश छप रहा है जो शीघ्र पूरा होगा। लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का जैसा विशद और पूर्ण गान महात्मा सूरदास जी ने किया है वैसा अन्य किसी से भी अब तक नहीं बन पड़ा। भक्ति, साहित्य और संगीत की इस त्रिवेणी में अवगाहन करना प्रत्येक हिंदीप्रेमी का कर्त्तव्य है। प्रथम भाग का मूल्य १०) है।

मुद्रक—वासुदेव आर्यभूषण प्रेस, ब्रह्माघाट, बनारस सिटी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri